यास्कप्रणीतं

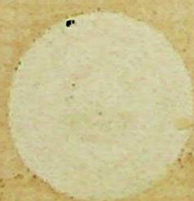
निरुक्तम्

सम्पादक

डॉ. उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि'



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी



॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

५७

यास्कप्रणीतं

निरुक्तम्

[खण्डम्-१]

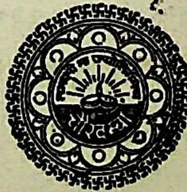
[आद्यसप्ताध्यायात्मकं राष्ट्रभाषानुवादटिप्पणी-
विशिष्टभूमिकादिभिर्वलितं च]

सम्पादकः

डॉ० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषिः'

साहित्याचार्य, एम० ए०, डी० लिट्०

रीडर, संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय (पटना)



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पो० बा० नं० ६९
वाराणसी २२१००१

चतुर्थ संस्करण १९८३
मूल्य ४०–००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १२९
वाराणसी २२१००१

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

57



NIRUKTA

OF

YĀSKA

(Critically edited with a Comprehensive Introduction, Hindi Translation, explanatory notes etc.)

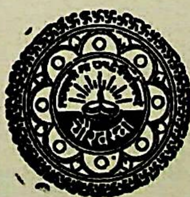
[Vol. I : Chapters 1–7]

By

Prof. Uma Shankar Sharma 'Rishi'

Sahityacharya, M. A., D. Litt.

Reader, Deptt. of Sanskrit, Patna University Patna



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)

Post Box No. 69

VARANASI 221001

Fourth Edition

1983

Also can be had of

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

(*Oriental Booksellers & Publishers*)

K. 37/117, Gopal Mandir Lane

Post Box No. 129

VARANASI 221001

मङ्गलाचरणम्

प्रणम्य पितरौ पूर्वं सर्वानाचार्यवद्गुरून् ।
निरुक्तार्थप्रकाशाय वाङ् मया व्यवसीयते ॥ १ ॥
उपकाराय साधूनामपकाराय चासताम् ।
सुव्याख्याबोधितो विद्वान्द्विविधां वृत्तिमोहते ॥ २ ॥
क्व निरुक्तसमो ग्रन्थः क्व बालो वयसा धिया ।
केवलं सच्चिदानन्दमाश्रयेऽहं सनातनम् ॥ ३ ॥
जम्बूमार्गाश्रमनिवसतो दुर्गसिंहस्य वृत्तिं
दर्शं दर्शं मनसि निखिला शान्तिरुत्पद्यते मे ।
प्राप्तं किञ्चिन्नवलविदुषां शोधकार्यादपीह
ग्रन्थेऽस्मिंस्तद्ग्रथितमिदमालोक्यतामादरेण ॥ ४ ॥

'ऋषिः'

FOREWORD

Dr. Tarapada Chowdhury

M. A., Ph. D. (Lond.),

Head of the Department of Sanskrit

Patna University.

It is a pleasure for me to write a few words regarding Shri Uma Shankar Sharma's Hindi translation of the Nirukta of Yaska. It is a word-for-word translation, and is therefore, expected to inspire the general reader and to be helpful to a research scholar in understanding the linguistic problems of the then mind. There are certain references to social and cultural matters as well Moreover, Yaska is the first interpreter of Vedic hymns.

Shri Sharma is a serious student of the Vedie literature reconciling both the eastern and the western methods of its study. I hope that his translation, if completed, will faithfully bring in his own Vernacular ample material for a study of several aspects of the Vedic age. I have also seen the outlines of his Introduction to the Nirukta which, if carefully written, will also be a treasure of the Nirukta literature.

Patna }
3-10-59 }

T. Chowdhury

तृतीय संस्करण का निवेदन

निरुक्त का प्रथम संस्करण निकले हुए १२ वर्ष हो गये। इस अवधि में निरुक्त-साहित्य पर पर्याप्त लिखा गया, अच्छे-अच्छे संस्करण प्रकाशित हुए, फिर भी पाठकों ने इसे अपना कर मेरे उत्साह के साथ-साथ प्रकाशक का उत्साह भी बढ़ाया है। इस बार पंचम-षष्ठ अध्याय भी जोड़ दिये हैं, तथा टिप्पणियाँ बढ़ा दी गयी हैं। अद्यतन अध्ययनों का पूर्ण उपयोग किया गया है किन्तु पुरानी योजना का भंग नहीं हुआ है।

संभव है, इसका द्वितीय खण्ड (८–१४ अध्याय) भी शीघ्र ही प्रकाशित हो।

—'ऋषि'

पुनश्च—आरम्भ के ३२ पृष्ठों में संशोधन न हो सकने के कारण उनमें अपेक्षित संशोधन-परिवर्तन परिशिष्ट में 'टिप्पणी' के रूप में दे दिये गये हैं। —'ऋषि'

आत्म-निवेदन

जिसके निःश्वासोपम ये, श्रुतियाँ समस्त भूतल में,
मधुमय अनन्त आभायें, भरती रहतीं प्रतिपल में।
वह जगदीश्वर, मायावी, नूतन प्रकाश का दाता,
करुणामय, दीन अंकिचन, जन का सदैव हो त्राता ॥

और हिन्दी निरुक्त ? नाम कुछ बेढंगा-सा लगता है जरूर, पर क्या करेंगे, आजकल की हवा ही ऐसी बह चली है। लीजिए, हिन्दी-ऋग्वेद, जिसका अर्थ है हिन्दी में ऋग्वेद, न कि हिन्दी का ऋग्वेद ! सो भलेमानस, अगर आपको हिन्दी का निरुक्त देखना है तो पं० किशोरीदास वाजपेयी जी की कलम की करामात देखिए। यह है हिन्दी में निरुक्त—उसके बढ़ने का नया ढंग, नई बातें और नया लेखक। बस, बन गई नई बात।

टीका का अर्थ ? 'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः'—सबों का सब कुछ हरण कर लो, चोरी करते (Plagiarism) में मत चूको और काट-छाँट (अर्थात् छेद) भी करते चलो। इसमें भी सारी दुनिया की बातें जहाँ-तहाँ से लाकर भर दी हैं, कुछ टिप्पणियाँ जोड़ दीं, थोड़ी भूमिका, और बन गई पुस्तक ! यही है इतिहास, प्रेरणा, विषय-वस्तु, विस्तार !

निरुक्त मेरे जीवन का संगी ? छात्रावस्था में इसके अनुवाद का बीजारोपण, नालंदा में गवेषणा करते हुए (घबरायें नहीं, गवेषणा का विषय बौद्ध-न्याय था, निर्देशक थे डा० सातकड़ी मुखोपाध्याय, जिन्होंने ठोंक-पीट कर मुझे विकसित करने का पूरा प्रयास किया) विस्तार तथा अब अध्यापनकाल में फल-फूल ! ज्ञान का क्रमशः विकास, स्थान और परिवर्तनों के साथ-साथ कार्य में प्रगति !!

अनुवाद का कार्य कितना कठिन है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। कहाँ विक्रम-पूर्व सप्तम शती की भाषा और कहाँ आज का युग—यही कारण है कि स्पष्टीकरण के लिए जहाँ-तहाँ सैकड़ों कोष्ठकों का प्रयोग करना पड़ा। मूल-पाठ में वैदिक-उद्धरणों के स्थान-संकेत न देकर अनुवाद में ही उसे दिया है। मेरा लक्ष्य है कि केवल अनुवाद पढ़कर ही पाठक यास्क के विचारों से परिचित हो जायें। समूची पुस्तक में सामान्य-वर्ग के पाठकों पर ही विशेष ध्यान रहा है। पाण्डित्यपूर्ण टीकायें तो बहुत-सी हैं। उनकी ओर भी जागरूकता उत्पन्न करने की चेष्टा गयी है।

जी हाँ, हिन्दी की ही चीज हो गई। हमारे गौरवौद्‌गारी गुरु बेतरह नाराज हैं। मूल-पाठ में सन्धियों को तोड़ दिया है, विराम-चिह्नों का अत्यधिक प्रयोग किया है—निरुक्त का पाठ ही आधुनिक वेश-भूषा में सुसज्जित हो गया है। आप की इच्छा है तो सन्धि मिलाकर ही पढ़ें, समझें और समझायें !! यह काम आसान है अपेक्षाकृत उसके कि सुश्लिष्ट, सन्धिबद्ध पदों को तोड़ा जाय (आप 'दमा-दमन' और 'दमाद-मन' की कथा जान ही रहे होंगे)।

जहाँ-तहाँ टिप्पणियाँ दी हैं जिनमें बहुत धृष्टता दिखाकर कितने लोगों के विचारों का खण्डन किया है। उनमें मूल की व्याख्या कम ही पायेंगे। उसके लिए भूमिका का तृतीय-परिच्छेद अवलोकनीय है। भूमिका नालन्दा में लिखी गई थी, वहाँ के पुस्तकालय में प्राप्त सारी सामग्रियों का उपयोग किया गया है—इसमें सन्देह नहीं। उसके वाद सबसे बड़े पुस्तकालय डा० सातकड़ी मुखोपाध्याय (डिरेक्टर, नवनालन्दा महाविहार) के अप्रतिम ज्ञान का मैं ऐसा ऋणी हूँ कि कई जन्मों तक भी उनसे उऋण होने को नहीं।

निघण्टु का मूल-पाठ एवं वैदिक-मंत्रों का पद्यानुवाद भी साथ में लगा दिया है। पद्यानुवाद तो सीमित अक्षरों में होता है, उसकी कठिनाई क्या कहें, भाषा की रक्षा होती नहीं, यही समझ लें कि अनुवाद भर हो जाता है। इससे भी अच्छा अनुवाद हो सकता था पर किशोरावस्था में किये गये अनुवादों पर कलम चलाने का साहस नहीं हुआ, ज्यों का त्यों दे दिया।

'बन्दौ प्रथम असज्जन चरना'—यद्यपि पद-पद पर असज्जन मिलते रहते हैं, किन्तु इस कार्य में व्याघात डालनेवालों का क्या कहना ? उन्हें दूर से ही प्रणाम कर विराम लेता हूँ !

इसमें प्रोत्साहन देनेवालों की भी कमी नहीं। सर्वप्रथम मैं सुगृहीत नामधेय हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य नलिनविलोचन शर्मा जी का नाम लूँ जिन्होंने मेरी कृतियों पर मुझे बधाई दी है तथा निरुक्त के कार्य में भी आशीर्वचन व्यक्त किये हैं। डा० बेचन झा का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं जो जहाँ-तहाँ मेरा परिचय देते समय मेरे निरुक्त एवं विशेषतया इसकी भूमिका-सम्पत्ति की चर्चा कर दिया करते हैं।

यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया तथा प्रकाशक महोदय का वरद कर साथ रहा तो शीघ्रातिशीघ्र संस्कृत की अन्यान्य कृतियों का भी हिन्दी-रूपान्तर (व्याख्या के साथ) उपस्थित करने में कुछ भी कसर नहीं रहेगी।

पोन्दिल (गया)
वैशाखीपूर्णिमा २०१८

—'ऋषि'

विषय-सूची



भूमिका की विस्तृत सूची

भूमिका

प्रथम परिच्छेद

भारतीय वाङ्मय और वैदिक साहित्य

[वेद, संसार का प्रथम साहित्य—उनकी महत्ता—विभाजन—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्—संहिताओं का संक्षिप्त वर्णन—उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणादि की गणना—वेदाङ्ग—शिक्षा-कल्प-व्याकरण-छन्द-ज्योतिष-निरुक्त—अन्य वेदाङ्गों से भिन्नता।]

किसी देश की संस्कृति का पूरा ज्ञान हम उसके साहित्य से ही कर सकते हैं। जिस देश का साहित्य जितना प्रौढ़, गम्भीर और विस्तृत होता है उसकी संस्कृति भी उतनी ही उच्च मानी जाती है। साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है अर्थात् साहित्य द्वारा हम किसी जाति की सभ्यता, संस्कृति, सम्पत्ति, उदारता आदि का सम्यक् ज्ञान पा सकते हैं। भारतवर्ष की जो प्रतिष्ठा आज विश्व में है अधिकांशतः वह उसके प्राचीन साहित्य पर ही अवलम्बित है। प्रायः सबों ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है कि संसार का सर्वप्रथम साहित्य भारत में ही वेदों के रूप में अवतीर्ण हुआ।[1]

वेदों पर भारतवर्ष को गौरव है। ऋषियों ने उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिए सैकड़ों वर्ष तक उन्हें मौखिक रूप में रखा, प्रत्येक कर्म में उनका पाठ अनिवार्य हो गया तथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' का स्वरोद्घोष भी किया गया। पीछे का समस्त भारतीय वाङ्मय किसी-न-किसी रूप में वैदिक-साहित्य का ऋणी है। धर्म, दर्शन, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों की उत्पत्ति के लिए हम वैदिक-साहित्य का ही आलोडन करते हैं। वेदों का अर्थ ही है ज्ञान का समूह (√ विद्=ज्ञान)। आज वेदों का अध्ययन विद्वान् लोग न केवल धर्म-कर्म आदि के ज्ञान के लिए करते हैं प्रत्युत उनके आधार पर प्राचीन-सभ्यता, आर्यों की मूल भाषा, मानव का इतिहास आदि विषयों का भी पता लगाते हैं।

यद्यपि वेदों से 'मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिर्वेदः' (आप० परि० ३१) के अनुसार केवल मन्त्रभाग और ब्राह्मण-भाग का ही ग्रहण प्राचीन आचार्यों ने किया है किन्तु उनका यह लक्षण केवल कर्मकाण्ड तक ही सीमित था, अतएव पाश्चात्य

---

१. मोहन-जो-दरो की अपठित शिलालिपि (सिन्ध, ४५०० ई० पू०) तथा बोघाज-कोई की हित्ताइत शिलालिपि (तुर्की, १४०० ई० पू०) को लोग वेदों से पूर्व मानते हैं। वेदों का काल—१२०० ई० पू० (मैक्समूलर), २००० ई० पू० (विन्तरनित्स), ४५०० ई० पू० (तिलक तथा जेकोबी) और २५००० ई० पू० (अविनाश चन्द्र दास) तक मानते हैं।

गवेषकों ने भाषा के आधार पर वैदिक और लौकिक संस्कृत का भेद देखकर वैदिक भाषा में लिखे गये समस्त साहित्य को 'वैदिक' नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार वे वैदिक-साहित्य को चार खण्डों में (भाषा के अनुसार कालों में) बाँटते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता-भाग में मन्त्रों का संग्रहमात्र है और ये सबसे अधिक प्राचीन हैं। ब्राह्मण भाग मन्त्रों का याज्ञिक उपयोग बतलाता है; यह अधिकांशतः गद्य में है। आरण्यकों और उपनिषदों में दार्शनिक भावना उद्भूत हुई है, इनमें ऋषियों के ईश्वर, संसार और जीव-सम्बन्धी आध्यात्मिक विचारों का गद्य-पद्यात्मक वर्णन है।

संहिता-भाग के भी चार खण्ड हैं—ऋक् यजुः, साम और अथर्व जिनमें प्रत्येक से सम्बद्ध ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् अलग-अलग हैं। उस समय तक लेखन-कला का आविष्कार न होने के कारण इन्हें कण्ठस्थ ही रखा गया और विभिन्न कुलों में भिन्न-भिन्न रूप से पाठ होने के कारण इनकी कई शाखायें हो गईं। फिर भी प्रत्येक शाखा के अपने-अपने ब्राह्मणादि निश्चित थे। कालान्तर में बहुत-सी शाखायें लुप्त हो गईं। पतञ्जलि ने ऋग्वेद की २१, सामदेव की १०००, यजुर्वेद की १०१ और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है।[1] इनमें प्रत्येक शाखा स्वतन्त्र रूप से वेद है।

ऋग्वेद में ऋचाओं का संग्रह है तथा समस्त वैदिक साहित्य में यह सबसे बड़ा है। इसकी केवल एक शाकल-शाखा ही इस समय उपलब्ध है। अन्य सभी वेदों में इसके मन्त्र संगृहीत हैं। ऋग्वेद के विभाजन की दो प्रणाली हैं—अष्टक-अध्याय-वर्ग तथा मण्डल-सूक्त-अनुवाक। तदनुसार यह आठ अष्टकों या दस मण्डलों में विभक्त है। पिछला विभाजन ऐतिहासिक है, अतएव सभी आधुनिक विद्वान् ऋग्वेद के उद्धरण देते समय इसी प्रणाली का आश्रय लेते हैं। ऋग्वेद के प्रथम तथा दशम मण्डल अर्वाचीन हैं जिसे भाषा, देवता आदि के आधार पर सिद्ध किया जाता है। केवल ७५ मन्त्रों को छोड़कर सामवेद-संहिता के सभी मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं जिनमें अधिकांश नवम-मण्डल (सोमविषयक) के हैं। सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं, जिनमें सभी मन्त्र संगीत के योग्य हैं। साम-गान में सात स्वरों का उपयोग होता है। यजुर्वेद के दो भेद हैं—शुक्ल एवं कृष्ण। शुक्ल-यजुर्वेद में केवल मन्त्रों का संग्रह है, विनियोग-वाक्यों का नहीं। इसकी संहिता वाजसनेयी-संहिता कहलाती है (४० अध्याय) जिसकी दो प्रधान शाखायें—माध्यन्दिन (उत्तर भारत) और काण्व (दक्षिण) हैं। कृष्ण-यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ विनियोग-वाक्य भी हैं। इसकी चार शाखायें प्राप्त हैं—तैत्तिरीय (अष्टक-प्रश्न-अनुवाक में विभक्त), मैत्रायणी, काठक तथा कठ-कापिष्ठल संहितायें। दोनों यजुर्वेद प्रायः गद्य में हैं जो वैदिक साहित्य का प्रथम गद्य है। अथर्ववेद में अभिचार

---

१. महाभाष्य—पृष्ठ ७१ (बम्बई)—एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाऽऽथर्वणो वेदः।

मन्त्र (मारण, मोहन आदि) संगृहीत हैं तथा यह बीस काण्डों में विभक्त हैं, जिनके भीतर क्रमशः प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त और मन्त्र सन्निविष्ट हैं। इसके बारह सौ मन्त्र ऋग्वेद से लिये हुए हैं।

इनमें प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं जिनकी गणना इस प्रकार हो सकती है[1]—

संहिता	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
१. ऋग्वेद	१ एतरेय २ कौषीतकि	१ ऐतरेय २ शाङ्खायन	१ ऐतरेय २ कौषीतकि
२. सामवेद	१ ताण्डच (पञ्चविंश) २ तवलकार ३ आर्षेय आदि	१ तवलकार २ छान्दोग्य	१ केन २ छान्दोग्य
३. शुक्ल यजुर्वेद	१ शतपथ (१०० अध्याय)	१ बृहदारण्यक	१ बृहदारण्यक २ ईश(संहितामें)
४. कृष्ण यजुर्वेद	१ तैत्तिरीय २–३ मैत्रायणी और काठक (संहिता में)	१ तैत्तिरीय २ मैत्रायणी	१ तैत्तिरीय २ मैत्री ३ श्वेताश्वतर ४ कठ
५. अथर्ववेद	१. गोपथ		१ प्रश्न (पैप्प.शाखा) २ मुण्डक(शौनक,,) ३ माण्डूक्य

अभी तक अनेक ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं हुए हैं तथापि इस विपुलकाय साहित्य को देखकर हमें उस समय के ज्ञान एवं परिश्रम पर आश्चर्य करना पड़ता है। इन सबों को ठीक-ठीक समझने एवं तदनुसार कार्य-कलाप का संचालन करने के लिए वेदाङ्ग-ग्रन्थों की आवश्यकता होती है जो शरीर के अङ्गों के समान ही वेद के अनिवार्य भाग हैं। ये अङ्ग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त। इन सबों का विभाजन पाणिनि-शिक्षा (४१–४२) में इस प्रकार है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ४१ ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४२ ॥

---

१. इन सब ग्रन्थों के विस्तृत-विवेचन के लिए देखें—प्रो० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति अथवा भगवद्दत्त, वैदिक-वाङ्मय का इतिहास। इस स्थान पर तो सभी ग्रन्थों की गणना भी असम्भव है।

(१) **शिक्षा**—स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण का नियम बतलाने वाली विद्या ही शिक्षा है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीनों स्वरों के उच्चारण किस प्रकार से हों, इसे बतलाना ही शिक्षा का प्रधान कार्य है। स्वरों के अल्पभेद से ही बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं जैसा कि हम इन्द्रशत्रु के वृत्तान्त से जानते हैं।[१] शिक्षा का अध्ययन एक प्रकार से आधुनिक ध्वनिविज्ञान (Phonology) का अध्ययन है जिसमें उच्चारण के स्थान, वर्ण, स्वर, मात्रा (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत), शुद्ध उच्चारण के नियम तथा सन्धि का अध्ययन होता है। उच्चारण के लिए पाणिनि-शिक्षा कहती है कि जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चों को दाँत से पकड़ती है, न तो दाँत ही गड़ते हैं और न तो गिरने का ही डर है—सन्तुलन से उसी प्रकार अक्षरों का उच्चारण करें।[२] उस काल में ध्वनि विज्ञान की इस प्रकार की उन्नति किसे चकित नहीं करती ? शिक्षा के प्राचीनतम ग्रन्थ प्रातिशाख्य के रूप में मिलते हैं जो सभी वेदों के भिन्न-भिन्न हैं जैसे—शौनक का ऋक्प्रातिशाख्य, कात्यायन का शुक्लयजुः-प्रातिशाक्य, सामवेद का पुष्पसूत्र, तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य तथा अथर्व-प्रातिशाख्य आदि। इन सबों में सूत्र के रूप में उपर्युक्त विषय समझाये गये हैं। शिक्षा-ग्रन्थों में पाणिनि तथा याज्ञवल्क्य की शिक्षायें बहुत प्रसिद्ध है जो श्लोकबद्ध है।[३]

(२) कल्प—वैदिक कर्मकाण्ड का विस्तार देखकर उसे सूत्रबद्ध करने की इच्छा से ही कल्प का आविर्भाव हुआ, जिन्हें हम कल्पसूत्र कहते हैं। इसका अर्थ है—वेद में विहित कर्मों को क्रमशः व्यवस्थित कल्पना करनेवाला शास्त्र।[४]

---

१. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पा० शि० ५२)
शुक्राचार्य वृत्रासुर को इन्द्र-नाश के लिए यज्ञ करा रहे थे। उन्होंने मन्त्र पढ़ा—इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व स्वाहा। उनका अभिप्राय था कि हे इन्द्र के नाशक (शत्रु)! तुम उत्पन्न हो, बढ़ो। ऐसी दशा में तत्पुरुष-समास (अन्त का अक्षर उदात्त) होता, किन्तु भ्रमवश उन्होंने पूर्व पद के अनुसार स्वर रख दिया जो बहुव्रीहि समास में होता है। फलतः अर्थ हुआ—इन्द्र शत्रु (नाशक) हैं जिसके, इस तरह वृत्र ही मारा गया। स्वर के लिए देखें—पा० सू० 'समासस्य' (६।१।२२३), 'बहुव्रीहौ प्रकृत्य पूर्वपदम्' (६।२।१)।

२. व्याघ्री यथा हरेद्धत्सं दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान्प्रयोजयेत्॥ २५॥

३. उच्चारण का विश्लेषण करने के लिए आधुनिक-युग में यन्त्र बन गये हैं किन्तु उस युग में इनके अभाव में भी शिक्षाकारों ने वर्णों के स्थान और यत्न जान लिये थे जो आज भी प्रायः मान्य हैं। देखें—Dr. Siddheshwar Varma, Phonetic Observation of Ancient Hindus—या Allen, Phonetics in Ancient India (Oxford University Press).

४. विष्णुमित्र—ऋक्प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३—कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।

शिक्षा की भाँति ही ये प्रत्येक वेद और शाखा के लिए अलग-अलग हैं। ये तीन प्रकार के हैं–(क) श्रौत-सूत्र जिनमें श्रुति-प्रतिपादित दर्शपूर्णमास आदि विविध यज्ञों का विधान किया गया है। वस्तुतः कल्पसूत्रों के ये ही पुष्ट अङ्ग हैं। (ख) गृह्य-सूत्र जिनमें गृह्याग्नि में होनेवाले यज्ञों तथा विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का वर्णन है। (ग) धर्मसूत्र जिनमें चारों वर्णों तथा आश्रमों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं। मनु आदि की स्मृतियों के ये ही स्रोत हैं तथा हिन्दुओं के कानून भी ये ही हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत और गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन तथा शाङ्खायन। एक कौषीतकि गृह्य-सूत्र भी प्रकाशित है किन्तु श्रौतसूत्र प्राप्त नहीं हुआ है। शुक्ल-यजुर्वेद के कात्यायन-श्रौतसूत्र तथा पारस्कर-गृह्यसूत्र प्रसिद्ध हैं। कृष्ण-यजुर्वेद से सम्बद्ध कल्पसूत्र हैं—बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, वैखानस, भारद्वाज तथा मानव। इनमें अधिकांश प्राप्त हैं। सामवेद के कल्पसूत्र हैं—आर्षेय-कल्पसूत्र; लाट्यायन, द्राह्या-यण तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र; गोभिल, खदिर तथा जैमिनीय-गृह्यसूत्र। अथर्ववेद के वैतान-श्रौतसूत्र तथा कौशिक-गृह्यसूत्र मिले हैं। धर्मसूत्रों में गौतम (साम); बौधायन, आपस्तम्व, हिरण्यकेशी (कृष्ण यजुः); वसिष्ठ और विष्णु (ऋग्) उल्लेखनीय हैं। कल्प का एक चौथा प्रकार शुल्वसूत्र हैं जिसमें यज्ञवेदिका का निर्माण-प्रकार वर्णित हैं जिसका रेखागणित से पूरा सम्बन्ध है।[1]

(३) व्याकरण—वैदिक साहित्य में आनेवाले शब्दों का निर्माण, उनकी शुद्धता आदि का अध्ययन प्रकृति और प्रत्यय के सम्बन्ध द्वारा व्याकरण ही करता है। व्याकरण का निर्देश तो ऋग्वेद-काल से ही मिलने लगता है किन्तु तैत्तिरीय-संहिता (६।४।७।३) में व्याकरण की उत्पत्ति की कथा दी हुई है। इन्द्र के द्वारा वाणी व्याकृत (प्रकृति-प्रत्यय-विच्छिन्न) हुई, अतएव इन्द्र ही आदि वैया-करण हैं। व्याकरण के कई पारिभाषिक शब्द हमें गोपथ-ब्राह्मण (१।२४) में भी मिलते हैं। इस प्रकार के छिटपुट व्याकरण यास्क के निरुक्तकाल तक लिखे गये। व्याकरण के प्रथम परिपूर्ण आचार्य पाणिनि ने ही दस प्राचीन आचार्यों के नाम गिनाये हैं जिसमें कितने तो यास्क से भी प्राचीन हैं। पाणिनि (समय ५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी के द्वारा तात्कालिक भाषा को संयत किया। स्थान-स्थान पर वैदिक व्याकरण के विषय में भी कुछ संकेत किया किन्तु वह संकेतमात्र था। वस्तुतः वैदिक भाषा का सर्वांगीर्ण व्याकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। पाणिनि के अलावे दूसरे प्रकार के कई वैयाकरण हुए हैं किन्तु इनके नियमों से आगे बढ़कर लिखनेवाला कोई नहीं हुआ। पाणिनि (अष्टाध्यायी), कात्यायन (वार्तिक) तथा पतञ्जलि (महाभाष्य)—इन तीनों को मिलाकर 'त्रिमुनि'-व्याकरण कहते हैं और इन आचार्यों की प्रामाणि-

१. धर्मसूत्रों के वर्णन के लिए देखें—Prof. P. V. Kane. History of Dharma Shastra, Vol I, Pp' 12–79. सूत्र-साहित्य का अध्ययन सन्तोष-जनक नहीं हुआ है। लेखक इसका विस्तृत इतिहास लिख रहा है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

कता भी उत्तरोत्तर अधिक है। इन्हें ही लेकर काशिका, कौमुदी आदि पीछे के ग्रन्थ लिखे गये।[१]

(४) छन्द—वेद के मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वैदिक-संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है। मुख्य छन्दों के नाम तो हमें संहिताओं और ब्राह्मणों में ही मिलने लगते हैं, जिससे इस अङ्ग की प्राचीनता सिद्ध होती है, किन्तु इसका प्रतिनिधि-ग्रन्थ है पिङ्गलाचार्यकृत छन्दःसूत्र, जिसके प्रथम चार अध्यायों में वैदिक-छन्दों का वर्णन है। छन्द का अर्थ है आवरण अर्थात् जो शब्दों का आवरण हो। पीछे सामान्य-रूप से वेदों के लिए 'छन्द'-शब्द का प्रयोग होने लगा जैसा कि पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में 'बहुलं छन्दसि' का प्रयोग करते हैं। चूँकि वैदिक-छन्दों में सामान्य-नियम का अभाव है इसलिए व्याकरण के अनियमित तथा असंगत प्रयोगों को छान्दस अथवा आर्ष-प्रयोग कहते हैं। गुरु-लघु की गणना से रहित, केवल अक्षरों की गणना पर ही वैदिक छन्द आधारित हैं। यास्क ने सप्तम अध्याय में छन्दों का निर्वचन किया है। ये प्रधान वैदिक-छन्द हैं—गायत्री (८+८+८ अक्षर) उष्णिक् (८+८+१२), अनुष्टुप् (८ अक्षरों के चार चरण), बृहती (८+८+१२+८), पंक्ति (८ अक्षरों के पाँच पाद), त्रिष्टुप् (११ अक्षरों के चार पाद) तथा जगती (१२ अक्षरों के चार पाद)। इन छन्दों से ही कतिपय लौकिक छन्दों का विकास हुआ।[२]

(५) ज्योतिष—यज्ञ के सम्पादन करने का विशिष्ट समय जानने के लिए ज्योतिष की नितान्त आवश्यकता है। दिन, रात, ऋतु, मास, नक्षत्र, वर्ष आदि का ज्ञान बिना ज्योतिष के हो ही नहीं सकता। यह जीवन से इतना सम्बन्ध है कि अनजाने ही हम 'रात' 'दिन'—जैसे ज्योतिष के ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। वैदिक संहिताओं में ही काल के अनेक विभागों का वर्णन उपलब्ध होता है।[३] ऋतुओं के नाम से वर्ष का बोध होता था जैसे—शरदः शतम् = सौ शरद् तक (सौ वर्ष तक)। यहाँ तक कि हमारा सुपरिचित 'वर्ष' भी वर्षा ऋतु के नाम पर ही बना है। वेदाङ्ग ज्योतिष नाम का ग्रन्थ ही इसका प्रतिनिधित्व करता है, जो ऋग्वेद और यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें श्लोकों में तात्कालिक ज्योतिष-विद्या का वर्णन है। पीछे के ग्रन्थ भी ज्योतिर्विद्या के अमूल्य रत्न हैं जैसे—आर्यभट्टीय,

---

१. व्याकरण-शास्त्र के विभिन्न आचार्यों तथा ग्रन्थों से परिचय के लिये देखें—Dr. S. K. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar तथा युधिष्ठिर मीमांसक, व्याकरण-शास्त्र का इतिहास (भाग–१ तथा २)।

२. अभी तक छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ बहुत कम मिले हैं तथा अध्ययन भी नहीं। केवल आर्नल्ड ने 'वैदिक छन्द' (Vedic Metre) नामक ग्रन्थ लिखा है।

३. तुलना करें—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत' (तै० ब्रा० १।१।१) तथा 'प्रातः जुहोति, सायं जुहोति' (२।१।२)।

सूर्यसिद्धान्त आदि। ज्योतिष का ही एक अङ्ग गणित है जिसे पूर्वकाल में बहुत ही समृद्ध किया गया था।[१]

(६) निरुक्त—वेदाङ्गों में चौथा स्थान पाने पर भी निरुक्त अपनी कई विशेषतायें रखता है। इसमें मुख्यतया वैदिक शब्दों के अर्थ जानने की प्रक्रिया बतलाई जाती है, जैसा कि सायण ने इसका लक्षण अपने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में किया है—'अर्थज्ञान के लिए स्वतंत्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है वही निरुक्त है।'[१] अर्थ चूँकि शब्द के अन्तरङ्ग से सम्बन्ध रखता है अतएव यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि अन्य वेदाङ्ग जहाँ वेद के बहिरंग से ही सम्बन्ध रखते हैं, निरुक्त उसके अन्तरंग से सम्बन्ध है। अन्य वेदाङ्ग प्रायः सूत्रों में हैं, किन्तु निरुक्त भाष्यशैली के गद्य में है, जिसमें अर्थावगम में बड़ी सहायता मिलती है। निरुक्त स्वयं निघण्टु-नामक वैदिक-कोश का भाष्य है तथा यास्क का लिखा हुआ है। निघण्टु में शब्द केवल गिना दिये गये हैं जो प्रायः अमरकोश की शैली में हैं। इन्हीं शब्दों पर यास्क ने अपना विशेष ध्यान रखा है तथा उनके अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की है। अर्थज्ञान के लिए वे उस शब्द से सम्बद्ध धातु तथा उसके अर्थ का आश्रय लेते हैं। यही निरुक्त की आधार-शिला है। निघण्टु के पाँच अध्यायों की व्याख्या यास्क ने बारह अध्यायों में की है तथा पीछे दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं। अन्य वेदाङ्ग जिस प्रकार प्रत्येक वैदिक-शाखा के अलग-अलग हैं, उसी प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि निरुक्त भी अलग-अलग होंगे। प्रस्तुत निरुक्त किस वेद का है—इस प्रश्न की विवेचना हम यथास्थान करेंगे।

———

१. विशेष अनुशीलन के लिए देखें—नेमिचन्द्र शास्त्री, 'भारतीय-ज्योतिष' भूमिका तथा 'भारतीय ज्योतिष-शास्त्र का इतिहास'—उत्तर-प्रदेश का प्रकाशन।

२. अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।

द्वितीय परिच्छेद

निघण्टु तथा निरुक्त

[निघण्टु, वैदिक शब्दों का संग्रह—निरुक्त उसी का भाष्य—निघण्टु और निरुक्त का विभाजन—नैघण्टुक-काण्ड—पर्याय शब्दों का संग्रह—नैगम-काण्ड—कठिन शब्दों का संग्रह—दैवत-काण्ड—देवताओं के नामों का संग्रह—निरुक्त का परिचय —शैली—विचित्र शब्दों का प्रयोग—निघण्टु अनेक थे—उनका लक्षण—वर्तमान निघण्टु का रचयिता—निघण्टु और निरुक्त के रचयिता एक ही व्यक्ति नहीं थे—विरोधी तर्क और खण्डन—निष्कर्ष ।]

ऊपर कहा जा चुका है कि निरुक्त में यास्क ने निघण्टु में गिनाये गये वैदिक शब्दों की व्याख्या की है। इस दृष्टि से निघण्टु बहुत महत्त्वपूर्ण है। डॉ० लक्ष्मण सरूप निघण्टु के विषय में कहते हैं कि 'निघण्टु की रचना कोश-रचना के अभी तक के सभी ज्ञात प्रयासों में प्रथम है, भारत में तो यह कोश-साहित्य के आरम्भ का ही द्योतक है।'[१] साहित्य में जितने बिखरे हुए शब्द हैं उन्हें एकत्र करके एक नियम से सजा देना उस प्राचीन-काल के लिये नई ही वस्तु थी। यह सत्य है कि निघण्टु वैदिक शब्दों का पूर्ण कोश नहीं है, इनमें किसी भी वेद के सारे शब्द गिनाये नहीं गये, तथापि कोश-रचना के तात्कालिक सिद्धान्त को देखने पर उसे पूर्ण ही कहना पड़ेगा।

जिस निघण्टु पर यास्क ने भाष्य की रचना की है वह पाँच अध्यायों में बँटा है। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक-काण्ड कहलाते हैं और इनके शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में की है। निघण्टु के इन अध्यायों में कुल १३४० शब्द परिगणित हैं जिनमें केवल २३० शब्दों की ही व्याख्या यास्क ने इन अध्यायों में की है। इन १३४० शब्दों में पर्यायवाची शब्द संगृहीत हैं जैसे—पृथिवी के २१ पर्याय-शब्द, ११ 'जलना' अर्थवाली क्रियायें, १२ 'बहुत' के पर्याय आदि। इसकी रचना ठीक अमर-कोश की शैली में ही हुई है। यद्यपि इनमें कई शब्द वैदिक साहित्य भर में नहीं आये हैं किन्तु वैदिक वाङ्मय का अधिकांश विनष्ट हो जाने के कारण हम ऐसा नहीं कह सकते। तथापि यह कहने में कोई आपत्ति नहीं कि कितने शब्द ऐसे भी हैं जो निघण्टु में जिस अर्थ में गिनाये गये हैं, वेदों में उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। यही कारण है कि अब कट्टर पण्डितों को भी निघण्टु की प्रामाणिकता में सन्देह होने लगा है। प्रो० राजवाड़े[२] ने आलोचनात्मक दृष्टि से निघण्टु पर विचार करते हुए

---

१. The Nighantu and the Nirukta, P. 14.

२. Yaska's Nirukta, P. 205.

लिखा है कि तीनों अध्यायों में कई उत्तर-वैदिक शब्द हैं। इनकी गणना भी उन्होंने करा दी है। इन अध्यायों में प्रायः सुबन्त-शब्द प्रथमा एकवचन में तथा क्रिया-पद वर्तमानकाल के प्रथमपुरुष एकवचन में निर्दिष्ट हैं।

निघण्टु के चतुर्थ-अध्याय में तीन खण्ड हैं जिनमें क्रमशः ६२, ८४ तथा १३२ पद—अर्थात् कुल २७८ पद हैं। ये किसी के पर्याय नहीं, सभी शब्द स्वतन्त्र हैं। तीनों खण्डों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में की है। इस अध्याय को नैगम या ऐकपदिक-काण्ड भी कहते हैं। इस काण्ड के शब्द प्रायः सन्दिग्ध और कठिन हैं। डा० बेलवलर कहते हैं—'निघण्टु नामक वैदिक-शब्दों की सूची के चतुर्थ अध्याय को, जिस पर यास्क ने निरुक्त नाम की व्याख्या लिखी है, ऐकपदिक कहते हैं क्योंकि इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध मूलवाले २७८ शब्द गिनाये गये हैं।'[१] इस काण्ड की व्याख्या आरम्भ करते हुए यास्क भी कहते हैं—'अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्यामः। अवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तद् 'ऐकपदिकम्' इत्याचक्षते' (नि० ४।१)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि ये नाम स्वतन्त्र हैं तथा अनेक अर्थ धारण करते हैं, स्वयं किसी के पर्याय नहीं। किन्तु साथ ही साथ इसकी बनावट का पता लगाना भी कठिन है, इसीलिये इन्हें ऐकपदिक-निगम (उदाहरण या प्रयोग) कहते हैं। इस काण्ड के शब्द भिन्न-भिन्न रूपों और विभक्तियों में हैं। राजवाड़े के अनुसार एक 'वृन्दं' को छोड़कर इस अध्याय के सभी शब्द वैदिक हैं।

निघण्टु का पञ्चम या अन्तिम अध्याय दैवत-काण्ड के नाम से विख्यात है। इनके छः खण्डों में क्रमशः ३, १३, ३६, ३२, ३६, तथा ३१ पद हैं जो भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम हैं। ये भी पर्याय नहीं, स्वतन्त्र हैं, किन्तु इनमें विशेषता यही है कि इन नामों के द्वारा देवताओं की स्तुति प्रधानतया की जाती है।[२] इन खण्डों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने निरुक्त के सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक की है। एक-एक खण्ड की व्याख्या एक-एक अध्याय में हुई है। चूँकि इन अध्यायों में यास्क को पर्याप्त स्थान मिला है अतएव देवताओं के विषय में यास्क ने पूर्ण प्रकाश डाला है। निघण्टु की व्याख्या यद्यपि बारहवें अध्याय में समाप्त हो जाती है किन्तु बाद के किसी लेखक ने इनमें दो अध्याय परिशिष्ट के रूप में जोड़कर कुल चौदह अध्याय बना दिये हैं। दैवत-काण्ड के इस परिशिष्ट में देवताओं और यज्ञों के विषय में लिखा है तथा प्रसंगतः कतिपय दार्शनिक विषयों का भी विवेचन है। इसकी शैली भी निरुक्त से बिलकुल मिलती-जुलती है। इस दैवतकाण्ड पर ही वैदिक धर्म और संस्कृति का इतिहास अव-

---

१. गुरुमण्डल-ग्रन्थमाला में प्रकाशित निरुक्त भाग १, पृ० ४७ पर उद्धृत अंग्रेजी सन्दर्भ का हिन्दी-अनुवाद।

२. तुल० तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते (नि० ७।१)

लम्बित है क्योंकि वैदिक-देवतावाद पर आलोचनात्मक-दृष्टि से विचार करने वाला कोई भी ग्रन्थ निरुक्त से प्राचीन नहीं। यहीं हम किसी जाति की अपने धर्म के विषय में चिन्तन की प्रथम किरणें पाते हैं।

यास्क ने निरुक्त में निघण्टु के सभी शब्दों की व्याख्या नहीं की है—यह ऊपर की उक्ति से स्पष्ट है। पर्यायवाची शब्दों वाले अध्यायों में तो पूरे पर्याय के समूह (जैसे 'उदक' के १०० नामों) में से केवल किसी एक (जैसे 'उदक') शब्द की व्याख्या करके ही आगे बढ़ जाते हैं। फिर भी यह तथ्य है कि केवल निघण्टु के शब्दों का ही निर्वचन उन्होंने नहीं किया, प्रसङ्गतः आये हुए कितने ही अन्य शब्दों का भी निर्वचन किया है, जिनमें बहुत-से संस्कृत भाषा (वैदिक नहीं) के भी शब्द हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा[1] की गणना के अनुसार निरुक्त में कुल १२९८ निर्वचन हैं। जहाँ से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या आरम्भ होती है उसके पूर्व यास्क ने अपने शास्त्र में प्रवेश करनेवालों के लिये बहुत ही विस्तृत भूमिका लिखी है। निघण्टु के प्रथम शब्द 'गो' की व्याख्या निरुक्त में द्वितीय अध्याय के द्वितीय-पाद से आरम्भ होती है। तब तक का अंश अर्थात् पूरा प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद केवल भूमिका ही है जिसमें पद के भेद, शब्दों का धातुज-सिद्धान्त, निरुक्त की उपयोगिता, निर्वचन के नियम आदि विभिन्न उपयुक्त विषयों पर विचार किया गया है। यही दशा दैवत-काण्ड के आरम्भ में भी है। वैदिक देवताओं के नामों का निर्वचन करने के पूर्व यास्क सप्तम अध्याय में भूमिका के रूप में देवताओं के स्वरूप, भेद, स्वभाव आदि का विश्लेषण कर लेते हैं। भाष्य की भूमिका लिखने की इसी प्रणाली का अनुसरण पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है (देखें—पस्पशाह्निक)।

हम यहाँ संक्षेप में निरुक्त की शैली पर विचार करें। निघण्टु के किसी शब्द को लेकर यास्क तुरन्त उसकी निरुक्ति करते हैं। जैसे—'नद्यः कस्मात् ? नदना: भवन्ति = शब्दवत्यः।' 'नदी' किस धातु से बना और क्यों उसे नदी ही कहते हैं ? उत्तर है—'नद्' धातु से, जिसका अर्थ है 'शब्द करना', 'नदी' बना है क्योंकि नदियाँ जोरों की आवाज करती हैं।[2] अब यास्क ऐसे शब्दों का प्रयोग दिखलाने के लिए या तो सीधे ही किसी का उद्धरण दे देंगे अथवा उसकी भूमिका बाँधते हुए इतिहास आदि का आश्रय लेंगे तब ऋचा का उद्धरण देंगे। कभी-कभी उस शब्द का केवल निर्वचन करके भी आगे बढ़ जाते हैं। अस्तु, ऋचा का उद्धरण देने के बाद उसका अन्वय किये बिना ही एक-एक शब्द का प्रतिशब्द सरल संस्कृत में देते हैं। बीच-बीच में शब्दों का निर्वचन करने के लिए रुक भी जाते हैं। प्रतिशब्द-व्याख्या करने में ये पदपूरण करनेवाले शब्दों को (हि, तु, नु आदि) को छोड़ देते हैं। कभी-कभी सन्देहास्पद या

---

१. Dr. Siddheshwar Varma, Etymologies of Yaska. Preface.
२. निरुक्त २।२४।

विवादास्पद स्थानों में (जैसे—वेदमन्त्रों की सार्थकता, धातुज-सिद्धान्त आदि विषयों पर प्रबल शास्त्रार्थी की भाँति डटकर भारतीय दार्शनिक-परम्परा[1] के अनुसार, पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए, उसका तीव्र-युक्तियों से खण्डन करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। अपने सिद्धान्तों के उल्लेख के समय भिन्न-भिन्न विचारों-वाले विद्वानों के मत भी उद्धृत करते जाते हैं,[2] जिससे मालूम पड़ता है कि यास्क में सच्चे वैज्ञानिक की आत्मा निवास करती है। इसी प्रणाली से सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है।

महाभाष्य की शैली निरुक्त की शैली से बहुत कुछ मिलती है। दोनों में ही छोटे-छोटे वाक्यों का तथा समासरहित शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु यास्क के शब्द बहुत स्थानों पर सन्देहास्पद तथा आधुनिक संस्कृतज्ञ के लिये क्लिष्ट हैं। कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिन्हें पीछे दूसरे अर्थ में लिया गया। 'कर्म' शब्द का मतलब है 'अर्थ', जैसे 'गतिकर्मा धातुः' = 'गति' अर्थवाला धातु। इसी तरह 'उपेक्षा' का अर्थ है—समीप जाकर परीक्षा करना (दुर्गाचार्य) देखना आदि। पीछे चलकर इसका अर्थ 'तिरस्कार' हो गया। सप्तम अध्याय में 'आशीर्वाद' का अर्थ है 'कामना'। इस प्रकार कितने ही शब्द अज्ञात और अप्रत्याशित अर्थों में प्रयुक्त हैं, इस दृष्टि से यास्क का अध्ययन अर्थविज्ञान (Semantics) के लिए बड़ा ही उपयोगी है इस पर हम आगे विशेष विचार करेंगे। कहीं-कहीं वे भिन्न-रूपवाली क्रियाओं का प्रयोग किसी दूसरे ही अर्थ में करते हैं—जैसे—अप्रथयिष्यत् = अप्रथयत्; 'उपपिपादयिषेत्' व्यर्थ की इतनी बड़ी क्रिया केवल 'उपादयेत्' अर्थ के लिए दी गई है (सन्-प्रत्यय का प्रयोग निश्चय ही व्यर्थ है)। बहुत स्थानों पर ऐसे प्रयोग हैं जो यास्क की असावधानी के परिचायक हैं।

इस प्रकार की व्याख्या द्वारा यास्क ने निघण्टु की महत्ता प्रायः बढ़ा दी है, क्योंकि यास्क के द्वारा प्रदर्शित मौलिकता होने पर भी निरुक्त की पृष्ठभूमि तो निघण्टु ही है। इस स्थान पर इन दोनों के ऐतिहासिक-पक्ष का विश्लेषण करना आवश्यक है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि निघण्टु अनेक थे। प्रत्येक में वैदिक-शब्दों का कोश था जो संकलन करनेवाले की इच्छा के अनुसार अपनी विशेषता लिये हुए था। वर्तमान निघण्टु के अलावे यास्क ने स्वयं एक अन्य निघण्टु का संकेत किया है। यास्क के १।२० के उद्धरण से सिद्ध होता है कि निघण्टु व्यक्तिवाचक-शब्द नहीं, किन्तु जातिवाचक है। वे कहते हैं कि जिसमें निम्नलिखित चार बातें हों वही निघण्टु है—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह (एतावन्तः समान-

१. Cf. Chatterjee and Datta, Introduction of Indian Philosophy, P. 5.

२. जैसे—२।२ में 'दण्ड' निरुक्ति—'ददतेः धारयतिकर्मणः, दमनादिति औपमन्यवः।'

कर्माणो धातवः), (२) एक ही अर्थवाले भिन्नशब्दों का संग्रह (एतावन्ति अस्य सत्त्वस्य नामधेयानि), (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह (एतावतामर्थानाम् इदमभिधानम्) और (४) देवताओं के प्रधान तथा गौण नामों का संग्रह (नैघण्टुकमिदं देवतानाम्, प्राधान्येन इदम्, तदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्)। प्रो० राजवाड़े तीसरे लक्षण को वर्तमान निघण्टु से मिलते हुए न पाकर अनुमान करते हैं कि इन लक्षणों से युक्त भी एक निघण्टु था। वस्तुतः ऐकपदिक-काण्ड में ऐसे शब्दों का संग्रह है जो कई अर्थवाले भी हैं तथा कुछ व्याकरण की दृष्टि से अज्ञात-संस्कारवाले भी हैं—दोनों का मिश्रण निघण्टु में उचित नहीं। वर्तमान-निघण्टु के केवल तीन ही खण्ड हैं जिनका इन चारों से मेल दिखाने का प्रयास दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्त-वृत्ति में किया है। ऐकपदिक-काण्ड के 'अनवगतसंस्कार' वाले शब्द इस चतुर्लक्षणी में नहीं आते। अवश्य ही इन्हीं लक्षणों से युक्त अन्य निघण्टु भी रहे होंगे,[१] जिनमें लक्षण के अव्याप्ति और अतिव्याप्तिदोष नहीं होंगे। पुनः 'तान्यपि एके समामनन्ति' (७।१५) कितने आचार्य देवताओं के ऐसे नामों की भी गणना (अपने निघण्टु में) कर लेते हैं। यह भी सिद्ध कर लेता है कि निघण्टु कई थे।

यास्क ने निरुक्त के आरम्भ में ही निघण्टु का बहुवचन में प्रयोग करके सम्भवतः इसी तथ्य की ओर निर्देश किया है। वे शब्दों के चार भाग करते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। वर्तमान निघण्टु में तो केवल नाम और आख्यात ही हैं, क्या उपसर्ग और निपातों का संग्रह रखनेवाला भी निघण्टु था ? आचार्य भगवद्दत्त ने भी कई प्रमाणों से सिद्ध किया है कि निघण्टु अनेक थे।[२] निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों (निरुक्तकारों) के नाम आये हैं वे सब निघण्टु की भी रचना करनेवाले थे। अथर्वपरिशिष्ट का ४८ वाँ परिशिष्ट भी निघण्टु ही है जिसे ये कौत्सव्य-कृत मानते हैं। बृहद्देवता में यास्क के नाम के साथ-साथ शाकपूणि का भी उल्लेख कई बार हुआ है, इससे निश्चय ही उनका निघण्टु और निरुक्त रहा होगा। पूना से उन्होंने शाकपूणि के निघण्टु को प्रकाशित भी कराया है।[३] इस प्रकार वे १५–२० निघण्टुओं के होने का अनुमान करते हैं।

डॉ० लक्ष्मण सरूप निघण्टु को एक व्यक्ति की रचना नहीं मानते,[४] किन्तु राजवाड़े ने इसका सप्रमाण खण्डन किया है। डॉ० स्कोल्ड ने हस्तलिखित

---

१. प्रो० राजवाड़े Yaska's Nirukta P. V–VII.

२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, खण्ड २।

३. पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, वैदिक-साहित्य, पृ० २१७।

४. 'Nighantu is probably not the production of a single individual, but the result of the united efforts of a whole generation or perhaps of several generations." Nigh. and Nir. (14/32–35).

ग्रन्थों का आधार लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि निरुक्त का पूर्वषट्क (१–६ अध्याय) और उत्तरषट्क (७–१२) दो ग्रन्थ हैं, दोनों की शैली भी भिन्न है अतएव निघण्टु में भी पहले दैवत-काण्ड नहीं रहा होगा। यास्क ने स्वयं भी 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः' (१।२०) वाले सन्दर्भ के द्वारा भी निघण्टु के पारम्परिक रचयिताओं की ओर संकेत किया है।[1] इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि प्रस्तुत निघण्टु-जैसा कोश-ग्रन्थ परम्परा से प्राप्त होकर एक बार किसी व्यक्ति के द्वारा संकलित हुआ है। जिस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी परम्परा से ही प्राप्त कुछ नियमों, शब्दों और परिभाषाओं को ग्रहण करने पर भी पाणिनि की मौलिकता प्रदर्शित करती है उसी प्रकार निघण्टु के शब्दों का संकलन भी परम्परा से ही प्राप्त है किन्तु कोई एक व्यक्ति ही इसे वर्तमान-रूप देने में समर्थ है। महाभारत (मोक्षधर्मपर्व, अध्याय ३४२, श्लोक ८६-८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस निघण्टु के रचयिता हैं।

कई विद्वान् महाभारत के उपर्युक्त श्लोकों को प्रमाण-कोटि में नहीं लाते तथा कहते हैं कि निरुक्त और निघण्टु दोनों के रचयिता यास्क ही हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मत का प्रतिपादन किया और आचार्य भगवद्दत्त जी ने इसके लिए कई प्रमाण दिये हैं। इनका कथन है कि जितने निरुक्तकार हैं वे निघण्टु के भी प्रणेता हैं। यास्क को लगाकर कुल चौदह निरुक्तकार हैं—औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, और्णनाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य, १३ वाँ स्वयं यास्क और १४ वाँ शाकपूणि का पुत्र कौत्सव्य। इन सबों ने अपने-अपने निघण्टु बनाये और उस पर ही भाष्य लिखा। महर्षि-यास्क सबसे अन्त में हुए इसलिए इन्हें सबों से पर्याप्त सहायता मिली। निघण्टु को यास्क-रचित मानने के लिए निम्नलिखित प्रमाण हैं[2]—

(१) मधुसूदन सरस्वती अपने महिम्न-स्तोत्र की व्याख्या[3] में लिखते हैं—'एवं निघण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसञ्ज्ञकः पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः।' अर्थात् पाँच अध्यायों वाला निघण्टु यास्क का ही बनाया हुआ है।

(२) सायणाचार्य ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में कहते हैं—'पञ्चाध्याय-रूपे काण्डत्रयात्मके एतस्मिन्ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानञ्च 'समाम्नायः समाम्नातः' इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्या-स्ताद्भाव्यमनुभवति अनुभवति' इत्यन्तैः द्वादशभिरध्यायैः यास्को निर्ममे।' अर्थात् पाँच अध्यायोंवाला निघण्टु भी निरुक्त ही है। उसकी व्याख्या यास्क ने की।

---

१. Skold—The Nirukta, P. 6.

२. इनमें से कुछ प्रमाणों के लिए मैं गुरुमण्डल-ग्रन्थमाला से प्रकाशित निरुक्त-भाग १ के भूमिका-लेखक के प्रति कृतज्ञ हूँ।

३. श्लोक ७—त्रयी साङ्ख्यं योगः०, इस पर उन्होंने बड़ी विस्तृत टीका लिखी है।

(३) इन दोनों से भी प्राचीन वेङ्कट-माधव ऋग्वेद ७।८४।४ की व्याख्या में लिखते हैं—"तत्रैकविंशतिः नामानि 'काचिद् गौः बिभर्त्ति' इति पृथिवीमाह, तस्याः हि यास्कपठितानि एकविंशतिः नामानि।" अर्थात् यास्क के द्वारा पढ़े गये पृथिवी के २१ नाम।

(४) निरुक्त के आरम्भ में 'समाम्नायः समाम्नातः' कहा है मानों एक ही ग्रन्थ में कोई नया अध्याय आरम्भ कर रहे हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार निरुक्त का आरम्भ 'अथ' से होना चाहिये था। अतः निघण्टु और निरुक्त एक ही ग्रन्थ हैं।

(५) जहाँ-जहाँ निरुक्त पाण्डुलिपि मिली है वहाँ-वहाँ निघण्टु भी साथ-साथ ही मिला है। इसके अलावे स्कन्द-महेश्वर, दुर्ग आदि निरुक्त के टीकाकार निरुक्त के प्रथम-अध्याय को षष्ठ-अध्याय मानकर व्याख्या करते हैं।

इन तर्कों से निघण्टु तथा निरुक्त एक ही ग्रन्थ तथा यास्क-प्रणीत मालूम पड़ते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ये सभी तर्क निस्सार हैं। आचार्य सायण का कहना ठीक है कि निघण्टु भी निरुक्त ही है, क्योंकि वेदाङ्ग दोनों मिलकर ही हैं। परन्तु वे केवल यही कहते हैं कि यास्क ने उसका भाष्य १२ अध्यायों में किया, निघण्टु को यास्क-कृत तो नहीं कहते। भाष्य मूल के बिना व्यर्थ है, अतएव दोनों का साथ मिलना अयुक्त नहीं। निघण्टु को निरुक्त का अंग मानने के कारण (भले ही यास्क-प्रणीत न हो) टीकाकारों ने अध्यायों को बढ़ाकर लिखा है। 'अथ' से आरम्भ न होना दूसरे कारण से है जिसका विचार बाद में होगा। वेङ्कट-माधव का मूल अर्थ है—पृथिवी के इक्कीस नाम, जिस रूप में यास्क ने उनका ग्रहण किया। सरस्वती जी ने निश्चय ही भ्रम में पड़कर वैसा लिखा है जो आधुनिक विद्वानों में भी है।

यही कारण है कि आधुनिक विद्वान् (प्रो० रॉथ, कर्मरकर, सरूप आदि) तथा प्राचीन टीकाकार (स्कन्द-महेश्वर, दुर्ग) निघण्टु को किसी अज्ञातनामा ऋषि की रचना मानते हैं। दुर्ग ने तो स्पष्ट लिखा है (१।२० का भाष्य)—'तस्येषा......सा च पुनरियं, त इमं ग्रन्थं गवादिदेव पत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः'। अर्थात् निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों ने किया।

अतएव उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि किसी ऋषि ने परम्परा-प्राप्त शब्दों का संस्करण किया जो वर्तमान निघण्टु के रूप में है। 'निघण्टु' एक जातिवाचक शब्द है, ऐसे ही कई निघण्टु थे जिनपर भाष्य लिखे गये होंगे। किन्तु यास्क के सामने एक ही निघण्टु था, जिसपर दूसरों के भी भाष्य रहे हों। उनकी अशुद्धियाँ देखकर उन्होंने अपना अभिनव निरुक्त लिखा जो आज हमें मिला है।

———

तृतीय परिच्छेद

[क] प्रथम अध्याय

[प्रथम अध्याय—इसकी तुलना—निघण्टु की रूपरेखा, आन्तरिक तथा वाह्यरूप-रेखा—पद-भेद—नाम और आख्यात—उपसर्ग—निपात और उनके भेद—शब्द नित्य है या अनित्य ?—पतञ्जलि—स्फोटवाद—मीमांसकों की युक्ति—प्लेटो—भाषा में मनुष्यों और देवताओं का ऐक्य—भाव-विकार—शब्दों का धातुज-सिद्धान्त—शाकटायन और गार्ग्य—गार्ग्य का पूर्वपक्ष—यास्क के उत्तर—सभी शब्दों को धातुज मानने के कुफल—सिद्धान्त की विशेषता—निरुक्त की उपयोगिता—मन्त्र निरर्थक हैं या सार्थक ?—कौत्स का पूर्वपक्ष और यास्क का उत्तर।]

इस परिच्छेद में हम निरुक्त के अन्तरङ्ग-भाग का अर्थात् उसकी विषय-वस्तु का आलोचनात्मक अध्ययन करेंगे। सुविधा के लिए प्रस्तुत संस्करण के अध्यायों (प्रथम–सप्तम) को ही हम अपने अध्ययन-क्रम में रखेंगे। आगे चलकर हम पायेंगे कि सम्पूर्ण निरुक्त का परिचय पाने के लिए इन अध्यायों का ही अध्ययन पर्याप्त है।

चूँकि निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से निघण्टु के शब्दों का व्याख्यान आरम्भ हुआ है अतएव तब तक निरुक्त की भूमिका ही वर्णित है—यह हम ऊपर देख आये हैं। निरुक्त के लिए आवश्यक वस्तुओं का संकलन करके यास्क ने अपने भूमिका-खण्ड में पर्याप्त प्रकाश डाला है और वह भी इस प्रकार कि कुछ और जानने को बचता ही नहीं। निरुक्त का सारांश, शैली, उसका आधार आदि इसी भूमिका में वर्णित है। निरुक्त के प्रथम अध्याय की तुलना संस्कृत-साहित्य के उच्चकोटि के भाष्यों की भूमिका से की जा सकती है। ये भूमिकायें हैं—महाभाष्य की पस्पशाह्निक-भूमिका, शङ्कराचार्यकी शारीरक-मीमांसा-भाष्य-भूमिका, रामानुज की ब्रह्मसूत्रभाष्य भूमिका (ब्र० सू० १।१।१) और सायण की वेदभाष्य-भूमिकायें।[१] जिस प्रकार इन सबों में अपने ग्रन्थ का महत्त्व, विरोधियों का खण्डन, सारभूत सिद्धान्त आदि का प्रतिपादन है उसी प्रकार निरुक्त का प्रथम अध्याय भी इन सब बातों पर विचार करता है। यही नहीं 'लिरिकल बैलेड्स्' की भूमिका की तरह यह अपने युग की निरुक्त-विषयक मान्यताओं पर भी प्रकाश डालता है।[२]

---

१. देखिये—सायण का 'चतुर्वेदभाष्यभूमिकासंग्रह', सम्पादक—पं० बलदेव उपाध्याय।

२. 'लिरिकल बैलेड्स्' (Lyrical Ballads) में कोलरिज और वर्ड्स्वर्थ

प्रथम अध्याय में जिन बातों का विशेष वर्णन है वे ये हैं—(१) निघण्टु का लक्षण, (२) पदों के भेद, (३) भाव के विकार, (४) शब्दों का धातुज-सिद्धान्त और (५) निरुक्त की उपयोगिता। अब हम क्रमशः इन पर विचार करें।

निरुक्त का आरम्भ यास्क ने 'समाम्नायः समाम्नातः' से किया है। समाम्नाय का साधारण अर्थ है संग्रह। पतञ्जलि अपने महाभाष्य में 'अइउण्' आदि १४ शिव-सूत्रों को अक्षर-समाम्नाय कहते हैं। वैदिक संहिताओं को आम्नाय कहते हैं, इस प्रकार 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से अर्थ होगा वैदिक-संहिताओं (या साहित्य) से लेकर किया गया संग्रह, चाहे वह अक्षरों का हो या शब्दों का हो। यही काव्य निघण्टु और निरुक्त की अविच्छिन्नता का द्योतक है किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि दोनों यास्क के ही बनाये हैं, क्योंकि आगे यास्क कहते हैं—'इमं समाम्नायं 'निघण्टवः' आचक्षते' अर्थात् इस समाम्नाय को लोग 'निघण्टु' कहकर पुकारते हैं। इससे पता लगता है कि निघण्टु उस समय तक प्रचलित शब्द था। 'निघण्टु' का व्युत्पत्तिजनित अर्थ है 'अर्थ का द्योतक', 'वेदों से चुनकर जमा किया हुआ', या 'एक साथ कहा गया।'

निघण्टु का आन्तरिक रूप-रेखा बतलाकर यास्क इसकी बाह्य रूप-रेखा अध्याय के अन्त में (१।२०) देते हैं। यह लक्षण तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसा जाने लायक नहीं किन्तु निघण्टु के विभागों का वर्णन इसमें अत्यन्त स्पष्टता से किया गया है। निघण्टु में पाँच विभाग होने चाहिये—(१) समानार्थक धातुओं का संग्रह, (२) एक ही अर्थवाले भिन्न-भिन्न शब्दों का संग्रह, (३) कई अर्थों वाले शब्दों का संग्रह, (४) देवताओं के मुख्य नामों का संग्रह तथा (५) देवताओं के गौण नामों का संग्रह। जिसमें केवल देवताओं के मुख्य नामों का संग्रह हो उसे 'दैवत' कहते हैं।

इसके बाद पद-भेदों का वर्णन होता है। पद चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्हीं चारों भेदों को वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है भले ही पद के नाम पर पाणिनि ने दो ही भेद—सुबन्त और तिङन्त—माने हैं। निरुक्त के वाक्यों से मालूम पड़ता है कि ये भेद यास्क के समय काफी प्रचलित थे। नाम और आख्यात के लक्षणों में यास्क ने क्रमशः सत्त्व और भाव की चर्चा की है। दोनों शब्दों की उत्पत्ति समानार्थक धातुओं (अस् और भू) से हुई है, अतएव यह दिखाने की चेष्टा हुई है कि नाम और आख्यात में मौलिक अन्तर नहीं, केवल अवस्था (degree) का अन्तर है। जब तक

की कवितायें संगृहीत हैं। इसकी भूमिका वर्ड्स्वर्थ ने लिखी थी जो रोमांटिक-साहित्य की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालती है अतः प्रशंसार्थ इसे लोग रोमांटिक-युग की बाइबिल (Bible of the Romantic Age) कहते हैं। प्रकाशन-काल १७९८ ई०।

क्रिया का क्रम चल रहा है तब तक उसे 'भाव' ही कहते हैं किन्तु पूर्ण हो जाने पर क्रिया 'सत्त्व' नाम से पुकारी जाती है। पढ़ने का काम होते समय तो हम 'पठति' कहते हैं किन्तु काम के अन्त में 'पाठ' नाम रखते हैं। पाणिनि के व्याकरण में क्रिया की दोनों ही अवस्थाओं को 'भाव' कहते हैं जिसके स्वतः दो भेद हो जाते हैं—साध्यावस्थापन्न भाव, जिसे निरुक्तकार 'भाव' कहते हैं तथा सिद्धावस्थापन्न भाव, जिसे निरुक्तकार 'सत्त्व' कहते हैं। साहित्य-शास्त्र में केवल अन्तिम अवस्था को ही भाव कहते हैं—भावः अन्तिमः विकारः। यास्क के अनुसार आख्यात और नाम के उदाहरण क्रमशः—'गच्छति' और 'गतिः' हैं।

सत्त्व का वास्तविक अर्थ द्रव्य है जो गुणों का आश्रय होता है, जिसमें दूसरे गुणों का प्रादुर्भाव होने पर भी तत्त्व का विघात न हो (पतञ्जलि ५।१।११९ पर)। दूसरे शब्दों में वस्तुमात्र के बोधक द्रव्य हैं। नाम-पदों में इसी द्रव्य का प्राधान्य रहता है। जैसे—घटः, पटः, धनम्। यद्यपि इनमें भी क्रिया रहती है, किन्तु वह आख्यात-पदों के समान अमूर्त नहीं रहती। क्रिया का गौण-भाव उसे मूर्त कर देता है। यही कारण है कि नाम-पदों में स्थित द्रव्य का प्रत्यक्ष हो सकता है। द्रव्यों के बोधक मूल शब्द प्रातिपदिक होते हैं जिनमें सुप् विभक्तियाँ लगती हैं। ये विभक्तियाँ कृदन्त शब्दों में भी लगती हैं, जैसे—पठितव्यम्, पाठकः। इसीलिए पतञ्जलि ने कहा है कि कृत्-प्रत्ययों से अभिहित भाव (क्रिया) भी द्रव्य के ही सदृश होता है। इस उक्ति का मूल स्रोत बृहद्देवता (१।४५) है। निष्कर्षतः, सभी शब्द तो आख्यातज ही हैं, अतः सबों को कृदन्त ही क्यों न कहा जाय ? किन्तु कुछ प्रत्यक्षवृत्ति वाले (अवगतसंस्कार) पद हैं, कुछ अनवगत संस्कार वाले। इन पर पिछले प्रकार के शब्दों को ही द्रव्य कहने की परम्परा है, पहले प्रकार को (कृदन्त) द्रव्यवत् कहा गया है। यास्क के लिए वस्तुतः ऐसे विभाजन का कोई महत्त्व नहीं, यदि 'पुरुष' द्रव्य-वाचक है तो 'पाचक' भी वैसा ही है। क्रिया की पूर्णता तथा मूर्तता ही द्रव्य-प्रधान नाम पद होने का हेतु है।

उपसर्गों और निपातों का निश्चित लक्षण न तो यास्क ही दे पाये हैं और न पाणिनि ही। दोनों ने 'प्रतिपद-पाठ' करना ही सुलभ समझा है। उपसर्ग पाणिनि के मत से २२ और यास्क के मत से २० हैं, क्योंकि पाणिनि ने निस्, निर् और दुस्, दुर् को अलग-अलग माना है। पाणिनि के मत से उपसर्ग द्योतक ही हैं, अकेले उनका कोई अर्थ नहीं।[1] यास्क ने शाकटायन के मत का उल्लेख करके इतना अवश्य किया है कि उपसर्गों के लगने से नाम और आख्यात में अर्थ का क्या परिवर्तन होता है—इसे स्पष्ट कर दिया है।

---

१. तुलना करें—'उपसर्गाः क्रियायोगे' (पा० सू० १।४।५९) तथा 'न निर्बद्धाः उपसर्गा अर्थान् निराहुरिति शाकटायनः.........तद् य एषु पदार्थः प्राहुरिमे, तन्नामाख्यातयोरर्थविकरणम्' (नि० १।३) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में भी २० ही उपसर्ग गिनाये गये हैं (१२।६)।

यास्क के अनुसार गार्ग्य उपसर्गों की वाचकता के पक्षधर हैं। यद्यपि वैयाकरणों ने इनके मत को उखाड़ फेंका, किन्तु इनका पक्ष भी सर्वथा युक्तिहीन नहीं है। 'भवति' का 'प्रभवति' से या 'तिष्ठति' का 'प्रतिष्ठते' में जो भेद है वह उपसर्गों का स्वार्थ माने बिना व्याख्येय नहीं। अन्वय-व्यतिरेक से हम उपसर्ग के अर्थ तक पहुँच सकते हैं। कई उपसर्ग धातु के मूल अर्थ को बिल्कुल बदल देते हैं, जो गार्ग्य के पक्ष में प्रबल प्रमाण है।

शाकटायन, यास्क तथा सभी वैयाकरण उपसर्गों के द्योतकत्व पर बल देते हैं। उपसर्गों के लगने से धात्वर्थ में जो भी परिवर्तन होता है, वह वस्तुतः धातु में ही निहित है। 'उपास्यते कृष्णः' में उपासना रूप अर्थ 'उप' उपसर्ग का नहीं हो सकता क्योंकि वैसी स्थिति में अकर्मक √आस् से कर्मवाच्य का प्रयोग नहीं होगा। अन्ततः हमें √आस् का ही अर्थ उपासना मानना होगा, जिससे वह सकर्मक भी हो सकेगा। यही स्थिति 'अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण' में अनु + √भू की है। धातु का ही अनुभव-रूप अर्थ मानना होगा, जिससे वह सकर्मक हो सके। दूसरी बात यह है कि धातु-पाठ में सोपसर्गक धातुओं का पाठ नहीं है। अतः उपसर्ग द्वारा विकृत अर्थ धातु का ही है। उपसर्ग का कार्य प्रदीप के समान धातु के अन्तर्हित अर्थ की अभिव्यक्ति है। किसी वस्तु में प्रदीप के संयोग से उसके विभिन्न गुण-धर्म (ऊँचाई, रंग इत्यादि) प्रकट होते हैं; ये गुण-धर्म उस वस्तु के ही रहते हैं, प्रदीप के नहीं।[१]

उपसर्गों के वाचक-द्योतक पक्षों के अतिरिक्त एक पक्ष है सहकारी। जिससे धातु की शक्ति आहित होती है वही सहकारी उपसर्ग है (वा० प० २।१८८)। इन तीनों पक्षों का क्रमशः निर्देश इस कारिका में हुआ है—

धात्वर्थं बाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्य उपसर्गगतिस्त्रिधा॥

किन्तु वैयाकरण उपसर्गों के द्योतकत्व पर दृढ़ हैं, जिसमें गंगेश के समान नैयायिक का भी समर्थन प्राप्त होता है।[२] इनका कथ्य है कि 'प्रजयति' में 'प्र' का प्रकर्ष-अर्थ और 'अभ्यागच्छति' में 'अभि' का सामीप्य-अर्थ जो प्रतीत होता है, वह वस्तुतः धात्वर्थ है। ये उपसर्ग तो तात्पर्यग्राहकमात्र हैं।[३]

निपातों के तीन भेद माने गये हैं—उपमार्थक, कर्मोपसंग्रह और पदपूरण। इन सबों के उदाहरण वैदिक-साहित्य से, विशेषतया ऋग्वेद से दिये गये हैं।

---

१. यथा प्रदीपसंयोगे द्रव्यस्य गुणविशेषोऽभिव्यज्यमानो द्रव्याश्रय एव भवति न प्रदीपाश्रयः। (दुर्गः, पृ० २६)।

२. उपसर्गा द्योतकाः, न वाचकाः। द्योतकत्वं च धातोरर्थविशेषे तात्पर्यग्राहकत्वं, तदुपसन्दानेन तत्र शक्तिर्वा। (तत्त्वचिन्तामणि, शब्दखण्ड, पृ० ८५४)।

३. वही, पृ० ८५६—प्रतिष्ठन इत्यत्र विरोधिलक्षणया धातोर्गमनोपस्थितिः, प्रशब्दस्तु अत्र तात्पर्यग्राहकः।

इन भेदों का कोई नियमित विभाग नहीं, उपमार्थक निपात पद-पूरण भी हो सकते हैं, कर्मोपसंग्रह भी अथवा किसी अन्य अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकते हैं। उनका मुख्य अर्थ देखकर ही निर्धारण किया जाता है कि अमुक शब्द क्या है।[१] कर्मोपसंग्रह का लक्षण बहुत कुछ अस्पष्ट है। मेरा विचार है कि किसी लिपिकार के प्रमादवश कुछ शब्द इसमें बढ़ा दिये गये हैं जिसे मैंने मूल-निरुक्त की टीका में स्पष्ट भी किया है। डा० गुणे इसका अनुवाद करते हैं—'जिसके आगमन (अर्थात् प्रयोग) से अर्थों (विचारों) की पृथकता सचमुच जानी जाय, किन्तु जो पृथक् स्थान या स्वतन्त्र उल्लेख के कारण साधारण गणना की तरह न हो, वही कर्मोपसंग्रह, अर्थात् अर्थों या विचारों का योग करना या एकत्रीकरण, कहलाता है'।[२] गुणे की आलोचना डा० लक्ष्मण स्वरूप और प्रो० राजवाड़े ने की है। सम्भवतः डा० सरूप तथ्य के अधिक निकट पहुँच सके हैं—'जिसके योग से विचारों का वस्तुतः पार्थक्य जानें किन्तु गणना के समान का (पार्थक्य) नहीं (अर्थात् अलग-अलग कर देने से होनेवाला पार्थक्य), वही कर्मोपसंग्रह (Conjunction) है।'[३] यास्क ने कुछ चौदह निपात गिनाये हैं और प्रत्येक की पुष्टि प्रयोग द्वारा की है। पदपूरण का अर्थ है निरर्थक शब्द जो छन्द की पूर्ति के लिए आते हैं। इस स्थान पर यास्क ने गद्य को अमिताक्षर और पद्य को मिताक्षर-ग्रन्थ कहा है। गद्य में यदि पदपूरण के शब्द आयें तो उन्हें वाक्यपूरण कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ये अधिकता से पाये जाते हैं। निपातों के विषय में पाणिनि के सूत्र हैं—प्राग्रीश्वरान्निपाताः, चादयोऽसत्त्वे, प्रादयः (१।४।५६–५८)।

उपसर्गों के समान ही भारतीय भाषाविज्ञान में निपातों के वाचकत्व और द्योतकत्व के विषय में प्रचुर विवाद है। उपसर्गों की द्योतकता तो वैयाकरणों और नैयायिकों को भी मान्य है किन्तु निपातों के विषय में नैयायिक अपना मत बदल कर इन्हें वाचक मानते हैं। जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में सार्थक

---

१. तुल० प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति = किसी वस्तु का नाम उसके प्रधान कर्म को देखकर देते हैं। वैसे ही, प्रधान शब्द या अर्थ देखकर ही किसी शब्द का निर्धारण होता है।

2. 'Owing to whose advent (i. e., use) separateness of the अर्थ (senses or ideas) is indeed known but not as in simple enumeration owing to separate position or independent mention, that is कर्मोपसंग्रह, i. e., adding or putting together of the senses or ideas.' Indian Antiquary, Vol. xiv. p. 159,

३. 'That by whose addition separateness of notions is indeed recognized, but not as an enumerative one, i. e. on account of a separateness by isolation, is a Conjunction.' The Nirukta, English Translation by Dr. Sarup.

शब्दों के तीन भेद माने हैं—प्रकृति, प्रत्यय तथा निपात (श० श० प्र०, कारिका ६)। स्वयं यास्क भी इनकी वाचकता के पक्षधर हैं—उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति । पुनः विभिन्न अर्थों का निरूपण करना भी इसी का पोषक है (निरुक्त, १।४–११)।

किन्तु वैयाकरण इस विषय पर दृढ़ हैं कि समान कक्षा में होने के कारण उपसर्गों के समान निपात भी द्योतक मात्र हैं। द्रव्य का बोध न करानेवाले प्र, च इत्यादि शब्द निपात कहलाते हैं (पा० सू० १।४।५६–५७)। उपसर्गों की द्योतकता के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियाँ ही यहाँ भी दी जा सकती हैं—दोनों में कोई अन्तर नहीं।[1] नैयायिकों का तर्क है कि अनुभूयते, अलंक्रियते, नमस्करोति इत्यादि में धात्वर्थ में जो विशेष अर्थ आता है उसकी व्याख्या वाचकत्व-पक्ष में ही है किन्तु वैयाकरण इन अर्थविशेषों को धात्वर्थ ही मानकर तत्तद् निपातों को तात्पर्यग्राहक मानते हैं। यदि 'च' का अर्थ संग्रह है तो 'अच्छा संग्रह' के लिए हम 'शोभनश्च' कहने लगते (यदि च वाचक हो)। अतः निपातों का द्योतकत्व-पक्ष श्रेष्ठ है।

नञ् (न) को भी निपात कहा गया है। इसके छह अर्थ कहे गये हैं—तत्सादृश्य (अब्राह्मणः = ब्राह्मण सदृश दूसरा व्यक्ति), अभाव (अपापम्), तदन्यत्व (अनश्वः = अश्वभिन्नः), तदल्पता (अनुदरा कन्या = अल्प उदर-वाली), अप्राशस्त्य (अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः) तथा विरोध (अधर्म)।[2] पुनः पर्युदास तथा प्रसज्य के रूपमें दो निषेध माने गये हैं। इनका विवेचन यहाँ अनपेक्षित है।

पद-भेद के सम्बन्ध में यास्क एक विवाद उठाते हैं कि शब्द नित्य हैं या अनित्य। यह विवाद केवल निरुक्त में ही नहीं, व्याकरण, न्याय तथा पूर्वमीमांसा के ग्रन्थों में भी उठाया गया है। किन्तु इनमें से प्रत्येक अपने सिद्धान्त पर अटल है। भिन्न भिन्न तर्क देने पर भी वैयाकरण और मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, निरुक्तकार औदुम्बरायण और नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। औदुम्बरायण का कहना है कि शब्दों को सत्ता केवल इन्द्रियों तक ही है अर्थात् ये अनित्य (अस्थायी) हैं। किन्तु ऐसा मानने पर पदों का भेद या प्रकृति-प्रत्यय का संयोग भी असिद्ध हो जायगा क्योंकि भिन्न भिन्न कालों में उत्पन्न अक्षरों का योग असम्भव है। पतञ्जलि भी ऐसी ही युक्ति से कार्यशब्द की व्याख्या करते हैं[3]—शब्द अलग-अलग ध्वनियों से ही बनता है। हम दो ध्वनियाँ एक साथ उत्पन्न नहीं कर सकते। 'गौः' शब्द में गकार, औकार और विसर्ग के

---

१. वैयाकरणभूषण, ४२—द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा ॥ 'प्रादयो द्योतकाश्चादयस्तु वाचका' इति न्यायमते स्थितं वैषम्यमयुक्तं युक्तिसाम्यादिति।

२. भूषणसार, पृ० २८४।

३. महाभाष्य १।४।४।

उच्चारण भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं। इसलिए ध्वनियाँ निश्चित-रूप से नाशवान् हैं, उनका प्रतिनिधि शब्द नहीं।

यास्क कहते हैं कि शब्दों से ही वस्तुओं का नामकरण होता है क्योंकि ये व्यापक हैं तथा वस्तु-बोध कराने के अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सरलतर हैं। यदि हम वस्तुओं को दिखाकर या हाथ-पैर से इशारा कर उन वस्तुओं का बोध करावें तो तो कठिनाई होगी किन्तु शब्दों के द्वारा बोध कराने में कोई भी कठिनाई नहीं। लौकिक व्यवहार के लिए ही शब्दों का आश्रय लिया जाता है। पतञ्जलि ने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक पर विचार करते हुए कहा है कि शब्द और उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु का सम्बन्ध नित्य है। शब्दों की वस्तुबोधक शक्ति तो स्वाभाविक है, किसी की उत्पन्न की हुई नहीं।[१] वस्तुएँ भी नित्य ही हैं; संक्षेप में यह कहें कि शब्द, अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध—ये सभी सिद्ध (नित्य) हैं। यह नित्यता हमें लौकिक व्यवहार से ज्ञात होती है। वस्तुओं को देखकर लोग उनके बोध के लिए शब्द का प्रयोग करते हैं, शब्द-रचना में परिश्रम नहीं करना पड़ता। परिश्रम तो केवल अनित्य वस्तुओं की ही रचना में करना पड़ता है, जैसे घड़े की जरूरत होने पर हमें कुम्भकार के घर जाकर कहना पड़ता है—'घड़ा बनाओ, मुझे जरूरत है।' शब्द का प्रयोग करने के लिए हम वैयाकरण के पास जाकर कभी नहीं कहते कि शब्द बनाइये, हमें प्रयोग करना है। लोग वस्तुओं को देखते हैं तथा उनका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। यही भाषा की उत्पत्ति का सिद्धान्त है।[२]

वैयाकरण लोग अर्थबोध कराने के लिए 'स्फोट' स्वीकार करते हैं। कोई शब्द कई अक्षरों से बनता है जो क्षणिक होने के कारण न तो मिलकर ही अर्थबोध करा सकते हैं और न अलग-अलग ही। इसलिए उन्हें अर्थ का स्फोटक (प्रकाशक) स्फोट स्वीकार करना पड़ता है।[३] इसे ही भर्तृहरि ने नित्य शब्द-ब्रह्म कहा है जिसका विवर्त[४] रूप ही संसार के समस्त व्यवहार हैं।[५] इस स्फोट (नित्य-शब्द) का ही प्रतिनिधित्व करनेवाला एक कार्य --(कामचलाऊ) शब्द होता है जिसकी सत्ता केवल व्यावहारिक दशा (Practical world) में है, पारमार्थिक या वास्तविक

---

१. तुलनीय—जे० सू० ११।१५।

२. Bhandarkar, Wilson Philological Lectures, P. 291.

३. तुलनीय—'किं वर्णाः समस्ताः व्यस्ताः वाऽर्थप्रत्ययं जनयन्ति ? नाद्यः, वर्णानां क्षणिकानां समूहासम्भवात्। नान्त्यः, व्यस्तवर्णेभ्योऽर्थप्रत्ययासम्भवात्। न च व्याससमासाभ्यामन्यः प्रकारः समस्तीति। तस्माद्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ यद्बलादर्थप्रतिपत्तिः सः स्फोटः।' सर्वदर्शनसंग्रह (अभ्यङ्कर-संस्करण), १३।१३२।

४. अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः (वेदान्तसार)—ऊपरी ज्ञान जो वस्तुओं के तत्त्वतः न बदलने पर भी उनके परिवर्तन की प्रतीति कराये वह विवर्त है।

५. देखिये वाक्यपदीय १।१—अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

दशा (World of Reality या Transcendental world) में नहीं। इसे ही यास्क भी स्वीकार करते हैं। सारांश यह है कि शब्द परमार्थतः नित्य है किन्तु व्यवहारतः कार्य। पालि में लिखे बौद्ध-ग्रन्थों में भी 'सद्द' (शब्द) के स्वभाव का विचार किया गया है जो स्फोट से मिलता-जुलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि स्फोटवाद का सिद्धान्त यास्क और बुद्ध के समय प्रचलित था।[1]

मीमांसा-दर्शन में दूसरी युक्तियों से शब्द की नित्यता स्वीकार की गई है।[2] शब्दों का उच्चारण शब्दमात्र के लिए नहीं, प्रत्युत अर्थबोध के लिए होता है। यदि शब्द नश्वर हों तो अर्थबोध हो ही नहीं सकता। शब्दों का सार्वजनिक अनुभव होता है। एक ही शब्द का कई बार प्रयोग होने पर उसकी समानता या स्थिरता का भी अनुभव हम करते हैं। इसलिए शब्द नित्य हैं। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने औदुम्बरायण के मत की तुलना प्लेटों के शब्द-क्षणिकवाद से की है। प्लेटों ने अपनी पुस्तक क्रेटिलस (Cratylus) में कहा है – 'क्रेटिलस ! हम तर्कपूर्वक यह भी नहीं कह सकते कि वस्तुतः ज्ञान है, जबकि सभी वस्तुएँ परिवर्तन की दशा में हैं और कोई भी चीज स्थिर नहीं है।[3] सारांश यही है कि औदुम्बरायण शब्द को नित्य नहीं मानते जब कि यास्क व्यवहार की सिद्धि के लिए शब्द की नित्यता स्वीकार करते हैं जो स्फोटवाद की ओर का संकेत है।

इस विचार के ही प्रसङ्ग में यास्क एक आश्चर्यजनक बात वतलाते हैं कि किसी वस्तु का बोध जिस नाम से मनुष्यों में होता है उसी नाम से देवता लोग भी उन्हें समझते हैं। इन वाक्यों में मनुष्य की प्रधानता दिखलाई गई है; इससे पता लगता है कि यास्क भाषा की उत्पत्ति को दैवी नहीं मानते।[4] ऊपर पतञ्जलि का भी मत हम देख चुके हैं। इसके विपरीत प्लेटो कहते हैं कि देवताओं के द्वारा दिया गया नाम ही उचित और स्वाभाविक है। देवताओं और मनुष्यों के बीच शब्द-साम्य होने पर भी मनुष्यों का ज्ञान अनित्य है इसीलिए कर्म का

---

१. स्फोटवाद के विवेचन निम्नलिखित ग्रन्थों में हुए हैं—पतञ्जलि का महाभाष्य, भर्तृहरि का वाक्यपदीय (काण्ड १), माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह (पाणिनि-दर्शन), कौण्डभट्ट का वैयाकरण-भूषण, नागेश की लघुमंजूषा और स्फोटवाद, P. C. Chakravarty—Philosophy of Sanskrit Grammar डॉ० कपिलदेव द्विवेदी का प्रबन्ध (Thesis)—'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन', पं० रंगनाथ पाठक का स्फोटवाद इत्यादि।

२. जै० सू० १।१।१२–२३; Radhakrishnan, Indian Philosophy Vol. II, P. 390.

३. 'Nor can we reasonably say, Cratylus, that there is knowledge at all, if everything is in a state of transition and there is nothing abiding Jowett.' Dialogues of Plato, Vol. I, pp. 387–8.

४. देखिये—भूमिका का सप्तम परिच्छेद।

सम्पादन करनेवाले मन्त्र वेदों में उल्लिखित हैं। यास्क ने जिस शैली में—'पुरुष-विद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' लिखा है उसे सूत्र शैली कह सकते हैं। यास्क के समय सूत्रात्मक शैली का प्रचलन आरम्भ हो गया था।

इसके बाद यास्क ने 'भाव' का दार्शनिक विश्लेषण किया है। क्रिया की उत्पत्ति से लेकर फलप्राप्ति तक जो अवस्थाएँ (Stages) आती हैं उन्हें भाव का विकार कहा जाता है। ये छह हैं—उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश।[1] इन सबों को अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। भाव के विकारों का यह आत्यन्तिक विश्लेषण है, क्योंकि दूसरे स्थानों में केवल तीन ही विकार माने गये हैं, जैसे—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० उ० २।१)। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२) सूत्र पर भाष्य लिखते हुए जन्म, स्थिति और नाश के अन्तर्गत ही सबों का अन्तर्भाव किया है। बल्कि इन छह विकारों को तो वे संसार की स्थिति में ही समझते हैं।[2]

चतुर्थ पाद में एक ऐसे विषय पर विवाद उठाया गया है, जो निरुक्त की और आधुनिक भाषा-विज्ञान की भी आधार-शिला है। वह है—शब्दों का धातुज-सिद्धान्त। इसका अभिप्राय है कि क्या सभी नाम धातुओं से बने होते हैं या स्वतः निष्पन्न होते हैं? यास्क इस मत के पोषक हैं कि सभी शब्द आख्यातज हैं, जिसे सिद्ध करने के लिए ही सम्पूर्ण निरुक्त की रचना हुई है। अस्तु, इस विवाद में दो पक्ष हैं—एक पक्ष कहता है कि सभी नाम आख्यातों से उत्पन्न हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं शाकटायन नामक वैयाकरण और सभी निरुक्तकार। दूसरी ओर गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण डटे हुए हैं कि सभी नाम आख्यातज नहीं हैं।[3]

शाकटायन बहुत पुराने और प्रसिद्ध वैयाकरण हैं, क्योंकि इनका उल्लेख ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, अथर्व-प्रातिशाख्य तथा पाणिनि सूत्रों में भी हुआ है। इनके सिद्धान्त के अनुसार ही उणादि-सूत्रों की रचना हुई है, जिसकी मूलभित्ति यही है कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति हो सकती है। सम्भव है

---

१. उत्पत्तिसत्तापरिणामवृद्धिक्षया विनाशश्च इति प्रकाराः।
भावस्य जन्मस्थितिसंहृतीनां विकासहेतौ खलु षड् वदन्ति॥

२. तुल० शां० भा० १।१।२—यास्कपरिपठितानां तु 'जायतेऽस्ति' इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले सम्भाव्यमानत्वात् मूलकारणाद् उत्पत्तिस्थितिनाशाः जगतो न गृहीताः स्युरित्याशङ्क्येत।

३. तुल० महाभाष्य ३।३।१ पर,
'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्।
कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढिभवं हि सुसाधु॥ १॥
नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥ २॥'

कि शाकटायन ने उणादि-सूत्रों की रचना प्रारम्भ कर दी हो, जिसका आधुनिक रूप बहुत पीछे दिया गया।[१] डा० बेलवलकर[२] उणादि-सूत्रोंको पाणिनि की ही कृति मानते हैं, किन्तु यह भ्रान्त धारणा है। उनका यह तर्क कि पाणिनि की शब्दावली (जैसे ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, लोप, सम्प्रसारण और अभ्यास) का प्रयोग उणादि-सूत्र में है, यह निष्कर्ष नहीं निकलने देता है, क्योंकि इन संज्ञाओं का प्रयोग बहुत पहले से ही होने लगा था, स्वयं यास्क ने ही इनमें से कुछ का प्रयोग किया है। गार्ग्य भी प्राचीन वैयाकरण ही हैं, जिनका उल्लेख यास्क और पाणिनि करते हैं। इनके मत से सहमति रखनेवाले पाणिनि और पतञ्जलि हैं, जो उणादि को अव्युत्पन्न मानते हैं। दुर्गाचार्य ने गार्ग्य को सामवेद का पद-पाठकार माना है।

गार्ग्यका कहना है कि जिन शब्दों की व्युत्पत्ति हम व्याकरण की आज्ञा मानकर कर सकें, अर्थात् जब शब्द में विद्यमान धातु का अर्थ शब्द के अर्थ से सामञ्जस्य रखता हो, उसकी रचना भी हम व्याकरण के द्वारा सिद्ध कर सकें तभी किसी शब्द को व्युत्पन्न मानने का हमें अधिकार है, अन्यथा शब्द अव्युत्पन्न हैं, जैसे—गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती। इस प्रकार वे व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न शब्दों की विभाजन-रेखा बनाकर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए निम्नलिखित प्रमाण देते हैं[३]—

(१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो नाम में विद्यमान आख्यात से जिन-जिन वस्तुओं का सम्बन्ध होता उन सबों का एक ही तरह का नाम होता, जैसे 'अश्व' में अश्-धातु है जिसका अर्थ है तय करना; तो जो-जो चीजें (सवारियाँ) रास्ता तय करतीं उन सभी को 'अश्व' ही कहा जाता। इसके उत्तर में यास्क कहते हैं कि यह देखने में आता है कि एक क्रिया से सम्बद्ध सभी चीजों या व्यक्तियों में से कुछ को तो क्रिया से सम्बन्ध बतलानेवाला नाम दे देते हैं, कुछ को नहीं। √तक्ष् का अर्थ है लकड़ी काटना, अब सभी लकड़ी काटनेवालों को 'तक्षा' न कहकर बढ़ई को ही कहते हैं, उसी में यह शब्द रूढ़ हो गया। सभी घूमनेवालों को 'परिव्राजक' न कहकर केवल संन्यासियों को ही परिव्राजक कहते हैं। लौकिक परम्परा ही इसका निर्णय करती है। इससे धातुज-सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

---

१. उणादि के कुछ सूत्र निश्चित-रूप से पाणिनि के पूर्व लिखे जा चुके थे। पाणिनि ने अपने 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (७।२।९) सूत्र में उणादि के कुछ प्रत्ययों का उल्लेख किया है। यह सिद्ध करता है कि कम से कम ये सूत्र तो पाणिनि के पूर्व ही से थे। फिर भी पाणिनि की दृष्टि में विशेष-पदार्थ से निकले न होने के कारण ये अव्युत्पन्न हैं। वस्तुतः उणादि-सूत्र पाणिनि के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। पूर्वोक्त सूचना के लिए मैं अपने अनुसन्धान-गुरु डा० सातकड़ी मुखर्जी का बहुत कृतज्ञ हूँ।

२. Systems of Sanskrit Grammar, p. 25.

३. निरुक्त १।१२–१४।

(२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जिन-जिन क्रियाओं से किसी वस्तु का सम्बन्ध होता, उन सभी के आधार पर उसका नाम पड़ता। जैसे खम्भे को 'दरशया' कहते क्योंकि यह छेद में सोती है, शहतीर धारण करने के कारण उसे 'आसञ्जनी' भी कह देते। इसके उत्तर में भी यास्क यही कहेंगे कि वस्तु से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक क्रियाओं में से कुछ को ही ऐसा सौभाग्य मिलता देखा जाता है कि उसके आधार पर ही वस्तु का नामकरण हो। सबों के आधार पर नामकरण न तो सम्भव ही है और न उचित ही। किसी प्रधान कर्म के आधार पर नाम रखते हैं (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति)।

(३) यदि नाम में आख्यात मिल ही रहा है तो उसे ऐसा क्यों नहीं रहना चाहिये था कि वह व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध होता और उसका अर्थ भी तुरत मालूम हो जाता, जैसे—'पुरुष' में यदि पुर + √ शी पाते हैं तो इससे अच्छा तो शुद्ध नाम होता 'पुरिशय', 'तृण' की अपेक्षा अधिक शुद्ध होता 'तर्दन' कहना! परन्तु चूँकि ऐसे नाम नहीं हैं इसलिए ये सब अव्युत्पन्न एवं रूढ़ हैं। उत्तर यही है कि ऐकपदिक-काण्ड में (जिसे अव्युत्पन्न शब्दों का संग्रह कहते हैं) कुछ कृदन्त प्रत्ययों से बने शब्द हैं, किन्तु प्रयोग में कम आते हैं। ये आपकी कल्पना के अनुसार ही बने हैं, जैसे—व्रतति, जागरूक इत्यादि।

(४) सभी नामों में आख्यात मानने से किसी शब्द का व्यवहार चल पड़ने पर उसके मूल के विषय में व्यर्थ का विचार करना पड़ता है। मान लिया कि 'पृथिवी' को प्रथ्-धातु (फैलाना) से निकला मानते हैं। अब बैठकर सोचते रहिये कि पृथ्वी को किसने और कहाँ बैठकर फैलाया? इस परिहास को यास्क आड़े हाथों लेते हैं और कहते हैं कि पृथ्वी देखने में तो पृथु (फैली हुई) लगती है न? भले ही किसी ने उसे नहीं फैलाया हो! सभी चीजों का नाम देखकर ही देते हैं।

(५) गार्ग्य फिर कहते हैं कि आपके शाकटायन तो एक तमाशा लगा देते हैं। वे जब देखते हैं कि एक धातु से व्युत्पत्ति करने में अर्थ असङ्गत हो रहा है, बनावट व्याकरण-सम्मत नहीं है तब वे शब्द के टुकड़ों में भी धातु की कल्पना करने लगते हैं, जैसे 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति में इ-धातु और अस्-धातु—दोनों को ही नियुक्त कर लेते हैं। यास्क जवाब देते हैं कि यदि शाकटायन ऐसा करें और असंगत अर्थ में करें तो बुरा है, किन्तु यदि वे संगत अर्थ में ही कर रहे हों तो कोई आपत्ति नहीं। सिद्धान्त का कोई दोष नहीं होता, व्यक्ति भले ही दोषी हो।

(६) आप लोग यह भी मानते हैं कि क्रिया के पहले नाम पड़ जाता है किन्तु बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर वह नाम कैसे पड़ेगा? उत्तर में कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं का नाम तो बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर ही होता है, जैसे—बिल्वाद (एक पक्षी का नाम)। यह पक्षी जन्मते ही तो बेल का फल नहीं खाता पर इसका नाम उस समय पड़ जाता है। 'लम्बचूड़क' पक्षी की लम्बी चोटी बहुत बाद में होती है पर इसे जन्मते समय भी लम्बचूड़क ही कहते हैं।

इस प्रकार निरुक्तकार सिद्ध करते हैं कि सभी शब्दों का निर्वचन सम्भव है। आधुनिक भाषा-विज्ञान का यह लक्ष्य है कि प्रत्येक शब्द के मूल का पता लगायें, उसे रूढ़ कहकर न छोड़ दें। इस दृष्टि से यास्क ने भाषाशास्त्रियों को रास्ता दिखलाया है। सत्य तो यह है कि यास्क ही प्रथम भाषाशास्त्री हैं। प्रो० मैक्समूलर इस सिद्धान्त के विषय में लिखते हैं '............(यास्क मानते हैं कि) प्रत्येक नाम आख्यात से निकला है और वे इसके विरोध में उठाये गये विभिन्न तर्कों का समाधान भी करते हैं—यह वह सिद्धान्त है जिस पर पाणिनि का समस्त प्रस्थान अवलम्बित है और जो वस्तुतः आधुनिक भाषा-विज्ञान का मूल है।'[1] यहाँ पाणिनि से मतलब है उणादि-इत्यादि को लेकर, क्योंकि पाणिनि तो इस दृष्टिकोण से यास्क के विरोधी ही हैं।

भाषा-विज्ञान यद्यपि शब्दों को धातु से निष्पन्न मानता है किन्तु सभी धातु आख्यात (Verbal root) ही होंगे, यह स्वीकार नहीं करता। निर्वचनों के परिशिष्ट में हम यह अच्छी तरह देखेंगे। शब्दों को आख्यातज मान लेने के कई कुपरिणाम हैं, जैसे[2]—

(१) स्वरों के परिमाण[3] का तिरस्कार—यास्क 'अघ' की व्युत्पत्ति करते हैं आ + √हन् से। वे यह नहीं विचार करते कि 'आ' किस प्रकार अपना परिमाण बदलकर 'अ' बन जायगा। वस्तुतः 'अघ' किसी धातु से नहीं बना। मूल भारत-यूरोपीय (Prototype Indo-European) भाषा का शब्द है—अघ् (agh) जिसका अर्थ है 'खराब'; अवेस्ता में 'अग' = बुरा।

(२) स्वरों के गुण का आत्यन्तिक-तिरस्कार—'मुद्गल' शब्द की व्युत्पत्ति

---

१. '.......(Yaska maintains that) every noun is derived from a verbal root and meets the various objections raised against it,—a theory on which the whole system of Panini is based, and which is, in tact, the postulate of modern Philology.' History of Ancient Sanskrit Literature, p. 161.

२. Vide., Dr. Siddheshwar Varma, Etymologies of Yaska, Chap. II.

३. एक ही वर्ग में कालगत-भेद को परिमाण (Quantity) कहते हैं जैसे अ-आ, इ-ई इत्यादि में परिमाणगत (Quantitative) भेद हैं, किन्तु विभिन्न-वर्गों के भेद को गुण (Quality) कहते हैं, जैसे—अ-इ, अ-उ; इ-उ आदि में गुणगत-भेद (Qualitative difference) है। यह भेद यदि स्वाभाविक हो तो उसे स्वर-विकार (Ablant or Vowel Gradation) कहते हैं जैसे Sing, Sang, Sung डा० सुनीतिकुमार चटर्जी इसे अपश्रुति कहते हैं (ODBL)। देखिये—Taraporewala, Elements of the Science of Language. Chap. VIII.

की गई है—√गिल् से। 'इ' का परिवर्तन 'अ' में होना भाषा-विज्ञान के लिए एक समस्या ही है। 'श्मश्रु = श्मन् + √श्रि अर्थात् 'इ' का परिवर्तन 'उ' में। ध्वनि-नियमों का यह साक्षात् तिरस्कार है।

(३) व्यञ्जन-सम्बन्ध का तिरस्कार—'कुल' शब्द √रुज् से वर्ण विपर्यय द्वारा निर्मित माना गया है अर्थात् ज् और क्, र् और ल् परस्पर परिवर्तित होते हैं। क्या सभी जगह ऐसा ही होता है? उसी प्रकार 'क्रुधु' को √क्रुन्द् से निष्पन्न मानते हैं।

(४) कभी-कभी प्रथम व्यञ्जन पर विशेष-ध्यान देकर शेष व्यञ्जनों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। 'ग्रावा' शब्द √ग्रह, से बना है, 'व' के विषय में यास्क ने मौन धारण कर लिया है।

(५) स्वर और व्यञ्जन दोनों का एक साथ भी तिरस्कार कर दिया है। अनस् (गाड़ी) का व्युत्पत्ति है 'आ + √नह्'; यहाँ 'आ' का 'अ' (परिमाण भेद, स्वर का) तथा 'ह्' का 'स' में परिवर्तन असम्भव ही है।

(६) कभी-कभी शब्द में विद्यमान धातु से अधिक अक्षरों का धातु देकर यास्क व्यर्थ का परिश्रम करते हैं 'अन्धस्' की व्युत्पत्ति उन्होंने दी हैं 'आ + √ध्ये' जिसमें केवल 'ध्' की ही आवश्यकता थी। भारत-यूरोपीय भाषा में 'अन्धोस् (andho's)' = फूल।

ये सभी दोष इसलिए हैं कि उन्होंने स्वतःसिद्ध शब्दों में (जो मू० भा० यू० में क्रिया के रूप में न होकर संज्ञा और विशेषण के ही रूप में थे) भी धातु खोजने की चेष्टा की है। यह दोष धातुज-सिद्धान्त के आत्यन्तिक प्रयोग के फल-स्वरूप ही है। इन कमजोरियों के होते हुए भी यह सिद्धान्त बहुत महत्त्व रखता है क्योंकि व्युत्पत्ति दिये गये कुछ शब्द भले ही हमें वैदिक-संस्कृत में न मिलें पर भारत-यूरोपीय भाषा के अन्य खण्डों में मिलते हैं जैसा कि डा० सिद्धेश्वर वर्मा का निरक्षण है—'यह सिद्धान्त भले ही कई दशाओं में हानिकारक हो, किन्तु एक ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे पता चलता है कि इसकी कई व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्ध रखती हैं जिनका सम्बन्ध या मूल प्राचीन भारतीय भाषा में प्राप्य न हो, किन्तु दूसरी भारत-यूरोपीय-भाषाओं में प्राप्त है।"[१] प्रो० मेक्समूलर भी इस सिद्धान्त की प्रशंसा में लिखते हैं—कि इस समय भी, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान ने शब्दों की उत्पत्ति पर जो भी नया प्रकाश डाला है

---

१. 'But the theory, however disastrous in many respects, has a palliating feature in the fact that most of the derivations relate only to those words for which relations or origin, though not available in Old Indo Aryan are to be found in other Indo-European languages.' Etymologies of Yaska, p. 25.

उसके साथ भी, इस तरह के प्रश्न (शब्दों की उत्पत्ति के) यास्क की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद-रूप से सरल किये जायेंगे।[१]

प्रथम-अध्याय में अब केवल एक ही विषय की विवेचना बच रही है और वह है निरुक्त को उपयोगिता। यास्क के अनुसार निरुक्त कई विषयों के लिए उपयोगी है—

(१) आरम्भ में ही 'समाम्नायः समाम्नातः, स व्याख्यातव्यः' लिखा है। इसका अभिप्राय है कि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करना निरुक्त का काम है, अर्थात् निरुक्त भाष्य है। दुर्गाचार्य निरुक्त को भाष्य कहते हैं। विन्तरनित्स (Winternitz)[२] यास्क को प्रथम भाष्यकार मानते हैं तथा पतञ्जलि को वे अपनी अलंकृत-शैली में 'भाष्यकारों का राजकुमार' कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का अर्थबोध कराना निरुक्त का प्रथम कार्य है।

(२) 'इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते'—चूँकि निरुक्त शब्दों के अर्थ का निर्णय करता है और यास्क उनका प्रयोग दिखलाने के लिए वैदिक मन्त्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या करते हैं, इसलिए मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान भी निरुक्त के द्वारा होता है। प्रायः ६०० मन्त्रों की व्याख्या यास्क ने की है। वैदिक साहित्य भर में मन्त्रों का अर्थ यदि कहीं हुआ है तो निरुक्त में ही। आधुनिक अर्थकारों को यास्क से काफी सहायता मिली है।

(३) निरुक्त एक विद्यास्थान (Science) है, प्राचीन काल के चौदह विद्या-स्थानों में इसकी गणना है।[३] यह व्याकरण का पूरक भी है क्योंकि व्याकरण शब्दों की रचना (बहिरङ्ग) की व्याख्या करता है तो निरुक्त उनके अर्थ (अन्तरङ्ग) की खोज करता है। इसके लिए वह शब्दों की प्रकृति का पता लगाकर उसके अर्थ से संगति दिखाते हुए पूरे शब्द के अर्थ का अनुसन्धान करता है। किन्तु व्याकरण पर वह सर्वस्व अर्पण नहीं कर देता,[४] क्योंकि व्याकरण की बनावट (शब्द-संस्कार या वृत्तियाँ) अपवाद (विशय) से भरी होती है। फिर भी व्याकरण और निरुक्त में अविच्छिन्न सम्बन्ध है।[५]

---

१. 'I doubt whether even at present, with all the new light which Comparative Philology has shed on the origin of words, questions like these could be discussed more satisfactorily than they were by Yaska.' Hist. of Anc. Skt. Lit. p. 168.

२. Winternitz, Geschichte der Indischen Litterature, Vol. III, p. 379.

३. तुलनीय—'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥' (या० स्मृ०)
अर्थात् पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ६ वेदाङ्ग, ४ वेद = १४ विद्यास्थान हैं।

४. न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। (नि० २।१)

५. देखिये—भूमिका का षष्ठ परिच्छेद।

(४) यज्ञ में भी निरुक्त से काफी सहायता मिलती है क्योंकि इसके द्वारा ही 'किस मन्त्र में कौन देवता है'——इसका निर्णय किया जा सकता है और तभी किसी देवता को हविष् देने के लिए किसी विशेष मन्त्र का उच्चारण सम्भव है। कभी-कभी किसी मन्त्र में कई देवता रहते हैं जिसका पता निरुक्त ही लगाता है कि किसे प्रधानता दी गई। इस गुण के कारण निरुक्त कर्मकाण्ड और पूर्वमीमांसा का भी पूरक कहा जा सकता है।

(५) 'इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते (ज्ञायते)'——निरुक्त के द्वारा ही किसी पद को उसके विभिन्न खण्डों में बाँट सकते हैं क्योंकि अर्थ न जाननेवाला यह नहीं समझ सकता कि किसी पद में एक ही शब्द है या दो शब्द, जैसे——'अवसाय पद्वते०' = पैरवाले भोजन के लिए, अवस = भोजन——इसमें अव् धातु और अस् प्रत्यय हैं दोनों मिलकर ही पद बनाते हैं इसलिए 'अवस' एक पद है जिसका चतुर्थी एकवचन में रूप है——अवसाय (= भोजन के लिए)। किन्तु 'अवसाय अश्वान्' = घोड़ों को खोलकर——यहाँ अव उपसर्ग है, √स्यो (खोलना) धातु से ल्यप् प्रत्यय (पूर्वकालिक) लगा है, इसलिए दो पद होने के कारण इसमें पद-विभाग करना पड़ता है तथा पद-पाठकार 'अवऽसाय' ऐसा इसका पदपाठ करते हैं। एक ही तरह के पद में, कभी एक शब्द, कभी दो शब्द हो जाते हैं, इसे निरुक्त न जाननेवाले नहीं समझ सकते हैं।[१]

(६) अर्थज्ञान का महत्त्व भी इसके द्वारा जाना जा सकता है। ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती ही है। वेदों का अर्थ विना जाने हुए उन्हें केवल रट जाना निष्फल है। इसलिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक है।

(७) अन्त में, हम आधुनिक भाषा-विज्ञान की दृष्टि से निरुक्त की उपयोगिता पर विचार कर सकते हैं। यहाँ पर संक्षेप में ही कहेंगे। भाषा-विज्ञान की एक शाखा है——अर्थविज्ञान (Semantics) जिसकी ओर लोगों का ध्यान विगत-शती के अन्त में ही आकृष्ट हुआ जबकि ब्रील (Michael Breal) ने सन् १८९८ ई० में अपना ग्रन्थ 'एसे द सिमन्तिक्' (esse de Semantique) फ्रेंच में लिखा। यास्क इस विज्ञान की नींव विक्रम के कई सौ वर्ष पूर्व दे चुके थे। अर्थ में किस प्रकार का परिवर्तन होता है——इसका निर्देश वे स्पष्टरूप से करते हैं जिसे हम यथास्थान (सप्तम परिच्छेद) देखेंगे। डा० लक्ष्मण सरूप निरुक्त की 'व्युत्पत्ति-विज्ञान, भाषा-विज्ञान और अर्थविज्ञान का सबसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थ' कहते हैं।[२] फिर भी व्युत्पत्तिविज्ञान (Etymology) में तो निरुक्त की तुलना ही नहीं है।

---

१. Vide——Siddheshwar Varma, Etymologies of Yaska,, Chap. IV. and Skold, The Nirukta, and the Padakaras.

२. The Nigh. and the Nirukta, Subtitle, 'The Oldest Indian Treatise on Etymology, Philology, and Semantics'.

मन्त्रों के अर्थ के विषय में यास्क द्वारा उठाये गये एक और विवाद पर विचार कर लेना अयुक्त न होगा। मन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में बहुत प्राचीन काल से ही शङ्कायें उठायी जाने लगी थीं। उनके दो पक्ष थे—एक तो लोकायत-मतवाले और दूसरे कर्मकाण्डी। लोकायत (चार्वाक) मत के लोग तो मन्त्रों को इसलिए अर्थ हीन कहते थे कि इनमें ऊल-जलूल बातें भरी पड़ी हैं, वेदों की कोई सत्ता नहीं, इन्हें मानना व्यर्थ है।[1] दूसरी ओर कर्म-काण्डियों का कहना था कि वेदों का कोई वाच्यार्थ नहीं किन्तु उनका पाठ अनिवार्य है, पाठ करने में अर्थ का ध्यान नहीं रहता। हम एक निष्ठा से पाठ करते हैं क्योंकि यही हमारा धर्म है। इनके पक्ष की विवेचना सायणाचार्य ने अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका के स्वाध्याय-प्रकरण में की, जिसमें 'पुरुषार्थानुशासन' (एक अप्राप्त ग्रन्थ) से सूत्रों का उद्धरण देकर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है। आज के कर्मकाण्डी भी पाठ-मात्र में ही वेद की सत्ता समझते हैं किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वेदों के अर्थ में उनका विश्वास नहीं है।

यास्क के विपक्षी कौत्स हैं जिनका कहना है कि मन्त्र अर्थहीन हैं। वे ऊपर कहे गये दोनों पक्षों का समुचित प्रतिनिधित्व करते हैं। यास्क ने उनके प्रत्येक आक्षेप का सफल उत्तर दिया है जिसे पूर्वमीमांसाकार जैमिनि ने अपने सूत्रों में ईष-त्परिवर्तन के साथ ग्रहण कर लिया है। हम यहाँ उनका वर्णन करें—

(१) वेद के शब्दों को योजना ऐसी है कि न तो उनके स्थान पर हम दूसरे पर्यायवाची शब्द रख सकते हैं और न ही उनके क्रम का परिवर्तन कर सकते हैं। सार्थक वाक्यों में तो ऐसा सम्भव था। भले ही झाड़-फूंक करने के निरर्थक मन्त्रों में ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं है। थोड़ा भी परिवर्तन किया कि मन्त्रों की कार्यकरी शक्ति नष्ट हुई। इसलिए वेद के मन्त्र भी निरर्थक हैं। यास्क इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा लोक में भी होता है। अपने दैनन्दिन वार्तालाप में हम ऐसे वाक्य भी बोल जाते हैं जिनके शब्द निश्चित होते हैं और स्थानच्युति नहीं सह सकते। इससे यास्क यह भली-भाँति स्पष्ट कर देते हैं कि वैदिक भाषा से ही लौकिक भाषा की उत्पत्ति हुई है। 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' के द्वारा तो वह इस पर पूरा जोर देते हैं कि दोनों भाषाओं में शब्दों की भी समानता रहती है। ज्ञात होता है कि वे भाषा के ऐतिहासिक विकास के पूर्ण परिचित हैं।

(२) यदि मन्त्र सार्थक होते तो ब्राह्मण-ग्रन्थों के द्वारा उनका प्रयोजन निश्चित करना व्यर्थ हो जाता। ब्राह्मणों में किसी मन्त्र का उद्धरण देकर यह लिखते हैं कि इसके द्वारा अमुक कार्य करे। मन्त्रों के द्वारा ही कार्य का स्पष्टीकरण हो जाने पर ब्राह्मण-ग्रन्थ द्वारा उसका पुनः उल्लेख निरर्थक ही है।

---

१. तुलनीय—त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः।

यास्क इसे आवृत्तिमात्र कहकर छोड़ देते हैं, किन्तु जैमिनि ने भिन्न-भिन्न उदाहरणों के लिए अलग-अलग सूत्र दिये हैं।[1]

(३) अर्थों की असंगति भी वैदिक-मन्त्रों की निरर्थकता सिद्ध करती है—अचेतन वस्तुओं से बात करना पागलपन ही है, किन्तु ऋषि कहते हैं—'हे कुल्हाड़ी ! इसे हानि मत पहुँचाओ', 'हे औषधि ! इसे बचाओ।' यास्क इनका सन्तोषजनक उत्तर नहीं देते। वे कहते हैं कि इनमें वैदिक वाक्य अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। यह उत्तर अव्याप्तिदोष से दूषित है। सभी जड़-पदार्थों के सम्बोधन से तो अहिंसा ही नहीं निकलती। महर्षि बादरायण का 'अभिमानिव्यपदेश:०' (ब्र० सू० २।१।५) या जैमिनी का 'अभिधानेऽर्थवाद:' अधिक सुन्दर उत्तर है।

(४) वैदिक-मन्त्र इसलिए भी निरर्थक हैं कि वे आपस में ही विरोध करते हैं। कभी तो पृथ्वी में केवल एक ही रुद्र होने की बात करते हैं तो कभी हज़ारों रुद्रों को ला बैठाते हैं। कभी इन्द्र को जन्म से ही शत्रुहीन कहते हैं और कभी कहते हैं कि उन्होंने एक साथ ही सैकड़ों सेनाएँ जीत लीं। यह क्या खेल है ? यास्क फिर लौकिक प्रयोग के सामने सिर झुका देते हैं, किन्तु जैमिनि इसे आलङ्कारिक (Figurative) प्रयोग कहकर इसका पूरा स्वागत करते हैं।

(५) वेद में जानकार को भी पुन: विधि बतलाने का नियम है, जो समय का नाश करना ही है। यास्क कहते हैं कि ऐसी बात नहीं, यह अभिवादन है। गुरु के समक्ष हम कहते हैं—'मैं, रामचन्द्र, आपका अभिवादन करता हूँ', यद्यपि गुरु इसे जान रहे हैं कि अभिवादक रामचन्द्र ही है। सम्मान देने के लिए ही ऐसा करने का विधान है।

(६) अर्थ की असङ्गति का ही एक दूसरा उदाहरण है—अदिति को सब कुछ कहना, जैसे—वे ही स्वर्ग हैं, अन्तरिक्ष हैं।[2] ऐसा तो संसार में भी कहते हैं कि पानी में सब रस है। इसलिए यह असङ्गति नहीं है।

(७) इसके अलावे कई मन्त्र अस्पष्ट अर्थवाले हैं। तो सबसे अच्छा है कि उन्हें निरर्थक ही समझ लिया जाय। यास्क कहते हैं कि मन्त्रों के अस्पष्ट लगने में मन्त्र दोषी नहीं, उसे न समझनेवाला व्यक्ति ही दोषी है। खम्भे का दोष नहीं कि अन्धा उसे न देखे और उससे टकरा जाय।

इस प्रकार यास्क सिद्ध कर देते हैं कि मन्त्रों में अर्थ है और उसे जानने के लिए निरुक्त की सहायता अपेक्षित है। स्मरणीय है कि यास्क का ही विवेचन लेकर जैमिनि ने अपने मन्त्राधिकरण[3] का निर्माण किया है। इस स्थान पर यास्क के कुछ वाक्य सूत्र की शैली में लिखे भी गये हैं।

—:०:—

१. जै० सू० १।२।४१–४३ मन्त्राधिकरण। २. ऋग्वेद १।८९।१०

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र:।
विश्वे देवा अदिति: पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

३. जै० सू० १।२।३१–५३ इनका विचार सायण की ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में भी है।

[ख] द्वितीय अध्याय

[द्वितीय अध्याय—क्या द्वितीय अध्याय से ही निरुक्त का आरम्भ हुआ है ?—निर्वचन के सिद्धान्त—शब्दों में परिवर्तन—स्कोल्ड का विचार—वैदिक और लौकिक शब्दों का सम्बन्ध—उपभाषाएँ—अनुबन्ध-चतुष्टय और अधिकारी की जाँच—निघण्टु के शब्दों की व्याख्या—ऋचाओं के उद्धरण—'गौ' के अर्थ-इतिहास-वृत्त का रूपक ।]

हम जानते हैं कि द्वितीय अध्याय के प्रथम-पाद तक निरुक्त की भूमिका ही है और उसके द्वितीय पाद से ही निघण्टु-भाष्य का काम आरम्भ होता है । इसलिए इसके आरम्भिक भाग में कुछ जानने और विचारने की बातें दी हुई हैं । वे हैं—निर्वचन की रीति तथा आदर्श शिष्य की कसौटी जिस पर विद्यार्थी को निरुक्त का अध्यापक कस सके ।

द्वितीय अध्याय का आरम्भ हुआ है 'अथ निर्वचनम्' से, जैसा कि प्राचीन ग्रन्थों का आरम्भ हुआ करता है । प्रथम अध्याय के आरम्भ में 'अथ' का प्रयोग नहीं किया गया है । निघण्टु-भाष्य की भूमिका इतनी ही होनी चाहिए, जितनी द्वितीय अध्याय में है । इसी में निर्वचन की रीति स्पष्ट कर दी गयी है । अतएव कुछ विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रथम-अध्याय को यास्क ने भूमिका के रूप में लिखकर पीछे से जोड़ दिया है, आरम्भ तो निरुक्त का द्वितीय अध्याय से ही है । परन्तु यह सिद्धान्त ऊपर से जितना आकर्षक प्रतीत होता है, भीतर से उतना ही खोखला है । प्रथम अध्याय में किये गये निर्वचनों का उल्लेख आगे के अध्यायों में बहुत स्थान पर 'पूर्वमेव व्याख्यातः' कह कर दिया गया है—यह तथ्य इतना तो स्पष्ट कर ही देता है कि उन-उन स्थानों को लिखने के पूर्व ही प्रथम अध्याय लिखा जा चुका था । यदि प्रथम अध्याय पीछे से जोड़ा गया तो यह सम्भव नहीं था । फिर, 'पृथिवी'—जैसे प्रधान शब्द की व्याख्या प्रथम अध्याय में ही है अन्यत्र कहीं नहीं । इसलिए 'अथ' से आरम्भ न होने पर भी प्रथम अध्याय निरुक्त का आरम्भिक अध्याय है ।

यास्क के निर्वचन की रीति निम्न प्रकार की है—

(१) जब किसी शब्द में वर्तमान धातु का वही अर्थ हो, जो उस शब्द का है, स्वर या बनावट के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं हो, और व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के द्वारा ही उसकी बनावट सिद्ध की जा सके, तब ऐसे शब्दों का निर्वचन सामान्य रीति से ही करें, जैसे—'धातु' की व्युत्पत्ति √धा (धारण करना) से (१।२०) की गयी है । यहाँ तक निर्वचन की रीति

व्याकरण से मेल रखती है तथा वैज्ञानिकता से सम्बद्ध है। निरुक्त की निरुक्तियों का विचार हम यथास्थान करेंगे।[१]

(२) जब शब्द में दिखलाई पड़नेवाले धातु का अर्थ शब्द से भिन्न हो, या शब्द का अर्थ रखनेवाले धातु से उस शब्द की सिद्धि करने में व्याकरण बाधक हो तब हम उस शब्द के विभिन्न-रूपों की तुलना धातु के विभिन्न रूपों से करेंगे। कहीं पर भी समानता पा लेने पर निर्वचन कर लें, जैसे—'राजा' की व्युत्पत्ति √राज् (शोभना) से की जाती है क्योंकि राजा भी राज्य में शोभते हैं (राजन्ते)।[२]

(३) जब इस प्रकार की समानता न मिले तो अर्थ देखकर, धातु और शब्द में एक-आध स्वर या व्यञ्जन की भी समानता को आधार मानकर निर्वचन कर दें, जैसे—'रूप' की व्युत्पत्ति है √ रुच् (अच्छा लगना) से, जब कि दोनों में केवल रकार और उपकार की ही समानता है।[३]

यास्क के पिछले दोनों सिद्धान्त अवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। उनका सिद्धान्त है कि कोई भी ध्वनि किसी ध्वनि के रूप में बदल सकती है[४], भले ही उनमें कोई स्वाभाविक सम्बन्ध न भी हो। यह भाषा-विज्ञान के ध्वनि-सिद्धान्त के विरुद्ध है। वैज्ञानिक-सिद्धान्त यह है कि कुछ निश्चित ध्वनियाँ ही किसी निश्चित-रूप में किसी निश्चित समय पर बदलती हैं। 'न संस्कारमाद्रियेत' एक बहुत बड़ी वैज्ञानिक भूल है। निर्वचन की अनिवार्यता पर वे कहते हैं—'न त्वेव न निर्ब्रूयात्।' निर्वचन करने में अपनी असमर्थता कभी न दिखावें, नहीं तो बहुत बड़ा अनर्थ होगा कि सभी शब्दों को धातुज मानने का सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, शब्दों में किस प्रकार का परिवर्तन होता है, इसका भी सविस्तार विवेचन यास्क ने किया है—

(१) धातु के कुछ रूपों आदि-अक्षर ही बचता है और सभी अक्षर लुप्त हो जाते हैं, जैसे—प्र + √दा + क्त = प्रत्त। इसमें (प्र 'त्' त) √दा का केवल द् ही त् के रूप में अवशिष्ट है।

(२) कहीं-कहीं आदि स्वर का लोप हो जाता है, जैसे √अस् का गुणवृद्धि से रहित स्थानों में—स्तः, सन्ति। भाषाविज्ञान भी इसे स्वीकार करता है तथा आदि स्वर-लोप (Aphesis, Aphaeresis) कहता है। उदाहरण हैं—अपिनद्ध > पिनद्ध, अवगाह्य > वगाह्य, Esquixre—Squire इत्यादि। महाभाष्य में इसके

१. तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्।

२. अथानन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे, अर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

३. अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्।

४. Skold, The Nirukta, P. 179.

लिए एक कारिका भी है—'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।' कालिदास ने भी ऐसे कई प्रयोग किये हैं ।[१]

(३) कहीं-कहीं धातु के अन्त्य-अक्षर का लोप हो जाता है, जैसे √गम्—गतः, गत्वा ।

(४) कहीं-कहीं मध्यम स्वर (उपधा) का भी लोप हो जाता है (Syncope) जैसे—√गम् > जग्मतुः, जग्मुः, में 'ग' के अकार का लोप ।

(५) ह्रस्व स्वर के बाद अनुनासिक-वर्ण रहने से दीर्घ-स्वर हो जाता है और अनुनासिक का लोप भी (यास्क के शब्दों में, उपधा-विकार) हो जाता है—राजन् > राजा, दण्डिन् > दण्डी ।

(६) वर्णलोप—दूसरे व्यञ्जन के पूर्व व्यंजन का लोप,[२] जैसे—तत्त्वा | तत्वा ।

(७) द्विवर्णलोप—त्र्यृच > तृच । (र् और य् का लोप)

(८) शब्द के प्रथम व्यंजन का विकार—द्युत > ज्योतिः ।

(९) दोनों ओर के व्यञ्जन परस्पर स्थान बदल सकते हैं, जैसे—√श्चुत > स्तुच् > स्तुक् > स्तोकः । इसे वर्ण-विपर्यय कहते हैं, जैसे—सिंह की व्युत्पत्ति √हिंस् से ।

(१०) अन्तिम व्यञ्जन का विकार—(हकार का घ् या ध् होना)—√वह > ओघः, √वह् > वधूः तथा √मद् > मधु ।

(११) अन्तःस्थ-वर्ण रहने से सम्प्रसारण-विकार भी हो सकता है; जैसे—√अव् > ऊति, √म्रद् > मृदु ।

भाषा परिवर्तन में ये सभी विकार सहायक होते हैं किन्तु ये अनियमित (Sporadic) हैं, किस स्थान में होंगे नियम बनाना बड़ा कठिन है । दुर्गाचार्य ने इन नियमों में कुछ को चुनकर निरुक्त का लक्षण किया है[३]—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥

किसी शब्द का निर्वचन करने के लिए ध्वनि-विकार के ये सिद्धान्त भाषा-विज्ञान को भी मान्य हैं—वर्णागम (कई प्रकार के), (२) वर्ण-विपर्यय (Metathesis), (३) वर्णविकार (Change of Syllable), (४) वर्णनाश (Elision of Syllable) और (५) अर्थ के अनुसार धातु से रूप की कल्पना करना ।[४]

---

१. Vide, Dr. T. Chowdhury, Linguistic Aberrations in Kalidasa's Writings, P. 3.

२. तुलनीय—झरो झरि सवर्णे (पा० सू० ८।४।६५) ।

३. तुलनीय—भवेद् वर्णागमाद् हंसो सिंहो वर्णविपर्ययात् ।
गूढोत्मा वर्णविकृतेः वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥

४. इन विकारों तथा अन्य विकारों के लिए देखें—डॉ० भोलानाथ तिवारी का 'भाषा-विज्ञान' ।

डा० स्कोल्ड[1] कहते हैं कि यास्क के उदाहरण या अनुभव (observation) ठीक हैं किन्तु उनसे निकाले गये निष्कर्ष गलत हैं, क्योंकि वे अतिव्यापक हैं। √गम् से उपधा का लोप होने पर 'जग्मतुः' बनता है—इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु यह कहना कि सभी उपधाओं का लोप हो सकता है, गलत है। कारण यही है कि ये सभी ध्वनियाँ अनियमित रूप से विकृत होती हैं।

वस्तुतः यास्क ने निर्वचन-सिद्धान्त के प्रदर्शन के क्रम में अपने व्यापक निरीक्षणों का निर्देश किया है कि ऐसी सारी परिस्थितियों को निर्वचन देने के समय ध्यान में रखना चाहिए। शब्दों में उपर्युक्त विकारों को हम व्यापक सिद्धान्त का रूप नहीं दे सकते, क्योंकि ये कतिपय उदाहरणों में ही प्राप्त होने वाले विकार हैं। कहीं-कहीं ऐसा होता है, सर्वत्र नहीं। इसके अतिरिक्त आख्यात तथा नाम के प्रयोग में देशगत-कालगत अन्तर भी होता है। निर्वचन करने वाले को इन सबों पर ध्यान रखना है। यद्यपि आधुनिक वैज्ञानिक को भाषा-शास्त्र के अद्यतन विकास के परिप्रेक्ष्य में यास्क में कई त्रुटियाँ मालूम होंगी, पाणिनि में अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिकता मिल सकती है—तथापि यास्क के अपने निर्वचन सिद्धान्तों तथा निरीक्षणों की पार्श्वभूमि में यदि हम उनकी समीक्षा करें तो कहीं भी स्खलन नहीं मिलेगा।

यह स्थान यास्क के भाषा-शास्त्रीय ज्ञान का बहुत सुन्दर प्रदर्शन करने वाला है। इसी सम्बन्ध में वे संकेत करते हैं कि वैदिक धातुओं से संस्कृत शब्द बनते हैं तथा संस्कृत के धातुओं से वैदिक शब्द भी बनते हैं। यह उनके अनुभवों का आदर्श है। चूँकि वैदिक भाषा से ही संस्कृत का विकास हुआ है, इसलिए यह कहना तो ऊपर से विरोधार्थक प्रतीत होता है कि संस्कृत-धातुओं से वैदिक शब्द बनते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि जिन धातुओं से इन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति होती है वे क्रिया के रूप में वैदिक भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, किन्तु संस्कृत भाषा में होते हैं। इसी प्रकार कुछ धातु ऐसे भी हैं जो वैदिक भाषा में क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं, धीरे-धीरे उनका यह प्रयोग समाप्त हो जाता है तथा संस्कृत में उनसे बने शब्द भर ही प्रयोग के योग्य रह जाते हैं। शब्दों के प्रयोग, विकार आदि में सबसे बड़ा अधिकारी लौकिक प्रयोग ही है। जनता शब्द का जैसा व्यवहार कर दे। यास्क पहले भी 'अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्' के द्वारा वैदिक और संस्कृत भाषाओं का सम्बन्ध बतला चुके हैं। निघण्टु तथा प्रायः ६०० वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या करने वाले यास्क को यह पता लगाने में कठिनाई नहीं हुई होगी कि वैदिक से ही संस्कृत का विकास हुआ है।[2]

---

1. Skold, The Nirukta, P. 182—'His observations are correct but his conclusions are wrong because too general.'

2. Dr. L. Sarup, The Nighantu and the Nirukta, Eng. Trans. P. 223.

संस्कृत भाषा बोली जाती थी तथा इसकी उपभाषाओं में पारस्परिक अन्तर भी था जिसे यास्क और पतञ्जलि दोनों ने ही पहचाना है। यास्क की दृष्टि भी कितनी सूक्ष्म है? धातु का प्रयोग लोग एक प्रान्त में करते हैं और उससे बने हुए शब्द का दूसरे ही प्रदेश में। शव्—क्रिया (=जाना) का प्रयोग कम्बोज-देश में, और शव (संज्ञा) का प्रयोग आर्य लोग करते हैं। √दा (=काटना) प्राच्य-देश में तथा 'दात्र' उदीच्य-देश में वोलते हैं। पतञ्जलि भी ऐसी उपभाषाओं का नामोल्लेख करते हैं (देखिये महाभाष्य १।१।१)।

यास्क आर्यदेश को प्राच्य और उदीच्य से भिन्न मानते हैं यद्यपि आर्यदेश की भाषा से इन दोनों देशों की भाषायें बहुत प्रभावित थीं। यास्क के समय इन देशों की भाषाओं को लोग शिष्ट नहीं मानते थे। केवल आर्य-भाषा ही शिष्टों की भाषा थी जिसका अनुकरण अन्य भाषायें कर रही थीं। भाषाओं के क्षेत्रीय-विभाजन का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है।[१]

अपने निर्वचनों के उपर्युक्त नियमों को यास्क ने 'एकपर्व' माना है अर्थात् उन शब्दों में एक ही जोड़ है, एक बार में शब्द से धातु तक पहुँच जाते हैं। तद्धित और समासों को अनेकपर्व कहते हैं क्योंकि इनका सीधा निर्वचन सम्भव नहीं। इनके लिए यास्क ने दो और सिद्धान्त जोड़ दिये हैं—तद्धितान्त शब्दों को पहले तोड़ दें तब उनका निर्वचन करें। जैसे—दण्ड्य < दण्ड < √दम्। समासों का भी इसी प्रकार निर्वचन करें अर्थात् विग्रह करके शब्दों को अलग-अलग कर लें, पश्चात् उन अकेले (एकपर्ववाले) शब्दों का निर्वचन करें जैसे—राजपुरुष < राजा का पुरुष। इसके वाद इन दोनों शब्दों का अलग-अलग निर्वचन करें। इन नियमों का पालन यास्क ने पूर्णतया किया है।

प्राचीन भारत में किसी शास्त्र के आरम्भ में चार अनुबन्धों का ज्ञान करना बहुत जरूरी था। ये अनुवन्ध हैं—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन।[२] अधिकारी का निरूपण विना किये हुए किसी भी शास्त्र का आरम्भ नहीं होता था। निघण्टु-जैसे ग्रन्थ का भाष्य पढ़ाने के पहले अध्यापक को अपने शिष्य की परीक्षा कर लेनी चाहिए। इसीलिए यहाँ निरुक्त के उपदेश के अधिकारी किसी योग्य शिष्य को चुनना जरूरी समझा गया है। योग्य शिष्य में ये गुण होने चाहिये—व्याकरण-ज्ञान, शिष्य बनकर पढ़ने की इच्छा, निरुक्त को जानना (श्रद्धा रखना), मेधावी और तपस्वी होना। दोष ढूँढ़नेवाले, टेढ़े या असंयमी शिष्य को निरुक्त न पढ़ाये। गुरु का द्रोह कभी नहीं करना चाहिये, उन्हें माता-पिता समझे क्योंकि गुरु अत्यन्त परिश्रम से अमरविद्या का दान करते हैं। पढ़ने के वाद जो गुरु का सम्मान नहीं करते, विद्या भी उनका मान नहीं करती। इसलिए पवित्र और अप्रमादी, मेधावी और अद्रोही शिष्य को ही विद्यादान करें।

---

१. देखिये—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी—Indo-Aryan and Hindi, Old Indo-Aryan.

२. सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।

इस भूमिका के बाद से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या आरम्भ हुई है। द्वितीय अध्याय में ही निघण्टु के प्रथम अध्याय को समेट लिया गया है किन्तु प्रत्येक खण्ड (पर्यायों के समूह) से प्राय: एक ही शब्द का निर्वचन किया गया है। निर्वचन की शैली हम देख ही चुके हैं। इसलिए यहाँ सामान्य-रूप में ही वर्णन अपेक्षित है।

निघण्टु के प्राय: पचास शब्दों के निर्वचन-क्रम में १६ पूरी-पूरी ऋचाएँ उद्धृत की गयी हैं और उनकी व्याख्या भी की गयी है। निघण्टु के शब्दों की व्याख्या करते हुए यास्क यह ध्यान में रखते हैं कि शब्दों के जितने भी अर्थ सम्भव हैं, उन सबों तक व्युत्पत्ति के द्वारा ही पहुँच सकें और इस प्रकार कोई अर्थ छूटने न पाये। यदि शब्द के सम्बन्ध में कोई आख्यान आदि हो तो उसका उल्लेख करना भी यास्क नहीं भूलते। अथवा किसी शब्द का प्रयोग जिस ऋचा में हुआ है, उस ऋचा से भी सम्बद्ध इतिहास का वर्णन ये कर देते हैं। कभी-कभी पूरी ऋचा लिखने के बाद उसके कतिपय चरणों को अलग-अलग उद्धृत करके भी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार यास्क शब्दों के हरेक पहलू पर पूर्ण विचार करते हुए आदर्श-व्याख्याकार के रूप में उपस्थित होते हैं।

'गौ'—शब्द यद्यपि पृथ्वी के पर्याय में पढ़ा गया है, किन्तु इसका अर्थ पशु-विशेष भी है। पशु-अर्थ वाले 'गौ' शब्द के अर्थ कभी-कभी लक्षणा से भी लगते हैं।[१] जैसे—'गो-दुग्ध, गो-चर्म, गौ की ताँत कफ आदि। सूर्य को तथा उसकी किरणों को भी गौ कहते हैं। इसका कारण प्रो० मेकडोनल (Macdonell) ने बताया है कि सूर्य की किरणों को प्रात:काल निकलती देखकर प्राचीन आर्यों की कल्पना होती थी कि गायें अपने रात्रिवास से निकलकर गोचर-भूमि की ओर जा रही हैं। गायों के समान सूर्य भी रात में विश्राम करता हुआ प्रतीत होता था। इसी प्राकृतिक समानता को देखकर 'गौ' शब्द आदित्य के अर्थ में प्रचलित हो गया। अर्थ ऐसे ही बदलता है।[२]

'निर्ऋति' का निगम दिखलानेवाली ऋचा का अर्थ परिव्राजकों के सम्प्रदाय में ब्रह्मचर्योपदेश-परक किया जाता है। वह मनुष्य जो गर्भाधान करता है वह वास्तविकता नहीं समझता, क्योंकि वह वासना की दशा में या पुत्रोत्पादन के लिए ऐसा करता है। गर्भ छिपा रहने के कारण वह जानने के बाद भी अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता। धीरे-धीरे सन्तानों की संख्या बढ़ती जाती है और उनके पोषणार्थ पर्याप्त साधन न जुटाने के कारण निर्धन व्यक्ति दु:ख में पड़ता है—बहुप्रजा: निर्ऋतिमाविवेश। परिव्राजकों की अन्य व्याख्या के अनुसार गर्भाधान करने वाला व्यक्ति पुनर्जन्म में लिप्त होकर दु:खी होता है। नैरुक्त-सम्प्रदाय में इसे वर्षा-

---

१. देखिये—काव्यप्रकाश, २. 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।'

Cf. Metonymy—He drank the cup (=milk in it)

२. Taraporewala, Elements of the Science of Language, Semantics. या डा० भोलानाथ तिवारी का भाषाविज्ञान (अर्थविचार) देखें।

परक अर्थ में लिया जाता है—मेघ को वर्षा-जल के उत्पत्तिस्थान का पता नहीं। वह अन्तरिक्षस्थ मेघ से आच्छन्न है, जो इसे गिरता देखता है। अन्तरिक्ष में वह वाष्प के रूप में रहकर, फूलता हुआ, सम्पन्न होकर वर्षाजल के रूप में पृथ्वी (निर्ऋति) पर गिरता है।

इस सम्बन्ध में शाकपूणि का एक आख्यान आता है। वे समझते थे कि किसी भी मन्त्र के देवता को पहचान ले सकते हैं। उनके इस गर्व पर दो चिह्नवाले देवता प्रकट हुए, जिन्हें वे न पहचान सके। देवता ने स्वयं ही अपनी पहचान बता दी। एक दूसरे इतिहास का वर्णन है कि कुरुवंश में ऋष्टिषेण के दो पुत्र थे—देवापि और शन्तनु। छोटे भाई शन्तनु ने अपना राज्याभिषेक करा लिया और देवापि तपस्या करने लगा। इस अधर्म के कारण शन्तनु के राज्य में १२ वर्षों तक पानी नहीं बरसा। ब्राह्मणों ने उसके अधर्म की ओर संकेत किया। इस पर शन्तनु ने देवापि को राज्य लेने के लिए कहा, किन्तु देवापि ने केवल एक यज्ञ कराने को वचन दिया, जिससे वर्षा हो। इस इतिहास से तात्कालिक समाज का एक अच्छा चित्र उपस्थित होता है कि एक ही वंश में उत्पन्न एक भाई ब्राह्मण का कार्य तपस्या करता है, दूसरा क्षत्रिय-कर्म राज्य-संचालन में लगा रहता है।

पुराणों में जिस वृत्र का इतनी अतिरंजकता के साथ वर्णन हुआ है, उसके विषय में यास्क कहते हैं कि यह और कुछ नहीं, मेघ ही है। जल और प्रकाश के मिश्रण से जब वर्षा होती है, तब मालूम होता है कि युद्ध हो रहा है, जिसका वर्णन लोग करते हैं। मन्त्रों और ब्राह्मणों में उसे साँप मानते हैं। अपने बड़े शरीर से उसने जल-प्रवाह रोक लिया, इन्द्र ने जब उसे वज्र से मारा, तब जल प्रवाहित हुआ। इसकी वास्तविकता यह है—आकाश में मेघ लगे हुए हैं, किन्तु वर्षा नहीं हो रही है, मानो किसी (= वृत्र) ने पानी को रोक रखा है। अकस्मात् बादल टकराते हैं और जोरों से बिजली कौंधती हुई गजरती है। यह हुआ इन्द्र का वज्र से मारना। सम्भव है कुछ देर बाद वर्षा होने लगे। लीजिये, साँप मर गया, जल का प्रवाह चल पड़ा। यह बिलकुल सच है कि वेदों में जिसका रूपक बाँधा गया, उपनिषदों ने उसे शुद्ध रूप में पहचाना—पुराणों में उसी का अतिरञ्जन करके कथाएँ लिखी गयीं।

ऋषि-विश्वामित्र से सम्बद्ध एक और इतिहास है। वे सुदास पैजवन के पुरोहित थे, उससे धन लेकर वे विपाशा और शुतुद्री के संगम पर आये। उनके पीछे-पीछे और लोग भी थे। ऋषि ने नदियों से अल्प जलवाली (थाह) बनने के लिए प्रार्थना की। वेद के कुछ मन्त्रों के द्वारा (ऋ० ३।३३) दोनों का संवाद होता है। नदियाँ अस्वीकार करते-करते भी मान जाती हैं।

निघण्टु प्रथम अध्याय के अन्तिम तीन खण्डों का तो केवल निर्देश ही किया गया है। इस प्रकार दूसरे अध्याय (निरुक्त) का अन्त होता है।

[ग] तृतीय अध्याय

[निघण्टु के द्वितीय-तृतीय अध्याय के शब्दों की व्याख्या–तत्परता–औरस पुत्र की श्रेष्ठता—वशिष्ठ का उपाख्यान—पुत्र का उत्तराधिकार—पुत्री का उत्तराधिकार—तर्क—भ्रातृहीन नारी का उत्तराधिकार—गर्तारुक् शब्द—पुत्री का उत्तराधिकार-निषेध—पञ्चजन—कतिपय प्रातिपदिक-हीन शब्द—उपमा-लक्षण—उसके कर्म तथा प्रकार—रूपकमूला उपमा—शब्दानुकृति—नैघण्टुक काण्ड की समाप्ति]।

निरुक्त के दूसरे अध्याय में निघण्टु के केवल प्रथम अध्याय की ही व्याख्या (या नामोल्लेख मात्र समझें) की गयी है। स्मरणीय है कि निघण्टु के प्रथम अध्याय में सत्रह खण्ड हैं। चूँकि निघण्टु के नैघण्टुक-काण्ड में केवल तीन ही अध्याय हैं, इसलिए अभी भी दो अध्याय बच रहे हैं। अब इन दोनों अवशिष्ट अध्यायों में विद्यमान शब्दों की व्याख्या निरुक्त के तीसरे अध्याय में ही होती है और तीसरे अध्याय तक को नैघण्टुक-काण्ड की संज्ञा दी जाती है। स्थान थोड़ा है और शब्द काफी (२२ + ३० खण्ड), इसलिए शैली जरा तेज हो गयी है। इसे यथा-स्थान मूल पुस्तक में अंकित किया गया है।

तीसरे अध्याय के पूरे प्रथम पाद में यास्क एक बड़े मनोरंजक विषय का विवेचन करते हैं, जब कि अपत्य शब्द की व्याख्या होती है। इस विवेचना से तात्कालिक समाज की व्यवस्था पर पूरा प्रकाश पड़ता है। यही नहीं, यास्क स्मृतिकारों की कक्षा में भी प्रवेश कर जाते हैं। अपत्य का सामान्य अर्थ है संतान। वह पिता से पृथक् होकर फैलता है तथा उससे कारण पिता नरक में नहीं पड़ते। अब पुत्र के अनेक भेदों में औरस पुत्र की श्रेष्ठता का वर्णन सुनें।

एक वैदिक उपाख्यान है कि वशिष्ठ के सभी पुत्र मर गये। उन्होंने पुत्र की कामना से अग्नि की प्रार्थना की। अग्नि ने उनसे पूछा कि दत्तक, क्रीतक, कृत्रिम आदि पुत्रों में किसे चाहते हो। इसी बात पर वशिष्ठ ने औरस (आत्मज) पुत्र की श्रेष्ठता प्रमाणित की एवं दूसरों के जनमे पुत्रों की निन्दा की। उसी प्रसंग की ऋचायें यास्क उद्धृत करते हैं। दूसरे का पुत्र तो कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। उसे जलदान का कोई अधिकार नहीं है। मूर्खों की यह धारणा है कि दूसरों का पुत्र अपना होकर रहेगा। वह तो वहीं लौट जाता है जहाँ से आता है। उसे पैतृक-वंश में रहने का अधिकार नहीं। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे का पुत्र दूसरे वंश में जाकर पूरा अधिकार पाता है। उदाहरण के लिए, ऐतरेयब्राह्मण के शुनःशेप को लें। यद्यपि वह आंगिरस गोत्र का था किन्तु विश्वामित्र ने उसे अपने वंश में ले लिया। यही नहीं, उसकी श्रेष्ठता स्वीकार न

करने वाले अपने औरस (?) पुत्रों को भी शाप दे दिया जिससे वे आन्ध्र, पुलिन्द, म्लेच्छ आदि सीमा पर रहने वाली जातियों में चले गये । इसके विपरीत शुनःशेप को दैविक दायभाग, विद्या आदि उत्तराधिकार[१] भी मिला । आज की ही भाँति उस समय भी अन्य बालकों को वंश में ले आने की प्रथा प्रचलित थी । किन्तु जब औरस ही मिल जाये तब तो उनका प्रश्न ही नहीं उठता । वशिष्ठ को कतिपय विकल्पों के बीच पुत्र चुनना था इसलिए स्वभावतः उन्होंने औरस पुत्र की श्रेष्ठता प्रमाणित की है ।

मनस्मृति के अनुसार[२] पुत्रों के बारह भेद हैं जिनमें ६ दायाद (सम्पत्ति के उत्तराधिकारी) तथा ६ अदायाद हैं । निम्नलिखित पुत्र दायाद हैं—औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध । इसके अलावे कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र—ये छः प्रकार के अदायाद हैं । इनमें प्रत्येक का विस्तृत वर्णन मनु ने नवम अध्याय के १६६ से १८० श्लोकों तक किया है । कुछ भी हो, औरस पुत्र के अभाव में ही इन अन्य प्रकार के पुत्रों को दायाद बनाया जाता है या उनकी महत्ता स्वीकृत होती है ।

पुनः, इसी प्रसंग में दूसरा विवाद यह उठता है कि पुत्र के समान पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है या नहीं । कुछ आचार्यों के अनुसार पुत्री को भी उत्तराधिकार प्राप्त है । इस सम्बन्ध में दुर्गाचार्य कहते हैं कि पुत्री का पुत्र दौहित्र होता है, यदि किसी को पुत्र न हो तो पौत्र भी नहीं होगा किन्तु दौहित्र को ही पौत्र के रूप में वह ग्रहण करेगा । इस प्रकार जब दौहित्र को पौत्र माना जा सकता है तब पुत्री को भी पुत्र माना जाय । दुर्गाचार्य की यह उक्ति वहीं तक संगत है जब मनुष्य पुत्रहीन हो (जब कि दौहित्र को पौत्र का अधिकार मिल सकता है) । किन्तु पुत्री को उत्तराधिकार देने का मतलब है सभी अवस्थाओं में, चाहे पुत्र रहे या नहीं, पुत्री को भी सम्पत्ति का समान अधिकार प्राप्त है । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो आर्य-जातियों में, पुत्र के रहने पर, पुत्री को कभी भी सम्पत्ति का भाग नहीं मिला । हाँ, दौहित्र को अधिकार तभी मिलता था जब पौत्र न हो । पुत्र के रहते हुए पुत्री को उत्तराधिकार देना मुसलमानों में प्रचलित है ।

दुर्गाचार्य का दूसरा तर्क है कि पुत्र और पुत्री के उत्पादन की विधि (प्रक्रिया) एक समान है तथा उन दोनों के संस्कारों में कोई अन्तर नहीं है[३], एक ही मन्त्र

---

१. देखिए, ऐ० ब्रा० ७।३ । २. मनु० ९।१५८–६० ।

३. यैरेव मन्त्रैर्येनैव च विधानेन पुत्रगर्भ अधीयते, तैरेव मन्त्रैस्तेनैव च विधानेन दुहितृगर्भोऽपि ।………येनैव हि विधानेन पुत्रजनने रेत उत्सृज्यते, तेनैव हि दुहितृजननेऽपि । तत्रैवं सति रेत उत्सर्गविध्यविशेषात्प्रजननयज्ञाविशेषाद्वाऽविशेषेण, मिथुनाः = पुरुषाः स्त्रियश्च, उभयेऽपि दायादा इत्येवमेके धर्मविदो मन्यन्ते—दुर्गः (नि० ३।४) ।

दोनों के संस्कार-कार्यों में प्रयुक्त होते हैं। यह तर्क मूल को अतिरञ्जना ही है। इस मत के पक्ष में तथा विपक्ष में भी प्रमाण मूल में ही उद्धृत किये गये हैं। यास्क ने मनु का उद्धरण देकर पुत्री के उत्तराधिकार को पुष्ट करने की चेष्टा की है। मनुस्मृति में वह श्लोक तो प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस विचार के साथ साम्य रखने वाले निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं (मनुस्मृति, नवम अध्याय)—

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ (१३०)
पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः ॥ (१३३)
पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं सन्तारयति पौत्रवत् ॥ (१३९)

किन्तु ये विधान उस अवस्था के हैं, जब मनुष्य को पुत्र न हो। पुत्र न होने पर दौहित्र को ही उत्तराधिकार दे, क्योंकि उसकी माता भी उस मनुष्य की देह से ही उत्पन्न है।

दूसरी ओर मैत्रायणी-संहिता की दुहाई देते हुए आचार्य लोग कहते हैं कि पुत्री को कोई अधिकार नहीं। 'पुमान् दायादः अदायादा स्त्री'—पुत्र उत्तराधिकारी है, पुत्री नहीं। यही कारण है कि जन्म होते ही पुत्री को फेंक देते हैं, पुत्र को नहीं फेंकते। भारतवर्ष में विगत शताब्दी तक कुछ जातियों में (विशेषतया राजपूतों में) लड़कियों को फेंकने की प्रथा थी, जिसे बाद में ब्रिटिश-सरकार ने अवैध घोषित करके रोका। लड़कियों का दान भी होता है (जमींदारी-प्रथा में हाल तक दासियों को दहेज में दिया जाता था), उनकी बिक्री भी होती है (यह प्रथा तो अब तक है)। इन सबों से मालूम होता है कि पुत्रियों को सामाजिक अधिकार से वंचित कर दिया गया था; तभी तो दान, विक्रय और अतिसर्ग-जैसे अभिशाप इनके सिर पर वर्तमान थे।

एक तीसरा पक्ष है, जो इन दोनों विरोधी मतों को मिलाते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वही स्त्री पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी हो सकती है, जो भ्रातृहीन हो। यही रीति आज भी है (यदि पिता ने भी जीवनकाल में इसकी स्वीकृति दी हो तो और भी अच्छा।)—आर्यजाति में सदा से ऐसी परिपाटी रही है। जिस स्त्री का भाई नहीं होता, वह अपने पुत्र को ही पिता के धन का अधिकारी बनाती है तथा पिता के घर पर ही अधिक ध्यान रखती है। पिता की सद्गति के लिए वह सचेष्ट रहती है। पति-कुल के कल्याण से अधिक चिन्ता उसे पितृकुल की लगी रहती है, क्योंकि वह यह समझती है कि पिता की रक्षा का भार, उनकी सम्पत्ति की रक्षा का भार, पिण्डदान इत्यादि का भार तो और किसी पर नहीं, उसी पर (या उसके पुत्र पर) तो है—यही अभिप्राय है कि अभ्रातृका नारी पितृकुल में लौट जाती है। ऐसी स्त्री से विवाह करना निषिद्ध है, ऐसी स्त्री अपने

पिता के लिए पुत्र का कार्य करती है। भातृहीन स्त्री से विवाह का निषेध मनु भी करते हैं—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ (३।११)

इस प्रसंग में एक ऋचा उद्धृत की गई है, जिसका एक अंश है—'जायेव पत्य उशती सुवासाः'। यह चरण ऋग्वेद के कई मन्त्रों में है। यहाँ उषा की तुलना भ्रातृहीन स्त्री से की गई है। भ्रातृहीन स्त्री जैसे अपने पितृकुल में लौट जाती है, क्योंकि उसे अपने पिता का सारा काम-काज संभालना पड़ता है, उसी प्रकार उषा भी अपने प्राकृतिक-नियम का पालन करने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल लौट जाती है। यहाँ चार उपमाएँ दी गई हैं—(१) उषा मनुष्यों के पास भ्रातृहीन स्त्री की तरह लौटती है, (२) वह धन लाने के लिए उस स्त्री के समान जाती है, जो रंगमंच पर आरूढ़ होती है, (३) पति की कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत स्त्री के समान तथा (४) हँसनेवाली—मुस्कुरानेवाली स्त्री की तरह उषा अपने रूप का प्रदर्शन करती है।

'गर्त्तारुक्' शब्द की व्याख्या में यास्क दक्षिणात्य की नारी का उल्लेख करने लगते हैं। वह नारी द्यूत-भवन में धन प्राप्त करने के लिए जाती है। 'गर्त' का अर्थ दुर्ग करते हैं, वह फलक जिस पर पासे फेंके जाते हैं। √गृ (बोलना) से निष्पन्न होने के कारण इस स्थान पर सच्ची बातें ही कही जाती हैं। पासा जहाँ गिरा, उसे ही उसका स्थान माना जाता है। अन्य द्यूतस्थलों की भाँति वहाँ झूठ का व्यापार नहीं होता, इसलिए यह सत्यसंगर है। इस गर्त पर किस प्रकार की प्रथा थी, इसके विषय में दुर्गाचार्य भ्रान्त मालूम पड़ते हैं। वे कभी कहते हैं कि पुत्रहीन स्त्री उस फलक पर चढ़ती है, जुआ खेलनेवाले उसे धन देते हैं, यह दक्षिण की प्रथा है। कभी कहते हैं कि पुत्र और पति से रहित नारी उस पर चढ़ती है, उसके सम्बन्धी उसे जीविका-निर्वाह के लिए वहीं पर पैसे देते हैं। इस तरह यह स्पष्ट नहीं होता है कि वास्तविक प्रथा क्या थी ? क्या यह दक्षिण की प्रथा थी ? ऋग्वेद में दक्षिण का वर्णन कैसे सम्भव है ? डॉ० लक्ष्मणसरूप[1] कहते हैं कि उत्तर भारत के कट्टर हिन्दुओं में यह प्रथा है कि विधवा होने पर स्त्री की गोद उसके सम्बन्ध के लोग रुपये-पैसे से भरते हैं, जिसे 'झोली भरना' कहते हैं। दक्षिण के नियम के उल्लेख से इस अर्थ की प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है। पर सम्भव है कि इसका अर्थ हो—'गर्त (रथ) पर चढ़ने वाले व्यक्ति के समान उषा धन पाने के लिए जाती है।[2]

रॉथ कहते हैं कि 'अङ्गादङ्गात्' (पृ० ७१) वाले श्लोक से लेकर 'पितुश्च पुत्रभावः' (पृ० ७५) तक का सन्दर्भ प्रक्षिप्त है। इसके लिए उन्होंने अपनी

---

1. Nirukta, Eng. Trans. p. 232; 2. Ibid.

2. Ibid.,

युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। डॉ० लक्ष्मणसरूप ने[1] इनके विचारों का खण्डन करते हुए कहा है कि जब तक इस सिद्धान्त के पक्ष में कोई सबल युक्ति नहीं दी जाती तब तक इसे प्रक्षेप नहीं मान सकते। इस सन्दर्भ में पुत्री का उत्तराधिकार निषेध दिखलाया गया है जिसे पुनः एक ऋचाका उद्धरण देकर प्रदर्शित किया गया है (नि० ३।६)। इस ऋचा का अभिप्राय है कि माता-पिता तो दोनों को एक समान ही उत्पन्न करते हैं किन्तु उन दोनों में पुत्र तो काम करता है (= वंश-वृद्धि के रूप में), किन्तु पुत्री लाभ उठाकर अन्यकुल में चली जाती है। उसका भार चूँकि दूसरे व्यक्ति को उठाना पड़ता है, इसलिए उसे धन में अधिकार नहीं ?

इसके बाद मनुष्य के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख करते हुए यास्क 'पञ्चजनाः' शब्द की व्याख्या करते हैं। 'पञ्चजनाः' शायद आर्यावर्त में निवास करने वाले आर्यों के विशिष्ट कुलों का नाम हो। ऐसे ही पंच ब्राह्मण, दशगोत्री, दसकोसी आदि शब्द भी हैं। '२४ परगना' इसी तरह से शब्द बना है। बाद में 'पंचजन' शब्द मानवमात्र का बोधक हो गया। यह अर्थ-विस्तार (Expansion of Meaning) का द्योतक है।

कुछ दूर तक निघण्टु के शब्द सिनेमा की रील के समान तेजी से चलते हैं और यास्क बात की बात में बाहु के बारह नामों से (निघ० २।४) लेकर संग्राम के छियालीस नामों (२।१७) तक पहुँच जाते हैं। हाँ, अंगुलि शब्द पर कुछ देर ठहर कर इनके भिन्न-भिन्न नामों की व्याख्या करते हैं। अन्त में संग्राम के नामों में 'खले' के लिए एक ऋचा का उद्धरण देते हैं। 'खले' का प्रयोग बतलाता है कि निघण्टु के सभी नाम प्रथमा में ही नहीं हैं; सप्तमी-विभक्ति में रूप मिलने से इसे वैसा ही गृहीत कर लिया गया है। वैदिक-कोशकारों की यह उपेक्षा-भावना शब्दों के लिए बहुत घातक सिद्ध हुई तथा कितने प्रातिपदिक संसार से सदा के लिए चल बसे, उनके एकाध-रूप मात्र अव्यय के रूप में रह गये जैसे—पश्चात् (षष्ठी एक०), गन्तुम् (द्वि० एक०, प्राति० 'गन्तु'), गन्तवे (चतुर्थी एकवचन जिसे वैयाकरण लोग 'तवे' प्रत्यय से निष्पन्न मानते हैं), गन्तोः (षष्ठी एक०), उच्चैः, नीचैः (तृ० बहु०), चिराय (चतुर्थी एक०) प्रगे (सप्त० एक०)। इनके अलावे द्वितीया में तो कितने ही हैं। जैसे—सायम्, चिरम्, शीघ्रम्, नक्तम् आदि।

अस्तु, 'खले' का प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा में क्रमशः एक, दो और तीन—इन तीन संख्याओं का प्रयोग हुआ है। बस, सभी संख्याओं (५, ६, ७ को छोड़कर) का निर्वचन करना यास्क के लिए अनिवार्य हो गया और वे दश, शत, सहस्र, अयुत, प्रयुत, नियुत तथा अर्बुद तक चले जाते हैं। संख्याओं के इतिहास पर तथा उनकी व्युत्पत्ति पर विचार करने के लिए यास्क बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। पुनः कुछ दूर तक अपनी स्वाभाविक शैली में चलने के बाद यास्क

1. Ibid. P. 230-1

'यत्रा सुपर्णा०' वाली ऋचा[1] का दो तरह से अर्थ करते हैं—देवतापरक और अध्यात्मपरक। द्वितीय-पाद के साथ-साथ निघण्टु के दूसरे अध्याय के शब्द भी समाप्त हो जाते हैं तथा तृतीय-पाद से तृतीय अध्याय के शब्द आरम्भ होते हैं। एक ही परिच्छेद में १२ समुदाय समाप्त ! कुछ विचार करना हो तब तो देर लगे ?

उपमा के विषय में निरुक्तकार बड़े प्रवीण प्रतीत होते हैं। निघण्टु (३।१३) में उपमा के कुछ वैदिक उदाहरणों को संगृहीत किया गया है। उन्हीं की व्याख्या के प्रसंग में काव्यशास्त्र (विशेषतया अलङ्कार-शास्त्र) की सर्वप्रथम उद्भावना यास्क ने की है। यास्क भी अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के ऋणी हैं जिन्होंने उपमा का लक्षण किया है। उनके अनुसार उपमा के लक्षण में तीन तत्त्व होते हैं—(१) दो वस्तुओं में प्राकृतिक भेद होना, (२) उनके धर्म का उल्लेख, (३) उन धर्मों में उनका परस्पर सादृश्य होना। मुख और चन्द्र दोनों एक ही वस्तु नहीं, किन्तु दोनों में समता है। यही उपमा का बीज है। उपमा की यही परिभाषा पिछले समस्त आलंकारिकों ने स्वीकार की है। यद्यपि काव्यप्रकाश (१०।१) में 'साधर्म्यमुपमा भेदे' कहकर इसका वैसा ही लक्षण किया गया है तथापि अन्य अलङ्कारों से पार्थक्य दिखलाने के लिए विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में उपमा के लक्षण में कुछ उपाधियाँ लगा दी हैं—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः।

उपमा में दो तरह के कर्म होते हैं—(१) बड़े गुण से छोटे गुण की उपमा, या प्रसिद्ध वस्तु से अप्रसिद्ध की उपमा, (२) छोटी वस्तु से बड़े गुण की उपमा। सामान्यतः ऐसा देखा जाता है किन्तु आलंकारिक लोग इनमें दोष निकालते हैं।[2] उपमेय की अपेक्षा उपमान यदि जाति, प्रमाण या धर्म में न्यून हो तो हीनत्व-दोष, अधिक हो तो अधिकत्व-दोष होता है। हास्य-रस की रचनाओं में बहुधा इसका प्रयोग करते हैं जैसे 'आपने चण्डाल के समान बहुत साहस दिखलाया', 'यह सूर्य चिनगारी के समान चमक रहा है।'[3] यहाँ बड़े गुणवाले की उपमा छोटे गुणवाली वस्तु से दी गई है।

निघण्टु में उपमा के नाम से बारह उदाहरण दिये गये हैं जो वैदिक ग्रन्थों के हैं। यास्क उपमाओं के सामान्य विवेचन के क्रम में चार प्रकार के रूप देखते हैं। वे हैं—कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा और सिद्धोपमा। इनमें कर्मोपमा 'यथा' शब्द से जानी जाती है क्योंकि यथा का सम्बन्ध सीधे कर्म से है। उदाहरण में—'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति' दिया गया है। भूतोपमा में 'भूत' (वह वैसा हो गया है) का प्रयोग रहता है जैसे—मेषो भूतः =

---

१. ऋग्वेद १।१६४।२१।
२. काव्यालङ्कारसूत्र (वामन) ४।२।९–११।
३. चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्। वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति।

भेंड़ हो गया। यह रूपक के रूप में है उसी प्रकार 'दारुभूतो मुरारिः' इत्यादि प्रयोग हैं। रूपोपमा भी वैसी ही होती है किन्तु इसमें 'रूप' शब्द का प्रयोग होता है जैसे—हिरण्यरूपः = स्वर्ण के समान। इसी तरह 'वर्ण' का प्रयोग होने पर वर्णोपमा भी[1] हो सकती है जैसे—हिरण्यवर्णः। 'था'-प्रत्यय[2] से भी रूपोपमा ही मानी जाती है। सिद्धोपमा का अर्थ है ऐसी वस्तु से उपमा देना जिसका मानदण्ड स्थिर या सिद्ध हो चुका है। इसका वाचक 'वत्'[3] जैसे—ब्राह्मणवत्, वृषलवत्। दुर्गाचार्य ने इनके उदाहरण में 'ब्राह्मणवद् अधीते' दिया है। ब्राह्मण का अध्ययन एक मानदण्ड के रूप में सिद्ध है इसलिए अधिक पढ़नेवाले को 'ब्राह्मणवत् पढ़नेवाला' कहते हैं। इसी तरह आगे 'वृषलवत् आक्रोशति' कहते हैं, क्योंकि निन्दा करने में वृषल एक ही है, उसे निन्दकों का मानदण्ड सिद्ध करते हैं। यही सिद्धोपमा का रहस्य है। इस परिच्छेद में हम उपमाओं के निम्नलिखित वाचक शब्द पाते हैं—इव, यथा, न, चित्, नु, आ, भूत, रूप, वर्ण, वत्, तथा। इनमें अधिकांश का विवेचन निरुक्त के प्रथम अध्याय में निपातों के वर्णन के क्रम में हो गया है।[4]

चतुर्थ पाद के आरम्भ में भी अलङ्कारशास्त्र-विवेचना हुई है। ऊपर तो उन उपमाओं की विवेचना हुई जिनमें उपमाओं के वाचकादि विद्यमान रहते हैं जैसे—अग्निः न ये (जो लोग अग्नि के समान)। किन्तु ऐसी भी उपमायें हैं जिनके शब्द लुप्त रहते हैं, भेद बिल्कुल नहीं रहता। इन्हें अलंकारशास्त्र में रूपक-अलंकार कहते हैं। वस्तुतः यास्क का यह विवेचन अत्यन्त प्राथमिक-दशा (Primitive Stage) का द्योतक है, उपमामूलक अन्य अलंकार भी उपमा के ही अन्तर्गत माने जाते थे। इस विषय पर एक पृथक् गवेषणात्मक निबन्ध (Research Paper) की आवश्यकता है। एक दूसरे पर इस तरह की वस्तु का आरोपण दो कार्यों के लिए हो सकता है—निन्दा के लिए या प्रशंसा के लिए। निन्दा के लिए 'श्वा' और 'काक' का प्रयोग होता है, प्रशंसा के लिए 'व्याघ्र' और 'सिंह' का। दुर्ग इसकी व्याख्या में कहते हैं कि 'सिंहो देवदत्तः' (देवदत्त सिंह है) में ऐसी कोई बात नहीं कि सिंह ही देवदत्त है, प्रत्युत देवदत्त में शूरता आदि सिंह के कतिपय गुण हैं। यह

---

१. निघण्टु ३।१३।१०। २. प्रकारवचने थाल् (पा० सू० ५।२।२३)।

३. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (पा० सू० ५।१।११५)।

४. मल्लिनाथ ने मेघदूत (१।४८) में 'एकं मुक्तागुणमिव भुवः' श्लोक की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार का उल्लेख किया है तथा उनकी भ्रान्ति भी दिखलाई है। वे कहते हैं—'(निरुक्तकारः) तत्र तत्रोपमा, यत्र इवशब्दस्य दर्शनम्—इति इवशब्ददर्शनादत्रापि उपमैव इति बभ्राम'। क्या निरुक्तकार मल्लिनाथ के अनुसार मेघदूत के अलङ्कारों पर भी अनुसन्धान कर रहे थे ? उस श्लोक में उत्प्रेक्षालङ्कार है सही, परन्तु निरुक्तकार को क्यों घसीट लाया गया ? यास्क के समय में तो उत्प्रेक्षा का विचार भी नहीं उठा था। मल्लिनाथ जैसे चतुर्मुखी प्रतिभावाले टीकाकार के मुख से कालातिक्रम-दोष (Fallacy of Anachronism) से युक्त वाक्य शोभा नहीं देता। या ये कोई दूसरे ही निरुक्तकार हैं ?

वाक्य उसी अभिप्राय को व्यक्त करता है क्योंकि इसमें उपमा के वाचकादि विना कहे हुए स्वयमेव स्पष्ट हैं। चञ्चलता होने पर कुत्ता तथा धृष्टता होने पर काक कहते हैं। पाणिनि ने 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोग' में ऐसे ही कुछ शब्द गिनाये हैं, जैसे—व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, चन्दन, वराह, हस्तिन् आदि। स्मरणीय है कि इन शब्दों को उत्तरपद में रखकर उपमित (= उपमानोत्तरपद) कर्मधारय समास बनाया जाता है।

इसी प्रसंग में यास्क ने भाषाविज्ञान के एक प्रश्न—शब्दोत्पत्ति—पर कुछ प्रकाश डाला है। कुछ आचार्य उस समय भी ध्वनि की अनुकृति से शब्द की उत्पत्ति मानते थे। आधुनिक भाषाशास्त्र में प्रो० मैक्समूलर ने इसे प्रस्तावित किया था। यास्क का कहना है कि पक्षियों का नाम बहुधा इसी प्रकार से पड़ता है। इसके विरुद्ध औपमन्यव का कहना है कि शब्दानुकृति (Onomatopoeia) से शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती। ऐसी दशा में काक आदि शब्दों की व्युत्पत्ति होगी। इस प्रकार यास्क व्युत्पत्ति और अव्युपत्ति दोनों पक्षों को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि औपमन्यव के सिद्धान्त के अनुसार काक की निरुक्ति (Etymology) भी करते हैं और दूसरी ओर इसमें शब्दानुकृति भी मानते हैं। यह ठीक है कि सभी शब्द इसी प्रकार नहीं बनते, फिर भी प्रत्येक भाषा में इस तरह से बने हुए शब्द रहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरण के लिए हम काक, निर्झर, थरथर, सरकना, कलकल, Hiss (साँप की फुफकार) आदि शब्द ले सकते हैं। वस्तुतः यास्क की यह सूझ बड़े काम की है।

एक परिच्छेद में ही बाद के पन्द्रह समुदायों का नाम देकर २९ वें समुदाय में वर्तमान शब्द-युग्मों की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है तथा प्रत्येक शब्द का नामोल्लेख करते हुए उसका उदाहरण प्रदर्शित है। ये शब्द-युग्म प्रायः एक ही अर्थ के हैं। इसमें सर्वनाम, संज्ञा तथा क्रिया भी हैं और वे भी विभिन्न रूपों में। कोई तृतीया बहुवचन में तो कोई प्रथमा में; कोई लट् में कोई लोट् में। फिर भी अर्थ के अनुसार ये बैठाये गये प्रतीत होते हैं। अन्त में द्यावापृथिवी की महिमा का वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति की गई है। तृतीय अध्याय के साथ-साथ निरुक्त और निघण्टु का नैघण्टुक-काण्ड भी समाप्त हो जाता है।

[घ] चतुर्थ अध्याय

[नैगम या ऐकपदिक काण्ड, इसकी विशेषता—जहा, निधा, दमूना, मूष—'कुरुतन'—'तितउ'—भाष्य में उद्धरण—'शुन्ध्यु' के विभिन्न अर्थ—निपात—नु चित्, नूच—कच्छप—च्यवन और इनका इतिहास—रजः और हरः—यम-यमी संवाद—अदिति और सर्वेश्वरवाद—उदात्त और उसका प्रयोग—प्रहेलिका मन्त्र—इनकी उत्पत्ति की कल्पना ।]

निरुक्त के चतुर्थ अध्याय से लेकर षष्ठ अध्याय तक नैगम काण्ड कहते हैं, क्योंकि इन अध्यायों में निघण्टु के चतुर्थ अध्याय (नैगम काण्ड) की व्याख्या हुई है । निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में स्वतन्त्र शब्दों का संकलन हुआ है । पहले तीन अध्यायों की भाँति पर्यायवाची शब्द उसमें नहीं । स्वतन्त्र होने के कारण ही इसे ऐकपदिक (एक-एक पद पृथक्-पृथक् हो) काण्ड भी कहते हैं । ये शब्द ऐसे हैं कि इनकी बनावट का पता नहीं लगता । दूसरे इनके शब्दों में अनेक अर्थ भरे हैं, जबकि पर्यायवाची शब्दों में एक ही अर्थ के लिए अनेक शब्द होते हैं ।

यह विचारणीय है कि इस काण्ड में यास्क प्रत्येक शब्द की व्याख्या करते हैं, पहले की तरह पूरे वर्ग से केवल किसी एक शब्द को लेकर ही नहीं बढ़ जाते । कारण स्पष्ट है कि यदि यहाँ प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं की गई, तो निरुक्त का लक्ष्य ही सिद्ध नहीं होगा । पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या का तो वस्तुतः प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनके अर्थ तो स्पष्ट हैं; हाँ व्युत्पत्ति जान लेनी चाहिए । दूसरी ओर ऐकपदिक-काण्ड के शब्द न केवल स्वतन्त्र हैं, प्रत्युत इनके संस्कार (Formation) भी अनवगत या अज्ञात हैं । ऐसी दशा में प्रत्येक शब्द की व्याख्या के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं कि हम उनके अर्थ जान सकें । ये अर्थ भी कई हैं । अतः दुर्गाचार्य ने यास्क की शैली के विषय में यह श्लोक दिया है—

विस्तीर्य हि महज्ज्ञानमृषिः संक्षेपतोऽब्रवीत् ।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥

अर्थात् ऋषि ने, ज्ञान का अत्यधिक विस्तार करने के बाद संक्षेप से भी कहा है, क्योंकि संसार में विद्वानों का अभीष्ट रहता है कि समास एवं व्यास दोनों शैलियों को अपनायें । दूसरे-तीसरे अध्यायों में यास्क ने समास (संक्षेप) शैली ग्रहण की है, क्योंकि पर्यायवाची शब्दों के पूरे वर्ग से एक-दो शब्दों की व्याख्या ही काफी समझते हैं । यह सौभाग्य भी उन्हीं शब्दों को मिलता है, जिनके अर्थ में या रचना में कुछ विशेषता रहती है । चतुर्थ अध्याय से यास्क की शैली व्यास-प्रधान हो गई है और प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने लगते हैं ।

नैगम-काण्ड की शैली का परिचय दुर्ग इन शब्दों में देते हैं—

तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि ।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे ।।

अर्थात् नैगमकाण्ड में शब्द का उल्लेख, उसका पर्याय, दोनों की व्युत्पत्ति, शब्द का वैदिक उदाहरण, निर्णय—ये ही विषय इस काण्ड की व्याख्या में आते हैं। स्मरणीय है कि ये ही विषय अन्य काण्डों के भी हैं। इस लक्षण के द्वारा कोई विशेषता नहीं बतलाई जाती।

जहा, निधा आदि शब्दों की व्याख्या यास्क ने एक-एक करके की है। जहा का अभिप्राय है जघान (मारा)। यास्क इसे √हन् से निष्पन्न द्वित्व किया हुआ लिट् लकार का रूप मानते हैं। यद्यपि √हा (छोड़ना) से भी इस शब्द के निष्पन्न होने की सम्भावना है और ऐसे प्रयोग वैदिक-साहित्य में प्राप्त भी हैं, किन्तु यास्क ने उसे छोड़ दिया है। बहुत सम्भव है कि यह 'जहौ' (√हा + लिट् प्रथम पुरुष एक वचन—आत औ णलः) का विकल्प रूप हो, क्योंकि वैदिक-भाषा में बहुधा औकारान्त भी मिलते हैं। तुलना करें—प्रियौ-प्रिया, शुचौ-शुचा। अतः जहौ-जहा वैकल्पिक रूप हो सकते हैं। 'निधा शब्द तो नि√धा (नीचे रखना) से बना है, जिसमें किसी को आपत्ति नहीं। इसका अर्थ है जाल (पाशसमूह)।

नैगम-काण्ड का चमकता हुआ आदर्श 'शिताम' शब्द की व्याख्या में देखा जा सकता है। यास्क ने अपने अलावे दूसरे-दूसरे आचार्यों के मत भी इसमें दिये हैं। (१) यास्क के अनुसार 'शिताम' का अर्थ है हाथ का अगला भाग, (२) शाकपूणि इसका अर्थ योनि लेते हैं, (३) तैटीकि इसे यकृत् मानते हैं और (४) गालव इसे चर्बी (श्वेतमांस) मानते हैं। दुर्ग का कहना है कि पशु के बाहरी और भीतरी दो अवदान (अङ्ग) हैं, नितम्ब (श्रोणी) और स्कन्ध आदि बाहरी अङ्ग हैं, जबकि जीभ, हृदय, यकृत् (जिगर) आदि भीतरी अङ्ग है। यास्क के द्वारा दिये गये उद्धरण में श्रोणी और पार्श्व दोनों बाहरी अङ्ग हैं, अतः यह सिद्ध है कि शिताम का अर्थ कोई बाहरी अङ्ग ही होगा, जैसे हाथ का अगला भाग। इस तरह दुर्ग ने यास्क का पक्ष लिया। अब शाकपूणि के अर्थ (योनि) का समाधान करते हैं। 'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः' में एक के बाद दूसरे अङ्ग का वर्णन किया जा रहा है। श्रोणी के बाद का प्रदेश गुद-प्रदेश है, जिसे शिताम या योनि कहा गया है। शिताम का अर्थ योनि लेने पर 'शिताम' की व्युत्पत्ति √विष् (व्याप्त करना) से करते हैं (जो पुरीष से व्याप्त हो, जिसका मांस शिथिल हो), किन्तु विषित की शुद्ध व्युत्पत्ति वि√सो (खुला होना) से मानना ठीक है। अन्त में दुर्गाचार्य को स्वीकार करना पड़ता है कि 'शिताम' की रचना कठिन है तथा इसका अर्थ भी अनिश्चित है। उन्होंने अनवगति के दस प्रकार भी बतलाये हैं जिनके नाम मूलग्रन्थ में देखे जा सकते हैं। जैसे 'शिताम'

के अर्थ को जानना कठिन है वैसे ही वेद में कई शब्द हैं जिनके विभाग को, स्वर को, या क्रम आदि को जानना कठिन है।

'मेहना' ऐसा ही शब्द है जिसके विभाग के विषय में सन्देह है। या तो यह√मँह्, (पूजा करना) से बना है या मे (मुझे) ह (यहाँ) ना (नहीं)—इन तीन पृथक् पदों का संयोग है। इस वर्ग का पाँचवाँ पद है 'दमूनाः'। इसके कई अर्थ सम्भव हैं—दयाबुद्धि वाला, दान की प्रवृत्ति वाला, संयम रखने वाला। ये सभी अर्थ या तो√दम् या√दा से आते हैं, किन्तु यास्क का दूसरा भी विकल्प है—'दमस्' = घर, अतः दमूना = घर में प्रवृत्त। घर के अर्थ में 'दमस्' का प्रयोग वैदिक-साहित्य में तो है ही (तुल० वर्धमानं स्वे दमे—ऋ० १।१।६), साथ ही साथ अन्य भारोपीय भाषाओं में भी इसका प्रयोग है जैसे—लैटिन Domus, अंगरेजी Domestic। यहाँ यह ध्यान रखना है कि यूरोपीय भाषाओं का ह्रस्व अ, ए, ओ भारत-ईरान वर्ग में 'अ' हो जाते है, अतः दोमस् से दमस् होता है।[१]

'मूष' शब्द√मुष् (चुराना) से बनता है क्योंकि चूहे अन्न चुरा लेते हैं। इसी से संस्कृत में मूषिक बना है। मूष बहुत प्राचीन शब्द है क्योंकि इसके समानान्तर शब्द भारोपीय-परिवार में प्रायः सर्वत्र मिलते हैं। देखिये—ग्रीक Mys, लैटिन Mus (मूस), जर्मन Maus, ऐं० सं० Mus, बहुवचन में Mys, अंग्रेजी Mouse, बहु० Mice[२]। मूष का प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा पंक्ति छन्द में है जिसमें एक अनूठी घटना का वर्णन है। त्रित नाम के कोई ऋषि किसी कुएँ में गिर पड़े। दोनों ओर की ईंटा के गिरने से वे कष्ट पाने लगे। जेसे अपनी सपत्नियों को देखकर कोई स्त्री अपने पति को तङ्ग करती है उसी प्रकार ये ऋषि भी दुःख पाने लगे, पीड़ा इन्हें चारों ओर से खाने लगी मानों चूहे तेल, घी आदि में लिपटी हुई अपनी पूँछ को खाते हैं। पहले ऋषि ने इन्द्र का पुकारा, पर कोई उत्तर न मिलने पर द्यावापृथिवी को कहने लगे कि तुम्हीं लोग साक्षी हो, मेरी दशा पर ध्यान दो।

'कुरुतन' में यास्क 'न' प्रत्यय को स्वार्थ (निरर्थक) मानते हैं, वेद में वस्तुतः लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन में त, तन थन ये तीन प्रत्यय लगते हैं। 'तितउ' चलनी को या छन्ने (Filter) को कहते हैं। यास्क के समय में चमड़े से ढँकी हुई, तिल के समान छोटे-छोटे छेदों वाली चलनी का प्रयोग था। इसके प्रयोग के लिए दी गई ऋचा ऋग्वेद के विद्या-सूक्त (१०।७१) में है। इसका अर्थ है कि जेसे सत्तू को चलनी पवित्र करती है, समस्त विकारों को दूर कर देती है उसी प्रकार विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से पवित्र करने के बाद व्यवहार में लाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वाणी की कर्कशता, निन्दा प्रियता

१. Cf. Dr. Batakrishna Ghosh, Ling. Intro. to Skt. chap. II.

२. Chamber's Compact Dictionary, 1954 p. 410,

४. हि० नि० भू०

आदि मन के द्वारा दूर कर दी जाती है जब कि उन दोषों के परिणाम पर विचार किया जाता है। एक शास्त्र पढ़ने वाले लोग परस्पर समान तन्त्र की मित्रता को पहचानते हैं। उसमें पारस्परिक ज्ञान-प्रकर्ष की जानकारी रहती है। ऐसा होने पर ही वे लोग मन में सोच-विचार कर भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे उनकी वाणी शोभावती बन जाती है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ में ही व्याकरणशास्त्र (शब्दानुशासन) के आनुषंगिक प्रयोजनों का विवरण करते समय उद्धरण दिया है और इसके द्वारा व्याकरण पढ़ने का फल दिखलाया है।

अपनी स्वाभाविक गति में यास्क लोध (लोभी), शीर (अग्नि) आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए 'अद्मसद्' शब्द के प्रयोग दिखलाने के लिए एक ऋचा का उद्धरण देते हैं जिसमें 'शुन्ध्यु' आता है। 'शुन्ध्यु' के कई अर्थ हैं— (१) आदित्य, (२) पक्षी, (३) जल । इन सभी अर्थों में √शुध् का ही प्रयोग है। अद्मसद् का अभिप्राय 'अन्न बाँटने वाली माता' है जो प्रायः काल में उषा की तरह ही अपने पुत्रों को जगाती है।

प्रथम अध्याय में ही निपातों का स्थान दिखलाया जा चुका है। इनके विभिन्न अर्थ हैं। ३० वाँ और ३१ वाँ शब्द 'नूचित्' तथा 'नव' निपात ही हैं जिनके अर्थ 'पुराना और नया' हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'नु' 'नू' तथा 'नव' 'नवीन', 'नूतन' आदि शब्दों की उत्पत्ति एक ही है तथा इनके समानान्तर रूप यूरोपीय भाषाओं में भी मिलते हैं। देखिये—ग्रीक Nyn, लैटिन Nunc, ऐं० सं० Nu तथा संस्कृत में 'नूनम्'। 'नव' के लिए ग्रीक Neos, लेटिन Novus, ऐं० सं० Niwe, neowe अँगरेजी Now, New.[1]

इसके बाद 'दावने' और 'अकूपार' शब्दों की व्याख्या हुई है। निघण्टु में इसका यही क्रम है किन्तु निरुक्त के वैदिक उद्धरण में उनका क्रम उलट दिया गया है, पहले 'अकूपार', तब 'दावने'। इस पर दुर्गाचार्य कहते हैं कि निघण्टु और निरुक्त विभिन्न व्यक्तियों की रचना है क्योंकि यदि दोनों एक ही की कृति होती तो अपने ही क्रम का उल्लंघन यास्क कैसे करते ?[2] यह हमारे द्वितीय परिच्छेद में प्रतिपादित विषय का पोषण है। अस्तु, अकूपार के कई अर्थ हैं। मूल अर्थ तो 'असीम' है किन्तु दूसरे भी अर्थ हैं, जैसे—आदित्य, समुद्र, कच्छप (कछुआ)। 'कच्छप' को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं—क (ख)—छ (छद)—प(√पा)। किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह गलत है क्योंकि यह कश्यप > कशप > कच्छप होकर बना है, कच्छ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। संस्कृत-भाषा में तालव्य वर्णों की उत्पत्ति (Palatalisation) बहुत बाद में हुई है। श् का छ् से

---

१. वही, पृ० ४२०, ४२५।

२. तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातः, अन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नायं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत।

घना सम्बन्ध है क्योंकि श्श् सामान्यत: च्छ बन जाता है । अत: छ् या च् की उत्पत्ति में श् (मूलत: स्) का बड़ा हाथ है ।[1]

च्यवन (च्यवान) एक वैदिक ऋषि थे, जिन्हें वृद्ध होने पर अश्विनीकुमारों ने पुन: युवक बना दिया था । इसी संकेत को लेकर पुराणों में च्यवन की कथायें गढ़ी गयीं । वाणभट्ट ने हर्षचरित में भी च्यवन का पूर्वपुरुष के रूप में वर्णन किया है । लोकोक्ति एवं संकेत के आधार पर च्यवन का आश्रम लोग गया जिले के देव-कुण्ड (देवकुल ?—अपभ्रंश—देकुर) में मानते हैं । वाणभट्ट भी इसी के पास पीरू-व्रनतारा (प्रीतिकूट) के निवासी थे—ऐसा कुछ लोग कहते हैं । यदि च्यवन वैदिक ऋषि थे तो कीकट (?) देश में कैसे आये । फिर भी वायुपुराण में कहा गया है—

कीकटेषु गया पुण्या नदी पुण्या पुन:पुना ।
च्यवनस्याश्रम: पुण्य: पुण्यं राजगृहं वनम् ॥

रज: और हर: ये दो नपुंसक शब्द हैं तथा विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं जैसे—ज्योति, जल, लोक, रक्त तथा दिन किन्तु इन अर्थों की ज्ञापकता के विषय में कोई व्युत्पत्ति नहीं दी है । इसी प्रकार अन्य पदों की व्याख्या के बाद यास्क 'विषुण' की व्याख्या करते हुए 'शिश्नदेवा:' शब्द का प्रयोग करते हैं जो लिंगपूजा की ओर संकेत करते हैं । फिर भी यास्क और दुर्ग यह नहीं स्पष्ट करते कि लिंग-पूजा होती थी । इसका प्रधान अर्थ है—जो ब्रह्मचारी नहीं, इन्द्रिय-सुख ही जिनका प्रधान लक्ष्य है । शिश्नदेव का अर्थ फिर भी यास्क को मालूम नहीं था । यूरोप में भी बहुत दिनों तक लोग लिंग की पूजा करते थे (१८वीं सदी के मध्य तक) । समस्त विश्व में (विशेषतया आयरलैण्ड में) लिंगपूजा के अवशेष प्राप्त हैं । आर्यों ने भारत के द्रविड़ों से लिंगपूजा सीखी । कुछ लोगों का कहना है कि मेपोल नृत्य तथा ईसा का क्रॉस भी लिङ्गपूजा के ही अवशेष हैं ।[2]

'जामि' शब्द के प्रयोग को दिखलाने के लिए यास्क ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी संवाद-सूक्त से एक ऋचा का उद्धरण देते हैं । इस सूक्त में यम उदात्त चरित्रवाला पुरुष है जब कि उसी कुल की यमी उसे अपने प्रलोभनों में फँसाना चाहती है । यम अपने चरित्रबल का परिचय देते हुए उससे किसी अन्य को पति बनाने को कहता है । अगले युग में ऐसी सम्भावना है कि भाई-बहन विवाह कर लें या एक कुल के मनुष्यों में ही विवाह हो पर वैदिक समाज-व्यवस्था ऐसा नहीं कि लोग समान गोत्र के साथ विवाह करें । इस सूक्त में कुछ मन्त्र यम के बोले हुए हैं कुछ यमी के । इसी प्रकार ऋग्वेद में और भी कई संवाद-सूक्त हैं । जैसे पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०।९५) और सरमा-पणि संवाद (१०।१३०) । इन संवाद-सूक्तों को डा०

---

१. देखिये—Batakrishna Ghosh, वही, पृ० ७४ ।

२. देखिये—Encyclopaedia of Religion and Ethics, under Phallism.

ओल्डनवर्ग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं जबकि सिल्वाँ लेवी, श्रोदर, हर्टल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के ही बचे-खुचे रूप हैं। इनका प्रयोग यज्ञों में होता था।[१] डा० विन्तरनित्स इन्हें लोकगीत काव्य (ballad) का नमूना मानते हैं। ये कुछ तो कथात्मक हैं तथा कुछ रूपकात्मक, अतः इनसे ही एक ओर महाकाव्य बने, दूसरी ओर रूपक।[२]

इसके बाद चतुर्थ-पाद में अदिति को संसार मात्र ही कहा गया है। भूतकाल की समस्त वस्तुएँ अदिति हैं तथा उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ भी। यह मन्त्र वैदिक सर्वेश्वरवाद का आदर्श उपस्थित करता है। पूरा विश्व ईश्वरमय है। भारत की नैतिकता का मूल ही सर्वेश्वरवाद है। सभी जीवों में, पेड़-पौधों में, पदार्थों में अदिति का निवास मानने से ही अहिंसा की भावना आती है, अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं से संतुष्ट होकर किसी पदार्थ का अनावश्यक उपयोग बन्द कर देने से अपरिग्रह-भावना आती है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने ईश्वरमय जगत् देखने की चेष्टा की थी। यह भावना कदाचित् इसलिए हुई हो कि सभी पदार्थों (जैसे अग्नि, वायु, पत्थर, छुरा) में अलग-अलग देवत्व की कल्पना की गई थी—सबों संकलन करने पर यह विचार उठा होगा।

उदात्त और अनुदात्त के विषय में यास्क के निरीक्षण (observations) बड़े काम के हैं। वे कहते हैं—तीव्रार्थतरमुदात्तम्, अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्। अभिप्राय यह है कि अधिक बल देने पर उदात्त होता है, कम बल देने पर अनुदात्त। वास्तव में इन दोनों स्वरों का यही रहस्य है। यह स्मरणीय है कि भाषा के प्रवाह में बहुत-से शब्दों में स्वर-परिवर्त्तन (Accent-shifting) होता रहता है। इसके पर्याप्त उदाहरण हमें अंग्रेजी भाषा के इतिहास में प्राप्त होते हैं। मध्यकाल से आधुनिक काल में ही नहीं, गत १०० वर्ष पूर्व जो बलाघात-नियम (Accentuation) था वह आज नहीं है। किन्तु इसके मूल में यही धारणा काम कर रही है कि महत्त्वपूर्ण होने पर किसी पर बलाघात दें, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि अंग्रेजी कविता में बहुधा ऐसे वर्णों (Syllables) पर बलाघात पड़ता है जिस पर गद्य में नहीं होता तथा कभी मुख्य शब्द भी कवि की इच्छा न होने से बलाघात नहीं ले पाते। निष्कर्ष यह है कि महत्त्वपूर्णता और उदात्त में अधिक सम्बन्ध है। वेद में भी वाक्यादि को क्रिया में उदात्त पड़ता है, बीच में नहीं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वाक्य के आदि में क्रिया हम तभी रखेंगे जब उसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध करना लक्ष्य होगा।[३]

---

१. द्रष्टव्य—पं० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास (पञ्चम संस्करण) पृ० ३९४–९५।

2. History of Indian Literature, Vol, pp. 102–103.

३. देखिये—पा० सू० ८।१।२८ तिङ्ङतिङः।

अन्त में एक प्रहेलिका मन्त्र का विवेचन है, जिसमें संख्या के आधार पर सूर्य और संवत्सर का वर्णन किया गया है—एक पहिये वाले रथ को (=सूर्य को) सात (किरणें) जोतती हैं या ले चलती हैं। सात नामोंवाला घोड़ा इसे खींचता है। यह घोड़ा सूर्य ही है। सम्भव है, पूरे भूमण्डल को खींचने वाले सूर्य का अर्थ हो। उत्तरार्ध में संवत्सर का वर्णन है। उस चक्र में तीन नाभि या ऋतुएँ हैं, वह चक्र अजर-अमर तथा अप्रतिहत है, जिसमें समस्त संसार निवास करते हैं। अतः विश्व को पहेली के रूप में देखना और वर्णन करना वैदिक-युग में भली-भाँति आरम्भ हो गया था। इसके अन्य उदाहरण हैं, जैसे— 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः', तथा 'अष्टौ व्यख्यत् ककुभः' आदि। यही नहीं, रूपक बाँधकर भी वर्णन किये गये हैं। जैसे पुरुषसूक्त में ग्रीष्म को इन्धन तथा शरद् को हवि मानना। इन पहेलियों की विषयवस्तु तथा इनके विकास का अध्ययन मनोरञ्जक अनुसन्धान होगा। अमीर खुसरो सम्भवतः हिन्दी का प्रथम पहेलीकार था। सारांश यह है कि वेदों से ही भारत के सारे विषय आरम्भ होते हैं। भारतीय लोग इन्हें अपौरुषेय इसलिए मानते आये हैं कि कोई भी ज्ञान वेदों से बढ़कर या भिन्न नहीं हो सकता। कुछ भी पढ़ना हो, वेदों को उलटना ही पड़ेगा—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

—:०:—

[ङ] पञ्चम अध्याय

[ऐकपदिक काण्ड के ८४ पदों की व्याख्या—दूत, अन्धस्, पाप,—लोपामुद्रा का प्रेम—वराह, शर्याः, पवित्र, शिपिविष्ट, काणुका, आपान्तमन्यु—उर्वशी की कल्पना—वृक–पद-विभाग ।]

निरुक्त के पञ्चम अध्याय में मुख्य रूप से ऐकपदिक काण्ड के ८४ पदों की सोदाहरण व्याख्या है। कहीं-कहीं इन पदों का अर्थ करते समय कोई अनवगत संस्कार का पद मिल जाता है तथा यदि उसके निर्वचन का अवसर अन्यत्र मिलने की सम्भावना नहीं रहती, तब उसकी व्याख्या भी यहीं की गई है। किन्तु ऐसे पदों का वैदिक उदाहरण देना यास्क को अभीष्ट नहीं, केवल निर्वचन देकर ही इन्हें छोड़ देते हैं। उदाहरण के लिए, अन्तिम पद 'सृणिः' की व्याख्या करते हुए इसका अर्थ 'अंकुश' दिया है। अब 'अंकुश' का निर्वचन उसी स्थान पर करना आवश्यक हो जाता है—अञ्चतेः आकुञ्चितो भवतीति वा। किन्तु इसका वैदिक क्या, लौकिक प्रयोग भी नहीं दिया गया है।

इस अध्याय में, कुछ अपवादों को छोड़कर ऐकपदिक पदों का वैदिक प्रयोग (निगम) दिखलाने के लिए प्रायः मन्त्रों के खण्ड ही दिये गये हैं। पूरे मन्त्रों के कुल १९ उद्धरण हैं अन्यथा सभी आंशिक उद्धरण हैं। प्रायः इन सभी उद्धरणों की व्याख्या भी यास्क अपनी शैली में करते जाते हैं।

'दूत' शब्द के निर्वचन में √जू (दौड़ना), √द्रु (तेज चलना) के साथ-साथ 'वारयति' क्रिया को भी इसके मूल आख्यात के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसमें ध्वन्यात्मक साम्य इतना ही है कि व् का संप्रसारण उ हो सकता है—वृ>उ>दू। इस प्रकार पदों की व्याख्या करते हुए यास्क अन्धस् (अन्न) शब्द पर पहुँचते हैं, जिसे वे √ध्या या ध्यै से निष्पन्न मानते हैं। अन्न के अर्थ में यह आ + √ध्यै (विशेष रूप से ध्यातव्य) होता है, तो अन्धकार के अर्थ में नञ् + √ध्यै हो जाता है (जिसमें देखा न जा सके)। यहाँ भी अक्षर-वर्ण के साम्य पर निर्वचन आश्रित है।

'वनुष्यति' की व्याख्या के प्रसंग में जो मन्त्रार्ध दिया गया है, उसमें 'ढूढ्यः' शब्द आया है, जिसका अर्थ 'दुष्ट बुद्धि या पाप बुद्धि' किया गया है। यहाँ यास्क ने 'पाप' शब्द का रोचक निर्वचन दिया है। यह स्मरणीय है कि संस्कृत में 'पाप' का द्विविध प्रयोग होता है—पुंल्लिङ्ग में 'पापः' (पाप करने वाला) तथा नपुं० में 'पापम्' (पापकर्म)। यास्क प्रस्तुत स्थल में 'पापः' की व्याख्या करते हैं—(१) अपेय पदार्थों को पीने वाला, (२) निरन्तर गिरते रहने वाला, जो नीचे की ओर गिरता जाय, (३) अत्यधिक पतनशील (पापत्यते>पाप)। तदनुसार पाप √पा या √पत् से बनता है।

इसी प्रसंग में 'नदः' एक नैगम पद है, जिसका अर्थ है ऋषि। इसका वैदिक प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा में अगस्त्य और लोपामुद्रा का प्रेम-प्रसंग वर्णित है। लोपामुद्रा अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी। कुमारी की अवस्था में ही वह उनके प्रेम की याचना करने लगी। तब अगस्त्य पूर्ण ब्रह्मचारी थे। उन्हें देखकर लोपामुद्रा मुग्ध होकर विलाप ही नहीं करने लगी, प्रत्युत अपनी मधुर कल्पना में यह भी देखने लगी कि वे संयमी ऋषि भी उसे भरपूर प्रेम देने लगे हैं (नदस्य मा रुधतः काम आगन्)। कुछ लोग इस ऋचा में वैदिककालीन प्रेम-विवाह तथा कन्या के स्वयंवर का संकेत पाते हैं।

'वराह' (२१ वाँ पद) के विभिन्न अर्थों में यास्क ने पृथक्-पृथक् निर्वचन दिये हैं। मेघ के अर्थ में 'वर (श्रेष्ठ, जल) आहार करनेवाला', शूकर के अर्थ में 'जड़ों को उखाड़नेवाबा' (मूलानि वृंहति) इत्यादि। आंगिरस गोत्र वाले ऋषियों को 'वराह' कहना निश्चित रूप से वराह के शोभन अर्थ का द्योतक है, किन्तु लगता है, सम्बद्ध ऋचा में ऋषियों की पुष्टांगता के प्रतीक के रूप में 'वराह' का प्रयोग है—

ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट्।

हृष्ट-पुष्ट तथा धूप से निकलते स्वेद वाले वराहों (अंगिरसों) के साथ मिलकर ब्रह्मणस्पति-देवता ने धन को व्याप्त किया। संस्कृत-जगत् में वराह की पुष्टांगता तथा निश्चिन्तता अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1] वराह की चर्चा करते हुए यास्क को 'वराहु' शब्द का भी स्मरण हो आता है जो माध्यमिक देवताओंका बोध कराता है। ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों की तुलना करने से पता लगता है कि वराह का मूल अर्थ शूकर ही था, किन्तु गौणरूप से यह मेघ, रुद्र आदि के नाम के रूप में भी आया है। ऋ० १।११४।५ में रुद्र को स्वर्ग का वराह कहा गया है, क्योंकि उनकी आकृति भयंकर है।

'शर्याः' शब्द का अर्थ 'अंगुलि' किया गया है, किन्तु शर (सरकण्डे) से बने होने के कारण बाणों को 'शर्याः' का मूल अर्थ कहना चाहिए। क्रमशः अर्थ का परिवर्तन हो जाने से ये अंगुलियों का भी गौण रूप से बोधक हो गयीं। बाण और अंगुलियों में रूप-साम्य है। 'अर्क' शब्द का मूल अर्थ है अर्चना करने के साधन-रूप मन्त्र। अन्य अर्थों में इसका अतिदेश (extension) हुआ है। मूल भारो० में erk (स्पष्ट ध्वनि करना) तथा आरमेनियन के erg (गीत) से इसका सम्बन्ध है।[2]

इसी क्रम में एक शब्द आता है—पवित्र। यह निश्चय ही √पूञ् धातु से सम्बन्ध रखता है तथा इसी अर्थ में आज तक चलता है। किन्तु वैदिक निगमों

---

१. लोकोक्ति है—अचिन्तनाच्च कार्याणामिन्द्रियाणां च तर्पणात्।
स्वप्नप्रसङ्गाच्च नरो वराह इव पुष्यति॥

2. Etymologies of Yaska, p. 40.

में इसके विभिन्न अर्थों में प्रयोग मिलते हैं, जैसे—मन्त्र, किरण, जल, अग्नि, सोम, सूर्य इत्यादि। वास्तव में जिन-जिन वस्तुओं में पवित्रता की भावना तात्कालिक आर्यों ने की, सबों को 'पवित्र' कहने लगे जैसे आज भी 'घी', 'कुश' इत्यादि को पवित्र कहते हैं, क्योंकि अपने क्षेत्रों में ये भी पवित्र करने के साधन माने जाते हैं। 'पवित्र' में स्थित पू-धातु मूल भारोपीय में भी इसी रूप में कल्पित है। लातिन में यह purus (शुद्ध) के रूप में है, जो अंग्रेजी में pure हो गया है।

'शिपिविष्ट' (किरणों से आवेष्टित) को विष्णु का नाम मानकर यास्क ने इसकी कुत्सापरक तथा प्रशंसापरक दो प्रकार की निरुक्तियाँ दी हैं। दोनों के उद्धरण पूरे मन्त्रों के दिये गये हैं। शिपि का मूल अर्थ किरण ही है, निरर्थक ही इसका सम्बन्ध शेप (पुरुष जननेन्द्रिय) से दिखाने का प्रयास किया है। संस्कृत में यह शिव का पर्याय होने के साथ-साथ, दुष्ट चर्म वाले तथा खल्वाट का बोधक है। 'काणुका' (इच्छुक या प्रिय) शब्द अपने-आप में एक रहस्यात्मक शब्द हैं, जिसके विषय में यास्क को भी संशय है। कुल पाँच निर्वचन इसके लिए उन्होंने दिये हैं। मन्त्रों की अविस्पष्टार्थता का पूर्वपक्ष से निरूपण करते हुए निरुक्त १।१५ में उन्होंने कौत्स के पक्ष से इस 'काणुका' शब्द का भी निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में उद्धृत की गयी ऋचा भी अत्यन्त रोचक है जिसमें इन्द्र के द्वारा ३० सोम-पात्रों को एक ही साँस में पीये जाने की चर्चा हुई है। इसी प्रकार उसके बाद आये हुए 'अध्रिगु' तथा 'आंगूष' शब्द भी रहस्यात्मक हैं।

'आपान्तमन्यु' का प्रयोग दिखलाने वाली ऋचा में कई अनवगत शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे इस ऋचा को क्लिष्ट कहकर कई स्थानों पर निर्दिष्ट किया गया है। यास्क भी इसकी व्याख्या विस्तार से करते हैं। शब्दार्थ की क्लिष्टता के अतिरिक्त वाक्यार्थ-विषयक संशय भी इसकी विलक्षणता है। सोम और इन्द्र की मुख्यता-गौणता का प्रश्न यास्क ने स्वयं ही उठाया है।

तृतीय पाद में 'उर्वशी' का निर्वचन करते हुए यास्क ने उर्वशी की वैदिक कल्पना का पूर्ण विश्लेषण किया है। यह एक अप्सरा का नाम है जो सबों को वश में कर लेती है। इसे देखकर मैत्रावरुण स्खलित हुए जिससे वसिष्ठ का जन्म हुआ था। यह वैदिक रूपक वस्तुतः अन्तरिक्षस्थ जल का वर्णन करता है कि किस प्रकार सूर्य तथा वाष्प के संयुक्त रूप का घर्षण विद्युत् (उर्वशी) से होने पर जल की सृष्टि होती है। जलबिन्दुओं को रश्मियाँ अपने तेज के द्वारा धारण कर लेती हैं। उर्वशी का रूपकात्मक वर्णन ऋग्वेद में पुरूरवा की प्रेमिका-पत्नी के रूप में भी हुआ है (ऋ० १०।९५)। १८ मन्त्रों के सूक्त में दोनों का संवाद बहुत ही रोमांचकारी है। पार्थिव राजा पुरूरवा को उर्वशी अपना प्रेम देकर भी प्रतिज्ञाभङ्ग के कारण छोड़कर चल देती है, पुरूरवा के अनेक आग्रहों के बाद भी वह नहीं लौटती। इस प्रेमकथा का विस्तार शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में हुआ है जिसे विष्णुपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में पल्लवित

किया गया है किन्तु इसका सर्वोत्कृष्ट रूपान्तर कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में हुआ है।

'वृक' (६५) शब्द का निर्वचन देने में यास्क की यान्त्रिक प्रवृत्ति ध्यातव्य है। यद्यपि एक ही निर्वचन देकर अर्थादेश से विभिन्न अर्थों में इसके प्रयोगों की व्याख्या की जा सकती थी किन्तु निर्वचन-प्रेम ही यास्क को विभिन्न अर्थों के लिए पृथक्-पृथक् निर्वचन देने को विवश करता है। 'तूतुमाकृषे' (७४) निश्चित रूप से दो पद है। पद-पाठ में इसे 'तूतुमा + कृषे' पढ़ा गया है किन्तु यास्क ने 'तूतुम् (तूर्णम्) + आकृषे (उपाकुरुषे) पढ़ा है। यास्क का पदविभाग ही श्रेयस्कर मालूम पड़ता है। यास्क की यह उक्ति निरर्थक नहीं है—अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। (निरु० १।१७)।

[च] षष्ठ अध्याय

[१३२ पदों का निर्वचन—आशुशुक्षणि, ऋदूदर—वैदिक जीविका-साधन—अस्मे, विजामाता तथा स्याल—लाजावपन—बेकनाट—यमी द्वारा यम की भर्त्सना—कीकट—ऋबीस ।]

यह अध्याय अपेक्षाकृत विस्तृत है क्योंकि निघण्टु के १३२ अनवगत संस्कार वाले पदों की निरुक्तियाँ इसमें दी गयी हैं। व्याख्या-शैली में यह अपने पूर्ववर्ती (४, ५) अध्यायों का ही अनुगमन करता है। यह छह पादों तथा ३६ खण्डों में विभक्त है।

इसमें पूरे मन्त्र का उद्धरण देकर सर्वप्रथम 'आशुशुक्षणि' की व्याख्या की गयी है जो अग्नि के स्वरूप तथा शक्ति पर प्रकाश डालने वाला विशेषण है। इसकी व्याख्या यास्क ने चार प्रकार से की है—पदार्थों को अतिशीघ्र नष्ट करने वाला, ज्वाला से नष्ट करने वाला, ज्वाला से दान करने वाला या पहुँचने वाला, जलाने की उत्कट इच्छा वाला। इसके बाद क्रमशः अलातृण, सललूक, कल्पय प्रभृति अत्यन्त दुर्बोध शब्दों की सनिगम व्याख्या है। 'ऋदूदर' को मृदूदर से निष्पन्न मानते हुए यास्क आदिव्यंजनलोप का भाषाशास्त्रीय तथ्य प्रदर्शित करते हैं। 'ऋषि' को दृश्-धातु सें निष्पन्न मानने में भी यही सिद्धान्त काम करता है।

द्वितीय पाद के आरम्भ में उपल-प्रक्षिणी (सत्तू पीसनेवाली) का निर्वचन देते हुए यास्क ने वह ऋचा उद्धृत की है जिसमें वैदिक परिवार का एक दृश्य वर्णित है। एक ही परिवार के सदस्य अपने पृथक्-पृथक् जीविका साधनों के द्वारा सामंजस्य रखते हैं—कोई यज्ञों में स्तुतिकर्ता है, उसके पिता वैद्य हैं, माता चक्की पीसने का काम करती है—इस प्रकार विविध कर्मों से धनार्जन करते हुए भी वे परस्पर अनुकूलता-पूर्वक रहते हैं। इससे पता लगता है कि वैदिक युग में जन्म से वृत्ति-व्यवस्था नहीं थी। कुछ लोग कहते हैं कि यह मन्त्र (९।११२।३) दुर्भिक्षकालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करता है (स्कन्दभाष्य)।

वैदिक शब्द 'अस्मे' (२९) अस्मद् की विभिन्न विभक्तियों के रूपों में आता है अतः यास्क ने इसके सभी विभक्तियों के स्थान में उदाहरण देकर समझाया है। पाणिनि के अनुसार यह 'अस्मद्+शे' से बना है (अष्टाध्यायी ७।१।३९)।

'विजामातुः' (४०) शब्द का विवेचन समाजशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विजामाता वह है जिसमें जामाता के पूर्ण गुण न हों। धन देने की तो उसमें प्रचुर शक्ति है, कन्या के पिता को धन से प्रसन्न करके विवाह कर

सकता है किन्तु जामाता में अपेक्षित कुलीनता-प्रभृति गुण उसमें नहीं। इसी प्रसंग में 'स्याल' (साला, पत्नी का भाई) की व्याख्या की गयी है। साला भी अपनी बहन के हित के लिए अपने बहनोई को प्रचुर धन देता है। इन्द्र और अग्नि को ऐसे विजामाता तथा साले से भी अधिक उदार कहा गया है। 'स्याल' का निर्वचन करते हुए यास्क एक वैवाहिक विधि की ओर संकेत करते हैं—स्यात् लाजान् आवपति। अर्थात् इसे स्याल इसलिए कहते हैं कि बहन के विवाह के अवसर पर सूप से लाजा छींटता है (स्याल्लाजान् स्याल्ल स्याल)। धान के लाजों (लावों) को छींटने का रहस्य लोग बतलाते हैं कि वर-वधू का सम्बन्ध ऐसा ही सदा विकसित रहे जैसे धान के लावे। वह निर्मल भी रहे। यही संकेत वधू के परिवार वाले देते हैं कि वह कन्या लावों के समान ही शुभ्राचरण बनी रहे।

पुनः इलीविशः, वकुर इत्यादि कठिन शब्दों का निर्वचन करके यास्क 'वेकनाट' (१०९) के निर्वचन में कहते हैं, कि यह शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है जो अपनी जीविका सूद से चलाते हैं, ऋण में दी गयी राशि को द्विगुणित करते हैं (द्विगुण > वेगन > वेकन + डाटन्प्रत्यय ?)। देवराज यज्वा ने इसका निर्वचन द्वि + एक + √नट् से दिया है अर्थात् दो और एक का नाट (नृत्य, परिवर्तन)। वस्तुतः यह एक रहस्यमय शब्द है। 'बत' (११२) का निगम दिखलाने के लिए यास्क ने यम-यमी संवादसूक्त (ऋ० १०।१०) का एक मंत्र यहाँ पुनः दिया है जिसमें यमी यम की भर्त्सना करती है कि हे यम, तुम नपुंसक हो; मन या हृदय नामक कोई चीज तुममें नहीं। सचमुच क्या दूसरी ही स्त्री तुम्हारा आलिंगन करेगी ?

'रथर्यति' (११५) को यास्क नामधातुक क्रिया-पद मानते हैं अतः इच्छार्थक नामधातु के निम्नलिखित रूप प्राप्त होते हैं—पुत्रीयति, वृषस्यति, अघायुः, रथर्यति। सबों में 'य' (क्यच्) प्रत्यय की समानता होने पर भी विकारों की विविधता है। इसी प्रसंग में 'कीकट' (१२७) से सम्बद्ध ऋचा की व्याख्या भी द्रष्टव्य है। कीकट का निर्वचन यास्क करते हैं कि जहाँ के निवासी धर्मादि कार्य को 'किंकृत' (निरर्थक) मानें, धर्मादिक्रियाओं से क्या लाभ है ?—वे सदा यही कहते हैं। वैदिक ऋचा के अनुसार वे सोम में मिलाने के लिए न तो दुग्ध पाते हैं और न अपने घर में अग्निहोत्रादि ही करते हैं।

इस अध्याय का अन्तिम निर्वचन निघण्टु के 'ऋबीस' पद का है जिसका अर्थ है पृथ्वी। इसे यास्क √ऋ + भास् (गतज्योति), या √हृ + भास् या अन्तर् + धा + भास् से निष्पन्न मानते हैं। यह भी रहस्यमय शब्द है।

—:०:—

[छ] सप्तम अध्याय

[सप्तम-अध्याय—देवता-विज्ञान—ऋचाओं के भेद-विषय—मन्त्र में देवता की पहचान—देवताओं के तीन भाग—विभाजन—की अन्य रीतियाँ—देवताओं से सम्बद्ध वस्तुएँ—एकदेववाद—बहुदेववाद—सर्वेश्वरवाद—कैथेनोथिज्म—स्वरूप-विचार—मानवीकरण उसकी विशेषतायें—अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर—प्रारम्भिक-विज्ञान ।]

प्रथम अध्याय यदि निरुक्त-साहित्य की भूमिका है तो सप्तम अध्याय वैदिक-वाङ्मय के देवता-विज्ञान (Theology) की भूमिका है । दैवतकाण्ड की व्याख्या के पूर्व यास्क देवताओं और मन्त्रों के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर और प्रामाणिक ज्ञान देते हैं ।

प्रत्येक मन्त्र का कोई-न-कोई देवता होता है । जब किसी मन्त्र में कई देवताओं के नाम आयें तो उसमें जिसकी प्रधानता हो उसे ही मन्त्र-देवता मानते हैं । ऋग्वेद की सारी ऋचाओं को यास्क तीन भागों में बाँटते हैं—(१) परोक्षकृत ऋचायें वे हैं जिनमें अन्य पुरुष का प्रयोग हो, (२) प्रत्यक्षकृत ऋचाओं में मध्यमपुरुष का तथा (३) आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है, अर्थात् देवता स्वयं बोलते हैं । ऋचाओं का यह वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है और पुरुषवाचक-सर्वनाम (Personal Pronoun) तथा देवता की स्थिति के आधार पर किया गया है ।

ऋचाओं में वर्णित विषयों (Subject-matter) के सम्बन्ध में यास्क ने एक लम्बी सूची दी है—स्तुति, कामना, शपथ और अभिशाप, अवस्था-विशेष, निन्दा और प्रशंसा आदि का वर्णन ऋचाओं के विषय हैं । सायण ने भी अपनी ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में मन्त्रों के लक्षण करते समय उनके पदार्थों की गणना कराई है, जैसे—अनुष्ठान का स्मरण करानेवाले, स्तुतिवाले, अन्त में 'त्वा' वाले (त्वान्ता:); आमन्त्रण-युक्त, प्रेरक, विचार करनेवाले, परिदेवना (शिकायत) करनेवाले, प्रश्नार्थक, उत्तरवाचक आदि । इन पदार्थों का अन्त नहीं, इसलिए वे कहते हैं—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः ।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥

अर्थात् यदि पदार्थों का अलग-अलग वर्णन किया जाय[1] तो अन्त हो ही नहीं सकता; बुद्धिमानों को चाहिये कि लक्षण से ही इनका बोध करें । यास्क भी इन

---

१. तुलनीय—महाभाष्य (पस्पशाह्निक), उत्सर्ग और अपवाद रूपी लक्षण की आवश्यकता तथा प्रतिपदपाठ की कठिनाई ।

पदार्थों के विषय में आनन्त्य का ही संकेत करते हैं— 'एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (नि० ७।३)।

किसी मन्त्र में देवताओं को पहचानने के लिए यास्क ने उपाय बतलाया है कि जब मन्त्र में देवताओं का उल्लेख नहीं है तब उस मन्त्र को जिस देवता के यज्ञ के भाग में प्रयुक्त करें उसी देवता से सम्बद्ध मानें। यदि यज्ञ का प्रसंग न हो तो ऐसे संरक्षक-विहीन (प्रसङ्गमुक्त) मन्त्रों को प्रजापति-देवता का (याज्ञिकों के अनुसार) या नराशंस का (निरुक्तकारों के सम्प्रदाय के अनुसार) समझें। नहीं तो अपने इष्टदेवता या देवताओं के समूह को ही ऐसे मन्त्रों का देवता समझें। किसी भी स्थिति में यह नहीं हो सकता कि मन्त्र देवता से रहित हो। देवताओं का विराट् आयाम देखते हुए यह कहा जा सकता है।

यास्क ने देवताओं के तीन भाग किये हैं—पृथ्वी के देवता अग्नि, अन्तरिक्ष के वायु या इन्द्र, स्वर्ग के सूर्य। यह विभाजन ऋग्वेद के एक मन्त्र (१।१३९।११) पर आधारित है।[१] इस प्रकार ये तीन ही प्रधान देवता हैं। यास्क का यह अभिप्राय नहीं कि और सभी देवता इन तीनों के ही विभिन्न-रूप हैं, किन्तु एक स्थान में रहनेवाले सभी देवताओं के रूप में साम्य रहता है। इस पर यास्क पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष लेकर विवाद करते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि ये मनुष्यों के राज्य के समान हैं जहाँ राजा की प्रधानता होती है; उसी प्रकार जैसे पृथ्वी के बहुत-से देवताओं में अग्नि की प्रधानता है। इसका कोई विशेष अभिप्राय नहीं।

प्रो० मैकडोनल[२] ने देवताओं के विभाजन के कुछ अन्य सिद्धान्तों का भी निर्देश किया है—ऐतिहासिक-वर्गीकरण जिसमें भारत-यूरोपीय सभ्यता से लेकर वैदिक-युग तक के देवताओं के विकास के अनुसार काल-क्रम से विभाजन किया जा सकता है; देवताओं की पारस्परिक महत्ता के आधार पर भी उनका वर्गीकरण सम्भव है; अथवा जिस प्राकृतिक आधार का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उस नियम से भी वे विभक्त किये जा सकते हैं। इस अन्तिम वर्गीकरण को ही वे सबसे उत्तम समझते हैं तथा इसी का अवलम्बन उन्होंने स्वयं भी किया है।[3]

---

१. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवा यज्ञमिमं जुषध्वम्॥

अर्थात् हे देवगण! अपनी महिमा से आप स्वर्ग में ग्यारह हैं, पृथ्वी में भी ग्यारह हैं, अन्तरिक्ष में रहनेवाले भी आप ग्यारह हैं, वे देवता इस यज्ञ की सेवा करें (आनन्द लें)।

२. Vebic Mythology, Strassburg, 1897, p. 18–19.

३. प्रो० मैकडोनल ने अपनी पुस्तक 'वैदिक मिथोलजी' में (पृ० १५–१३८ तक) देवताओं के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है तथा उसका वर्गीकरण करके प्रत्येक विशेषता का वर्णन किया है। जिन देवताओं का वे वर्णन करते हैं वे हैं—

(क) स्वर्ग के देवता—द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विन्-युगल।

यास्क ने देवताओं के तीन भाग करके उनके विषय से सम्बद्ध वस्तुओं के नाम भी गिना दिये हैं। ये वस्तुएँ केवल विशिष्ट देवता से ही सम्बन्ध नहीं रखतीं, प्रत्युत उस स्थान में रहनेवाले हरेक देवता के नाम में भी वे हीं वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं। जैसे स्वर्ग में रहनेवाले सूर्य के विषय की चीजें ही विष्णु के नाम में भी दी जाती हैं क्योंकि वे भो उसी स्थान के निवासी हैं। केवल इतना ही नहीं, भिन्न-भिन्न स्थानों में रहनेवाले देवताओं की चीजें भी परस्पर व्यवहृत होती हैं। अग्नि के विशेषण सूर्य, इन्द्र आदि में भी लगाये जाते हैं। यह देवताओं की परस्पर-समता का द्योतक है और एकदेववाद की ओर संकेत करता है।

एकदेववाद (Monotheism) और बहुदेववाद (Polytheism)का विचार भी यास्क ने समुचितरूप से किया है। वे कहते हैं—'महाभाग्यात् देवताऽयः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते (नि० ७।४)।' यहाँ आत्मा का अर्थ है शरीर, क्योंकि वे आगे चलकर बतलाते हैं कि दूसरे देवता इसी आत्मा के विभिन्न अङ्ग हैं। सम्भव है कि पृथक्-पृथक् कर्म करने के कारण ये नाम देवताओं के पड़े हों क्योंकि ऋग्वेद के प्रारम्भिक-भाग में प्रकृति के विभिन्न विभागों की संरक्षणता एक-एक देवता में बाँटी मालूम होती है। इससे कुछ विद्वान् इन स्थानों की तुलना यूनान-देश के प्राचीन प्रकृतिवाद (Hellenism) से करते हैं। किन्तु यह कहना भ्रम है क्योंकि ऋग्वेद के वाक्य ही इसका खण्डन करते हैं जैसे—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (१।१६४।४६)। एक ही सत्त्व के विविध-रूपों ही स्तुति करने से हम उसे बहुदेववाद नहीं कह सकते। ईश्वर की एकता का सिद्धान्त जो आगे चलकर उपनिषदों के द्वारा शङ्कराचार्य के अद्वैत वेदान्त में पुष्पित और फलित हुआ, निश्चित-रूप से ऋग्वेद के अन्तिम-अंशों में ही आरोपित हो चुका था।

(ख) अन्तरिक्ष के देवता—इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद, रुद्र, मरुद्गण, पर्जन्य, आपः।

(ग) पृथ्वी के देवता—नदियाँ (सरस्वती), पृथिवी, अग्नि, सोम।

(घ) भावात्मक (Abstract) देवता—सवितृ, धातृ, त्वष्टृ, धर्तृ, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।

(ङ) देवियाँ—उषस्, वाक्, पुरन्ध्रिः, धिषणा, इला, सरस्वती, राका, पृश्नि, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, सूर्या, देवपत्नियाँ।

(च) युग्म देवता—मित्रावरुणा, इन्द्रावरुणा, द्यावापृथिवी (रोदसी), इन्द्र-वायु, इन्द्राग्नी, इन्द्राबृहस्पति, इन्द्राविष्णु, इन्द्रापूषणा, सोमारुद्रा, अग्नीषोमा।

(छ) देवताओं के समूह—मरुद्गण (२१ या १८०), रुद्रगण (संख्या अनिश्चित), आदित्यगण (७ या ८), विश्वे-देवाः।

(ज) छोटे देवता—ऋभुगण, अप्सरागण, गन्धर्वगण।

(झ) रक्षा करनेवाले (Tutelary) देवता—वास्तोष्पति, क्षेत्रस्य पति, उर्वरापति।

इन देवताओं के विषय में अधिक जानने के लिए उपर्युक्त पुस्तक देखना आवश्यक है। देवता विज्ञान (Theology) का इसके समान सुन्दर वर्णन दुर्लभ है।

सर्वेश्वर (Pantheism) के उदाहरण भी हम ऋग्वेद में पाते हैं, जैसे—
अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।। (१।८९।१०)
अर्थात् अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वही पिता है, वही पुत्र है। सभी देवता और पञ्च-निवासी जन भी अदिति हैं, सभी उत्पन्न वस्तुएँ भी अदिति ही हैं। इस ऋचा में सम्पूर्ण संसार को ही अदिति के रूप में दिखलाया गया है। फिर हिरण्यगर्भ-सूक्त में भी—

प्रजापते ! न, त्वदेतान्यन्यो
विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।। (१०।१२१।१०)

अर्थात्,

हे प्रजापते ! आपसे दूसरा कोई,
सम्पूर्ण जीव के ऊपर नहीं हुआ है।
जो लिये कामना बुला रहे, पूरी हो
हम सभी लोग धन के स्वामी बन जाएँ ।।

इन उद्धरणों में ईश्वर को विश्वमय देखने की चेष्टा हुई है।

देवताओं के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर (Max-Muller) का कहना है कि प्रत्येक स्थान पर किसी विशिष्ट देवता को ही प्रधान माना गया है, इस प्रकार सभी देवता अपने-अपने स्थान पर अन्य सभी देवताओं से ऊपर दिखाये गये हैं। इस विचित्र-मत को वे हिनोथिज्म या कैथेनोथिज्म[1] कहते हैं। किन्तु इस मत की प्रखर आलोचना ह्विटने (Whitney) तथा हॉपकिन्स (Hopkins) ने की है। वे कहते है कि देवताओं का वर्णन अन्य देवताओं से स्वतन्त्र और पृथक् होकर नहीं हुआ है। बड़े बलवान् देवता भी पराधीन हैं—वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन हैं (१।१०१।३); वरुण और अश्विन् भी विष्णु के समक्ष विनत हैं (१।१५६।४); इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और आदित्य भी सवितृ के आदेश का उल्लंघन नहीं कर सकते (२।३८।९) दो देवताओं या कई देवताओं की स्तुति भी एक साथ होती है। इसलिए हिनोथिज्म केवल देखने में ही लगता है, वस्तुतः ऐसी कोई बात नहीं।[2] तथापि देवताओं के एकीकरण की ओर जानेवाली ऋग्वेदकालिक प्रवृत्ति का निर्देश करने में यह पूर्ण सफल है।

---

1. Henotheism, Kathenotheism = 'The belief in individual gods alternately regarded as the highest.'

2. Henotheism is an appearance not reality.

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि देवता के समूह का वर्णन होने पर भी एकत्व की ओर ऋग्वेद की धारा वह चली है। इस प्रकार की धारा को मैक-डोनल वहुदेववादात्मक एकदेववाद (Polytheistic Monotheism) कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पहले-पहल तो ऋग्वेद में अनेक देवताओं की मान्यता है है किन्तु निष्कर्षतः एक ही देवता मानने की प्रवृत्ति आ गई चाहे वह पुरुष हो, प्रजापति या वाक्।

इसके बाद देवताओं के स्वरूप का विचार होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ये मनुष्य के आकार हैं क्योंकि (१) इनके सम्बोधन चेतन-जीवों के समान हैं, (२) मनुष्यों के ही समान इनके अङ्ग हैं, (३) उन्हीं की वस्तुएँ भी ये प्रयोग में लाते हैं और (४) मनुष्यों के कर्म भी इन देवताओं के हैं। इसके उत्तर में यास्क कहते हैं कि ये सभी बातें तो अचेतन वस्तुओं के साथ भी पाई जाती हैं; केवल इनके आधार पर हम उन्हें मानवाकार नहीं मान सकते। फिर भी वे भीतर से सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे यह भी कहते हैं—'अपि वा, उभयविधाः स्युः'।

आधुनिक विद्वानों ने वैदिक-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन करके इस विषय में कई निष्कर्ष निकाले हैं।[1] देवताओं के मानवीकरण के विविध-रूप हमें वेदों में प्राप्त होते हैं। जब प्राकृतिक वस्तुओं के नाम पर ही वैदिक देवताओं का नाम पड़ता है तब हम समझते हैं कि मानवीकरण अभी प्राकृतावस्था (Primitive Stage) में ही है जैसे—द्यौः पृथिवी, सूर्य, उषस्। इन देवताओं के वर्णन में दो चीजें हैं—प्रकृति का उपादान और उनका शासन करनेवाला व्यक्ति। किन्तु जब देवताओं का नाम प्राकृतिक उपादानों के नाम से विच्छिन्न हो जाता है तब उच्चतर मानवीकरण की रूपरेखा हमें मिलती है। मरुद्गण का नाम वायु से अलग हो गया यद्यपि वैदिक ऋषि इनके सम्बन्ध से परिचित हैं। इस प्रकार के मानवीकरण की सत्ता में हम कभी अविश्वास नहीं कर सकते।

अब हमें देखना है कि इस वैदिक-मानवीकरण की क्या विशेषताएँ हैं। प्रो० मैकडोनल ने मानवीकरण को केवल छायात्मक (Shadowy) माना है[2] क्योंकि प्रकृति के कार्यों का ही आलङ्कारिक चित्रण किया गया है। देवताओं पर सिर, मुँह, आकृति, कपोल, आँख, केश, कन्धे, छाती, पेट, बाहु, हाथ-पैर आदि का आरोपण हुआ है। विशेषतया इन्द्र और मरुत्-जैसे युद्धप्रिय देवताओं के सिर, छाती और बाहु का वर्णन हुआ है। सूर्य की किरणें ही उनके बाहु हैं, अग्नि की जीभ उनकी ज्वालायें हैं। कुछ देवताओं (जैसे उषस्) के वस्त्र का भी वर्णन होता है। शस्त्र के विषय में इन्द्र वज्र धारण करते हैं, और दूसरे देवता धनुष-

---

१. देखिए—Macdonell, Vedic Mythology and A. B., Kieth, Religion and Philosophy of the Veda.

2. Vedic Mythology, p. 17.

वाण। इनके चमकीले रथ भी हैं, सभी देवताओं के रथ तो घोड़े खींचते हैं लेकिन पूषन् बकरों से ही काम चलाते हैं जिसके चलते उन्हें 'अजाश्व' (बकरों से घोड़े का काम लेनेवाला) कहते हैं। देवताओं में दया और क्रोध भी है जैसे रुद्र में। वृत्र को मारने में इन्द्र की शक्ति देखने लायक है। यज्ञ करनेवालों को देवता सहायता प्रदान करते हैं किन्तु कृपणों को दण्ड भी देते हैं। इनमें नैतिकता भी उच्चकोटि की है क्योंकि सभी देवता अपने नियम के पक्के हैं, कभी धोखा नहीं देते। यह कहना अयुक्त नहीं है कि ये नैतिकता के संरक्षक (Guard of morality) हैं। पापों और अपराधों के साथ वरुण के क्रोध का आनुपातिक सम्बन्ध है। इन देवताओं की शक्ति और महिमा तो प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार देवताओं के मानवीकरण का उपसंहार हम मेकडोनल के वाक्य से ही करें[1]—'वेद के सच्चे देवता उत्कृष्ट मनुष्य ही हैं जिन्हें मनुष्य की प्रवृत्तियाँ और वासनायें प्रेरित करती हैं, मनुष्य के समान जन्म लेकर भी ये अमर हैं।' अतएव वैदिक-देवताओं को अतिमानव (Superman) कहना असंगत नहीं है।[2]

उपर्युक्त तीनों देवताओं से सम्बद्ध वस्तुओं की गणना कराने के प्रसङ्ग में यास्क ने कुछ मुख्य शब्दों का निर्वचन किया है। जैसे—मन्त्र, छन्द, ऋक् आदि। छन्दों पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया गया है और वेद के प्रायः सभी छन्दों के नामों का निर्वचन हुआ है। इसी प्रकार दैवत-काण्ड की भूमिका के रूप में पूरे तीन पादों का उपयोग किया गया है। चतुर्थ-पाद से निघण्टु के दैवत-काण्ड (पञ्चम-अध्याय) में गिनाये गये नामों की व्याख्या आरम्भ होती है। चूँकि निघण्टु के पञ्चम-अध्याय के केवल प्रथम-खण्ड की व्याख्या करना यास्क को निरुक्त के सप्तम-अध्याय में अभीष्ट है इसलिए केवल तीन देवताओं की व्याख्या उन्होंने इस स्थान पर की है। वे हैं—अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर। इन सबों पर उनका विचार बहुत विस्तृत है।

तीनों ही देवताओं की व्याख्या के क्रम में पहले देवता का वे निर्वचन करते हैं। उसके बाद वैदिक-ऋचायें उद्धृत करके उनका प्रयोग दिखलाते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि ऊपर के दोनों ज्योतिष्पुञ्ज, विद्युत और सूर्य भी इन नामों से पुकारे जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जैसे अग्नि यों तो एक ही देवता का नाम है किन्तु विद्युत और सूर्य का उल्लेख भी लाक्षणिक-रूप से इस नाम के द्वारा हो जाता है। अन्त में वे निष्कर्ष निकालते हैं कि सूक्तों में सम्बोधित तथा हवि पानेवाले इसी पार्थिव (भौतिक) अग्नि (Fire) को क्रमशः अग्नि, जातवेदस्

1. Ibid p. 2—'The true gods of the Veba are glorified human beings, inspired with human motives and passions, born like men, but immortel'.

२. विशेष विवरण के लिए देखें मेरा लेख—'ऋग्वेद में मानवीकरण' पटना कालेज पत्रिका, मई, १९५९।

और वैश्वानर कहते हैं। इन नामों से ऊपरी ज्योतिष्पुञ्ज कभी-कभी ही सूक्तों में सम्बोधित किये जाते हैं या हवि पाते हैं।

वैश्वानर के विषय में यास्क ने बहुत बड़ा विवेचन किया है तथा कई मनोरञ्जक बातें उद्धृत की हैं। बिजली और सूर्य से अग्नि किस प्रकार निकलती है इसका वैज्ञानिक वर्णन किया है जो उस समय के प्रारम्भिक पदार्थ-विज्ञान का परिचायक है। यास्क कहते हैं कि जब किसी ठोस वस्तु पर बिजली गिरती है तब उस समय तक यह अपना ही गुण लिये रहती है जब तक ठहर नहीं जाती। उसके अपने गुण का अभिप्राय है—जल में प्रज्वलित होना और ठोस वस्तु में बुझ जाना। किन्तु जब यह स्थिर हो जाती है तब पार्थिव-अग्नि का गुण ग्रहण कर लेती है जो ठोस में प्रज्वलित होना और जल में बुझ जाना है। वस्तुस्थिति जो भी हो परन्तु विद्युत में अग्नि का सम्बन्ध स्थापित करना कुछ कम नहीं है।

सूर्य से भी अग्नि का सम्बन्ध दिखलाया गया है। जब सूर्य उत्तरायण में होते हैं तब काँसा या मणि को साफ करके उनकी किरणों के सामने सूखे गोबर के पास (किन्तु बिना स्पर्श कराये हुए) रखें तो वह जलने लगेगा। वस्तुतः किसी पीतल की तश्तरी में किरणों को एकत्र करके काला कपड़ा रखने पर वह जलने लगता है। प्रायः सप्तम-शती ई० पू० के प्रारम्भिक-विज्ञान को देखकर किसे आश्चर्य न होगा ? यह देखना चाहिये कि यास्क की प्रतिभा कितनी सर्वतोमुखी थी।

वैश्वानर का वर्णन जिस पाण्डित्य-प्रकर्ष के साथ उन्होंने किया है वह उनकी विलक्षण-वैदुषी का परिचायक है। वैश्वानर को सूर्य के रूप में सिद्ध करने के लिए जितने तर्क दिये गये हैं उनके खण्डन में यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क का अध्ययन कितना विस्तृत था।

चतुर्थ परिच्छेद

यास्क का निर्वचन

[निर्वचन का अर्थ—आधुनिक-निर्वचन—इसकी कठिनाइयाँ—व्यापक अध्ययन की आवश्यकता—यास्क की विशेषता—यास्क के ध्वनि-नियम—यास्क के निर्वचन की विशेषतायें—यास्क के निर्वचनों के स्वरूप—निर्वचनों की दुर्बोधता और उसके कारण—निष्कर्ष ।]

निरुक्त निर्वचन का ही शास्त्र है। इसमें शब्दों का इतिहास इस ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है कि उनमें सन्निहित धातु का पता लग जाय और धातु के अर्थ के आधार पर ही शब्द का अर्थ निर्धारित किया जाय । धातु से शब्द का अर्थ या तो साक्षात् रूप से चला आ सकता है (वाच्यार्थ), या अलंकारों की सहायता लेनी पड़ सकती है । यास्क ने निर्वचन की दोनों रीतियों का ही आश्रय लिया है । निर्वचन की अनिवार्यता के विषय में यास्क कहते हैं कि हमें कभी भी अपनी असमर्थता दिखलानी नहीं चाहिए (न त्वेन न निर्ब्रूयात्—२।१)।

किन्तु यास्क के निर्वचन और आधुनिक निर्वचन (Etymology)[1] का एक मौलिक-अन्तर यह है कि यास्क अपने निर्वचनों में शब्दों को निश्चित रूप से आख्यातज (of verbal origin) मानते हैं जब कि आधुनिक भाषा-विज्ञान का निर्वचन-शास्त्र सभी शब्दों को आख्यातज नहीं मानकर उनकी उत्पत्ति का वहाँ तक का इतिहास खोजता है जहाँ तक जाने के लिए अभी तक साधन प्राप्त हुए हैं । उदाहरणतः संस्कृत के किसी शब्द की तुलना अवेस्ता, ग्रीक, गाँथिक, बुल्गेरियन, तोखारियन आदि प्राचीन भाषाओं में प्राप्य शब्दों से करते हुए प्राचीनतम भारत-यूरोपीय मूलभाषा (Prot. type Indo-European) में उसकी सत्ता खोजना ही निर्वचन है । अब भा० यू० मूलभाषा में वह शब्द धातु के रूप में या नाम के रूप में ही हो—भाषा-विज्ञान इनकी चिन्ता नहीं करता । हाँ, यदि साध्य हो तो अर्थ का भी पता लगा लेना उसका कर्त्तव्य है । इस रीति से निर्वचन करने की कठिनाई को भुक्तभोगी ही समझ सकता है । अध्ययन की जानेवाली भाषा का परिवार आँखों के सामने हो (स्मरण रहे, भाषाओं का परिवार बहुत बड़ा होता है तथा वहाँ भी पृथक्-परिवार-प्रथा है किन्तु हमें सबों के पास जाकर अध्ययन-याचना करनी है),

१. Etymology—ग्रीक भाषा का etymos = सत्यता, logos = विज्ञान—सत्यता का विज्ञान अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति और अर्थ का सही पता लगानेवाला विज्ञान ।

उस भाषा पर प्रभाव डालनेवाले सभी तत्त्व (जैसे सांस्कृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक) भली-भाँति ज्ञात रहें, उसके सम्पर्क में आनेवाली भाषाओं पर पूरा अधिकार हो, भाषा-भाषियों का मनोविज्ञान (Psychology) तथा मानवविज्ञान (Anthropology) हम जानते रहें, इन सभी विषयों के आधार पर उसके ध्वनि-नियम (Phonetic Laws) मालूम हों—तब कहीं निर्वचन की पूर्णता हो सकती है, यदि इतना श्रम एक-एक शब्द पर करें तब तो पूरी भाषा के शब्दों का निर्वचन करना दीर्घकाल तक निरन्तर श्रम करने के फलस्वरूप ही हो सकता है ।[1]

यास्क के समय तो क्या, आजकल भी भाषाविज्ञान ऐसी दशा में नहीं पहुँच सका है कि किसी भी भाषा के सभी शब्दों के निर्वचन (इतिहास) का पता लगा सके । इसका प्रमुख कारण है भाषाविज्ञान के सहायक अन्य विद्वानों का अविकसित होना । यदि समस्त वैज्ञानिक साधनों के होने पर भी आज हम शुद्ध और पूर्ण निर्वचन नहीं पा रहे हैं तो यास्क के युग से क्या आशा की जा सकती है ? फिर भी हम देखेंगे कि वह युग-प्रवर्तक केवल निर्वचन का जन्मदाता ही नहीं, इस विषय में बहुत आगे बढ़ा हुआ था । निरुक्त के मनीषी स्कोल्ड कहते हैं—'हमें आश्चर्यचकित होना पड़ता है क्योंकि कितने ही अच्छे और सच्चे निर्वचन हैं' ।[2] दूसरी ओर डा० लक्ष्मणसरूप[3] कहते हैं—'निर्वचन-शास्त्र का वैज्ञानिक-शिलान्यास का दावा करने तथा इसके सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना करने में यास्क ही प्रथम हैं ।'

निर्वचन के लिए यास्क ने जो सामान्य-सिद्धान्त दिये हैं उनकी आलोचना करते के समय हम देख चुके हैं कि यास्क ने उदाहरण ठीक दिये हैं किन्तु सिद्धान्त नहीं ।[4] उनकी आधारशिला है कि कोई भी ध्वनि किसी ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो सकती है । यह भाषाविज्ञान के ध्वनि-नियमों के विरुद्ध है । इसी बात को देखकर प्रो० राजवाड़े—जैसे कुछ विद्वान् कहते हैं कि यास्क की व्युत्पत्तियों को ध्वनि-नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं ।[5] डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने इसकी कटु आलोचना करते

देखिए १.—Encyclopaedia Britannica, Vol. 8. p. 790–1 तथा Collier's Encyclopaedia, Vol. 7, p. 463.

२. The Nirukta, p. 181—'We ought rather to be astonished because the Nirukta contains so many good and etymolagies as it does'.

३. Introduction to the Nirukta, Oxford, 1920, p. 64—'Yaska is the first to claim the scientific foundation, and also the first to formulate the general principles of etymology'.

४. भूमिका का तृतीय परिच्छेद [ख] ।

५, Vide, Yaska's Nirukta, p. XLII.

हुए ध्वनि-नियमों से यास्क की अभिज्ञता सिद्ध की है। यह सत्य है कि यास्क सब जगह ठीक नहीं किन्तु निम्नलिखित तथ्य तो उनकी वैज्ञानिकता स्वीकार करने के लिए हमें बाध्य ही करते हैं—

(१) स्वर-विकार (Ablaut) के विभिन्न-रूपों से परिचय :—गुण-विकार—जैसे, एव' की व्युत्पत्ति√इ से, 'वय' की व्युत्पत्ति√वी से। वृद्धि-विकार—'आदितेय' की व्युत्पत्ति 'अदिति' से। सम्प्रसारण—'पृथक्' की व्युत्पत्ति√प्रथ् से। इसके अलावे अन्य प्रकार के स्वर-सम्बन्ध भी उन्होंने दिखलाये हैं।

(२) कण्ठ्य और तालव्य-वर्णों के सम्बन्ध से परिचय :—'अङ्कस्' की व्युत्पत्ति√अञ्च् (मुड़ना) से, 'मृग' की व्युत्पत्ति√मृज् (जाना) से। मूल भारत-यूरोपीय-भाषा में इन दोनों प्रकार के वर्णों का सम्बन्ध हो चुका था, अन्तर यही है कि यास्क तालव्य-वर्ण से कण्ठ्य-वर्ण की उत्पत्ति मानते हैं जब कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कण्ठ्य-वर्ण ही तालव्य-वर्णों को उत्पन्न करता है।[1] पाणिनि के साथ भी यही दोष है क्योंकि वे भी 'चो: कु:' सूत्र के द्वारा यास्क-मत का ही समर्थन करते हैं। तथापि इन दोनों वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना भी क्या कम है ?

(३) व्यञ्जनों के दुहरे प्रयोगों से परिचय: —'स्कन्ध' की उत्पत्ति√स्कन्द् से और 'उत्स' की उत्पत्ति√उन्द् से मानना यह सिद्ध करता है कि दोनों का प्रयोग प्रचलित था और यास्क इनके पारस्परिक सम्बन्ध से अभिज्ञ थे।

(४) ल् को र् का आकस्मिक-विकार मानना :—'पुलुकाम' की व्याख्या 'पुरुकाम' से करते हैं। यह सिद्ध है कि र् और ल् बहुत काल से मिले जुले थे। मूल भारत-यूरोपीय भाषा में ल् था जो वैदि-युग में बहुधा र् हो गया, इसे रकारी-करण (rhotacism) कहते हैं। उदाहरण हैं—अङ्गुरि: (वै०)—अङ्गुलि:। रघुपत्वान: (वै०)—लघुपतना:।

(५) स्वरों तथा व्यञ्जनों का पारस्परिक सम्बन्ध :—'अभीके' = अभ्यक्ते (इ < अ) 'पितु:' < √प्यै, 'स्तूप:' < √स्त्यै, 'ग्रीवा' < √गॄ। 'उषस्' को √उच्छ् (चमकना) से निष्पन्न मानना भी भाषा-विज्ञान की ओर का एक महत्त्वपूर्ण पदक्षेप है (ष् < च्छ्)।

(६) वर्णों के द्विर्वचन (Reduplication) से परिचय :—'अजीग:' की व्याख्या 'अगारी:' करके की गई है अर्थात्√गॄ का द्वित्व हुआ है जिसमें कण्ठ्य 'ग्' तालव्य 'ज्' के रूप में परिवर्तित हो गया है; पुन: 'जिगर्ति:' को√गॄ, √गॄ, या√ग्रह् से निष्पन्न मानकर द्वित्व की पूर्वकल्पना कर लेते हैं।

---

१. तालव्य-वर्णों की उत्पत्ति के लिए देखें—Dr. Batakrishna Ghosh, Linguistic Introduction to Sanskrit, pp. 72-77.

(७) सन्धि के नियमों से परिचय :—'अनुष्टुप्' की व्याख्या 'अनु'-पूर्वक√स्तुभ् से हुई है अर्थात् दन्त्य 'स्', का परिवर्तन 'ष्' में हो गया है क्योंकि पूर्व में उकार है। पाणिनि ने इनके लिए नियम बनाया है 'इण्कोः' (८।३।५७) जिसका अर्थ है इण् और कवर्ग के बाद स् का ष् हो जाता है। ध्वनि-परिवर्तन के ये निरीक्षण यास्क की सूक्ष्मदृष्टि के परिचायक हैं।[1] इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि यास्क ध्वनि-नियमों (Sound laws) से बिलकुल अपरिचित थे।

यास्क केवल ध्वनि-शास्त्र से ही परिचित नहीं, अपितु निर्वचन-शास्त्र के विभिन्न पहलुओं से भली-भाँति परिचित प्रतीत होते हैं। यह और बात है कि तात्कालिक-गवेषणा के अभाव में या विविध मानवोचित दोषों के फलस्वरूप उनके निर्वचन कई स्थानों पर निर्दोष नहीं कहला सकते तथापि इस क्षेत्र में उनकी समता कोई एक विद्वान् कभी नहीं कर सकता। नीचे हम यास्क की निरुक्तियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे—

(१) यास्क को निर्वचन की धुन लगी है और वे 'न त्वेव न निर्ब्रूयात्' कहकर सचेत कर देते हैं। आरम्भ में ही 'निघण्टु' शब्द का निर्वचन करने में तत्पर हो जाना इसी धुन का फल है। ऋचाओं की व्याख्या करने के समय ऋचाओं में आनेवाले शब्दों तक ही यास्क की दृष्टि सीमित नहीं प्रत्युत उनके लिए दिये गये प्रतिशब्दों और उनसे भी सम्बन्ध शब्दों पर तक हाथ साफ करते हैं। फल होता है कि विषयान्तर में भटक जाते हैं। उदाहरण के लिए देखें—केवल 'मुहूर्त'-शब्द की व्याख्या करनी है—'मुहूर्तः = मुहुः ऋतुः। ऋतुः अर्तेर्गतिकर्मणः। मुहुः = मूढ इव कालः, यावदभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णम् अभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः = प्रक्षुतः कालः। 'काल कालयतेः गतिकर्मणः' (नि० २।२५)। 'मुहुः' और 'ऋतु' की व्याख्या तो उनके २।२ (पूर्वं पूर्वम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्) के नियम के अनुकूल है पर 'अभीक्ष्ण', 'क्षण्', और 'काल' कहाँ से टपक पड़े ? इसी धुन के फलस्वरूप उन्होंने इन्द्र का चौदह तरह से निर्वचन किया है (१०।८)। 'जातवेदस्' का छह प्रकार से (७।१९) और 'अग्नि' का पाँच प्रकार से (७।१४)।

(२) कुछ निर्वचन यास्क की स्थूल दृष्टि के भी द्योतक हैं। अर्थ की खींचातानी और ध्वनि की परेशानी दर्शनीय है। 'अन्न' को वे आ + √नम् से, वस्तुतः √अद् = खाना), 'आशा' (= दिशा) को आ + √सद् से, तथा 'इन' (= स्वामी) को √सन् से :(वस्तुतः √इ = जाना) निष्पन्न मानते हैं। पाणिनि के अध्येता इन्हें भ्रान्त ही समझेंगे।

---

१. इन सब निरीक्षणों का वर्णन डा० सिद्धेश्वर वर्मा के ग्रन्थ 'इटिमॉलजीज आफ् यास्क' (Etymologies of Yaska) के आधार पर किया गया है। वस्तुतः इस परिच्छेद का आधार ही वह पुस्तक है। मैं इस बहुमूल्य-ग्रन्थ का बहुत आभारी हूँ।

(३) कहीं-कहीं तो यास्क इतने वैज्ञानिक हैं कि आधुनिक भाषाविज्ञान भी आश्चर्यचकित हो जाता है। देखिये, 'सहस्र' की उत्पत्ति 'सहस्वत्' (शक्तिमान्) से मानते हैं। मूल भा० यू० शब्द है Segheslo kmto'm जिसका अर्थ है 'शक्तिशाली सौ', ग्रीक chilioi = एक हजार। 'सहस्र' में 'सहस्' शक्ति के अर्थ में है इसकी पुष्टि ग्रिम (Grimm), ब्रुगमैन (Brugmann) तथा मेये (Meillet) ने की है। इसी प्रकार विंशति (३।१०), श्रद्धा (९।३०), जरितृ (१।७) आदि के निर्वचन में भी उन्होंने अपूर्वता दिखलाई है। आश्चर्य तो यह है कि 'जरिता = गरिता' लिखने के समय यास्क मूल भा० यू० भाषा के ध्वनि-सिद्धान्त को भी जान रहे हैं। मूल भा० यू० में ऐसा ही शब्द है guera (ग्वेरा—) = स्वर ऊँचा करना, प्राचीन भारतीय भाषा (Old Indo-Aryan) में ओष्ठकण्ठीय (Labio Velar) ग्व् (gu) सदैव एकार के पर में रहने पर तालव्य (ज्) हो जाता है[1]—यह आधुनिक अनुसन्धान यास्क के मस्तिष्क में उत्पन्न प्रतीत होता है।

(४) प्रादेशिक बोलियों में यास्क की रुचि काफी है। 'शसमान' की 'शंसमान' व्याख्या देना प्रादेशिक परिवर्तन का द्योतक है जैसे आज मगध के कतिपय क्षेत्रों में आनुनासिकता घर कर गई है—इतिहाँस, बहंतर (बहत्तर), साँस (श्वास) इत्यादि। शव् (जाना) का प्रयोग कम्बोज में और शव (= लाश)' का प्रयोग आर्यदेश में होता है। इसके ज्ञान से यास्क शब्दों के ठीक-ठीक इतिहास देने में कुछ दूर तक अवश्य सफल हुए हैं यद्यपि उस समय यात्रादि की सुविधा न रहने के कारण अनेक बोलियों और भाषाओं को जानना बहुत कठिन था।

(५) यास्क अपनी सामर्थ्य भर आलस्य नहीं करते। सम्बद्ध भा० यू० भाषाओं में समान-शब्द ढूँढ़ने की कोई सुविधा न होने पर भी शब्दों की उत्पत्ति के निकट तक पहुँचने की उनकी चेष्टा स्तुत्य है, उन शब्दों का रूप भले ही प्राचीन भारतीय-भाषा (Old Indo-Aryan) में न मिले। 'अक्षि' को √अञ्ज् से निकालना क्या कम है ? देखें—मूल भा० यू० oqu (ओक्व्) = देखना।

(६) शास्त्रकार की दृष्टि से यास्क पूर्णतया वैज्ञानिक विचार-धारा लिये हुए हैं। अपने विचारों के साथ-साथ दूसरों के विचारों की तुलना भी करते जाते हैं। भारतीयों की इस पद्धति से वे बहुत दूर हैं कि दूसरे मूर्ख हैं, मेरा कहना ही ठीक है। इस स्थिति में वैदिक-व्याख्याकार सायणाचार्य का सिद्धान्त यास्क के समान ही है जो 'यद्वा' करके अनेक मतों का उल्लेख करते हैं। विशेषतया जिन स्थानों में सन्देह का अवकाश रहता है, वहाँ तो यास्क की उदारता दर्शनीय है। प्रकृत-विषय से सम्बन्ध रखनेवाले सभी सिद्धान्तों का ये उल्लेख कर देते हैं।

---

१. Vide. Dr. Batakrishna Ghosh, Linguistic Introduction to Sanskrit p. 75–6 and T. Burrow, Sanskrit Language, Sanskrit Phonology. For further reference vide—Wackernagel's—Altindische Grammatik.

है। पुनः, 'द्यु' की उत्पत्ति √द्युत् (चमकना) से मानते हैं किन्तु वह वस्तुतः √द्यु है, तकार व्यर्थ है। मूल भा० यू० में *diu, dei = चमकना।

(४) कुछ निर्वचन निश्चित रूप से स्वीकार नहीं हैं, उनकी स्वीकृति के विषय में सन्देह है, जैसे—उद्रिणम् = उदकवन्तम्। उद् = जल, मूल भा० यू० *ud ग्रीक hudor = जल। 'भर' (संग्राम) की उत्पत्ति √भृ (धारण करना), से मूल भा० यू० *bher = धारण करना, ग्रीक Phero = = मैं धारण करता हूँ। यह निश्चित नहीं है कि संग्रामार्थक 'भर' भी ऐसे ही वना है।

(५) कुछ निर्वचन सम्भवतः स्वीकार हैं तथापि अनुसन्धान की आवश्यकता है, जैसे—'अप्नस्' (रूप) √ आप् (पाना) से; मूल भा० यू० *ap = पहुँचना, लैटिन apiseor = मैं पहुँचता हूँ। सम्भव है कि 'अप्नस्' का सम्बन्ध √आप् से हो जाय।

(६) कुछ निर्वचन अत्यन्त प्राकृत है जिसका कारण है यास्क का युग। यह बात नहीं कि वे अवैज्ञानिक हैं। 'सुरुच्' की उत्पत्ति केवल √रुच् से बनाकर रह गये हैं जब कि मूल भा० यू० में *leuq = चमकना, ग्रीक—leukos = प्रकाश—ये शब्द भी मिलते हैं। यास्क आगे न बढ़ सके। कुछ निर्वचनों की प्राकृतता (Primitiveness) ध्वनि की दृष्टि से है, जैसे—'दण्ड' की उत्पत्ति √दद् या √दम् से मानना। मूल भा० यू० में शब्द है *del + ndo=फाड़ना, लैटिन dolo = मैं काटता हूँ। यह बात यास्क में रूपविज्ञान की दृष्टि से भी है। इसका मुख्य कारण है सभी शब्दों को आख्यातज मानना। आज जिन शब्दों को निश्चित रूप से संज्ञा आदि माना गया है यास्क उन्हें भी संज्ञा और विशेषण के मूल के रूप में आख्यात समझ लेते हैं, जैसे—'दीर्घ' की उत्पत्ति √द्राघ् से। यहाँ तक कि प्रत्ययों में भी धातु की गन्ध उन्हें मिल जाती है—नृम्ण = नृ + √नम् (नॄन् नतम्) जब कि ऐसे शब्द 'म्न' प्रत्यय लगाकर बनते हैं, जैसे—द्युम्न, सुम्न, निम्न (देखिये, ह्विटने का संस्कृत-व्याकरण, नियम-संख्या १२२४)। 'क्षीर' की उत्पत्ति √क्षर् से से मानने के समय वे यह नहीं देखते कि 'अ' से 'ई' कैसे बन जायगा। 'हिरण्य' की उत्पत्ति √हृ से मानते हैं जब कि मूल भा० यू० में यह आख्यात नहीं, विशेषण है—*ghel = पीला, helvus = पीला।

कहीं-कहीं यास्क अक्षरों को शब्दों का संकोचन और शब्दों को वाक्यों का संकोचन समझ लेते हैं, जैसे—'अग्नि = √इ (अ) + √अञ्ज् या √दह् (ग) + √नी (नि)। इस प्रकार तीन धातुओं से अग्नि के तीन अक्षर बने हैं। अंशु = √शम् (अं) + √अश् (श्) + उ। पुत्र—पुद् + । त्रा या

तो स्वयं ही Haplology का उदाहरण तैयार करके लाये हैं केवल दूसरा लक्षण लिख लें। 'उद्धततर' में यदि सवर्णलोप हो तो तकारों का लोप हो जाय, परन्तु इतिहास में ऐसा नहीं हुआ। उपसर्गों में भी प्रत्यय लगते थे उसी का यह उदाहरण है, जैसे—प्रवत, निवत्, सम्वत्, उत्तर, वितर, प्रतर। ये वैदिक-काल में ही होते थे।

पुत्र + त्रा; मूल भा० यू० *put = युवा। अक्षरों में शब्द का दर्शन करना भारतीय मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक-प्रवृत्ति का द्योतक है।

(७) यास्क के कुछ निर्वचन लोक-निरुक्ति (Folk etymology) से प्रभावित हैं। ये निरुक्तियाँ उन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों, परम्पराओं, किंवदन्तियों और अपनी कल्पनाओं से प्राप्त होती हैं। 'अङ्गिरस' की उत्पत्ति 'अङ्गार' से मानते हैं क्योंकि अङ्गिरा के सम्बन्ध की दन्तकथा ने निर्वचन को ही बदल दिया। मूल भा० यू० *angiras, ग्रीक angellos = दूत। वैसे ही 'देवर' की व्युत्पत्ति 'द्वितीयवर' से मानते हैं जब कि यह शब्द मूल भा० यू० से ही चला आ रहा है—*daiuer, ग्रीक daer = पति का भाई। उपर्युक्त निर्वचन का कारण है तात्कालिक समाज-व्यवस्था जिसमें एक पत्नी सभी भाइयों की सम्पत्ति समझी जाती थी।

(८) कुछ निर्वचन गलत हैं जो अधिकांशत: यास्क की असावधानी के परिचायक हैं। 'कितव' की व्युत्पत्ति 'कृतवान्' कहकर √कृ से मानते हैं किन्तु 'ऋ' को 'इ' करनेवाली प्राकृत-भाषा की प्रवृत्ति प्राचीन आर्यभाषा (१५०० ई० पू०—५०० ई० पू०) में नहीं आई थी। कुछ निर्वचनों में व्याख्या की अशुद्धियाँ हैं, जैसे—देवापि—देव + √आप् (पाना) किन्तु 'मित्र' के अर्थ में 'आपि' का प्रयोग ऋग्वेद में कई स्थानों पर आया है।[1] मूल भा० यू० *epi = साथी, ग्रीक epios = मित्रवत्। इनमें से कुछ का सम्बन्ध दिखलाना यास्क के लिए सम्भव था यदि सावधानी रखते।

(९) कुछ निर्वचन असम्भव हैं, जैसे—'रश्मि'—√यम् ?, 'उर्ज' √पच् या √व्रश्च् से।

(१०) कुछ निर्वचन तो दुर्बोध हैं जिनके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। इसके कई कारण हैं—(क) निर्वचन किये गये वैदिक-शब्द स्वयं भी सन्दिग्ध हैं क्योंकि भा० यू० भाषाओं में उनकी समता नहीं मिलती। सम्भव है कि वे अनार्य भाषा के शब्द हों।[2] (ख) यास्क की शुद्धि या अशुद्धि दिखलाने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हम नहीं कह सकते कि 'आह्वाव' आ + √ह्वे से बना है कि नहीं। (ग) यास्क ने स्वयं भी कई प्रकार के निर्वचन दिये हैं। जिससे ज्ञात होता है कि वे भी शुद्ध निर्वचन के विषय में निश्चित नहीं हैं। (घ) कुछ निर्वचनों की भाषा भी सन्देहात्मक है। (ङ) कहीं-कहीं व्युत्पत्ति दी गई है किन्तु अर्थ नहीं। यदि अर्थ ही सन्दिग्ध है तो निर्वचन की परीक्षा करना कठिन ही है। (च) कुछ निर्वचनों के आधार भी सन्दिग्ध हैं। (छ) कहीं तो ऐसी भ्रान्ति है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि अमुक व्याख्या निर्वचन है या व्याख्यामात्र। (ज) कुछ स्थानों पर जहाँ यास्क बिल्कुल स्पष्ट

---

१. देखिये—Petersburg Worterbuch (q. v.).

२. अनार्य शब्दों के लिए T. Burrow का Sanskrit Language देखें।

भी हैं तो भाषाविज्ञान के पास कोई साधन नहीं कि उनकी परीक्षा कर सके। 'अक्र' आ + √क्रम् से बना है कि नहीं—यह जाँचना बहुत कठिन है।

इस प्रकार यास्क के निर्वचनों का विभाजन करना सम्भव है। निर्वचनशास्त्र में वस्तुतः यास्क, अपने ही युग के लिए नहीं, अपितु अपने से बादवाले युग के लिए भी अनुपम रत्न हैं। भाषाविज्ञान की प्रक्रियाओं से अभिज्ञ, प्राचीन-आर्यभाषा समझने के एकमात्र सहायक तथा अपने युग के विचारों का अद्‌भुत प्रतिनिधित्व करनेवाले यास्क का निर्वचन पाणिनि का भी पथ प्रदर्शक रहा है और आधुनिक भाषाविज्ञान तो इन दोनों महर्षियों पर ही अवलम्बित है जो हमें अन्धकार में पथभ्रष्ट होने से बचाकर उचित मार्ग पर लाते हैं।



पञ्चम परिच्छेद

निरुक्त और वैदिक वाङ्मय

[निरुक्त का किसी वैदिक शाखा से सम्बन्ध-विभिन्न संहिताओं के उद्धरण—निरुक्त किसी एक वेद से सम्बद्ध नहीं है—यास्क की बहुज्ञता—डा० सरूप—अथर्ववेद—डा० स्कोल्ड—उद्धरणों की सारणी निरुक्त और वेदार्थ—वैदिक अर्थ करने के विभिन्न सम्प्रदाय—सायण—दयानन्द—अरविन्द—भाषाविज्ञान—धारणा के अनुसार व्याख्या—निरुक्त की व्याख्या-शैली ।]

वेद का अङ्ग होने के कारण वैदिक वाङ्मय मात्र से निरुक्त का बहुत घना सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिए ही प्रथम परिच्छेद में वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन किया गया है। अब हम यह देखेंगे कि किन-किन वैदिक ग्रन्थों के वाक्य निरुक्त में उद्धृत हैं तथा वैदिक व्याख्या में निरुक्त कहाँ तक सफल है।

यों तो निरुक्त में विभिन्न वैदिक संहिताओं और ग्रन्थों से वाक्य उद्धृत किये गये हैं परन्तु उनमें प्रधानता ऋग्वेद की ही है। इसका कारण यह है कि निरुक्तकार जिस निघण्टु पर भाष्य लिखते हैं उसमें ऋग्वेद के शब्दों का ही संकलन हुआ है अतएव ऋग्वेद में ही उसके प्रयोगों को दिखलाना यास्क के लिए उचित था। निरुक्त के अधिकांश परिच्छेद ऋग्वेद की किसी ऋचा से आरम्भ होते हैं जिसके बाद उन ऋचाओं की व्याख्या की जाती है। ये ऋचायें कहीं-कहीं दूसरी जगह भी मिल जाती हैं परन्तु इन्हें प्राचीनता की दृष्टि से ऋग्वेद से ही उद्धृत मानना संगत है। किन्तु केवल अन्य संहिताओं में मिलने वाले वाक्य भी निरुक्त में हैं। इस खींचतान के कारण निरुक्त को किस वैदिक-शाखा से सम्बद्ध मानें, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है। फिर भी चूँकि अन्य वेदाङ्गों के ग्रन्थ भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं के हैं, अतएव इसे भी किसी-न-किसी शाखा से सम्बद्ध मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस प्रश्न को समाहित करने में रॉथ (Roth) का कहना है कि निरुक्त कृष्ण-यजुर्वेद से, विशेषतया तैत्तिरीय-शाखा से, सम्बद्ध है। भाण्डारकर और गुणे (भा० अभि० ग्रन्थ) कहते हैं कि यास्क स्वयं यजुर्वेदी थे और उन्होंने विभिन्न संहिताओं से उद्धरण लिये हैं जिनमें तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक-संहितायें मुख्य हैं। वेबर (Weber) के अनुसार निरुक्तकार काण्व-शाखा से उद्धरण देते हैं। यजुर्वेद के उद्धरण के लिए वे वाजसनेयीसंहिता का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् यजुर्वेद की कतिपय शाखाओं से यास्क का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इनके तर्कों के मूल में यही बात है कि निरुक्त वेदांग है, किसी-न-किसी शाखा से अवश्य सम्बंद्ध होगा। अन्य शाखाओं के भी अपने निरुक्त रहे होंगे जो आज प्राप्त नहीं हैं।

अब यह विचारना है कि क्या निरुक्त वस्तुतः किसी शाखा से सम्बद्ध है। हमने ऊपर अन्य वेदाङ्गों से निरुक्त की विलक्षणता देख ली है।[1] निरुक्त स्वयं भी भाषा-विज्ञान नामक एक विलक्षण-शास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान को किसी एक पुस्तक या भाषा पर सीमित रहना नहीं पड़ता। उसे तो अनन्त भाषाओं, ग्रन्थों और शाखाओं के क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण करना पड़ता है। कोई भी नियन्त्रण उसके लिए सम्भव नहीं। यही कारण है कि निरुक्त अन्य वेदाङ्गों से विलक्षण है, किसी एक शाखा के शब्दों तक इसे सीमित करना अनुचित है। यास्क स्वयं भले ही कोई वेदी हों, यजुर्वेदी या ऋग्वेदी, परन्तु निरुक्त का सम्बन्ध है सभी वेदों से, उपनिषदों से और तात्कालिक साहित्य से। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अपने काल के अनुकूल निरुक्त वैदिक-भाषा-विज्ञान का महानिबन्ध (Thesis) है। इसलिए निरुक्त एक प्रकार से सभी वेदों का निरुक्त है। अन्य निरुक्तों की भी शैली ऐसी ही रही होगी, वे सभी वेदों से उद्धरण देते होंगे।

यह तर्क यहाँ अनुचित प्रतीत होता है कि उस काल में कोई भी साहित्य किसी कुल और शाखा से सम्बद्ध था, क्योंकि यास्क–जैसे और निघण्टुकार–जैसे वैज्ञानिकों का अभाव कभी नहीं रहता जो सभी शाखाओं और कुलों में जाकर किसी विषय-विशेष का अध्ययन करके संसार को नवीन प्रकाश देते हैं। यास्क स्वयं किस शाखाध्यायी कुल के थे—यह हमारा विषय ही नहीं। डा० स्कोल्ड का कथन है कि—'···क्या यह सामान्य वैदिक-अध्ययन की कृति समझी जाय, या किसी वेद-विशेष की या वेदों के समूह की? हम नहीं जानते कि किस शाखा से इसका सम्बन्ध है या पहले रहा होगा।···· प्रायः सभी वेद निरुक्त का स्रोत होने का गौरव रखते हैं।[2] यह अब निश्चित है कि इस तथ्य के मूल में कौन-सी बात है। डा० लक्ष्मणसरूप भी निरुक्त के उद्धरणों से यास्क की वहुज्ञता का परिचय देते हुए लिखते हैं—निरुक्त में उदाहरण देने के लिए दिये गये उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि यास्क ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद और उसके पदपाठ, तैत्तिरीयसंहिता, मैत्रायणी-संहिता, काठक-संहिता, ऐतरेय-ब्राह्मण, गोपथ-ब्राह्मण, कौषीतकि-ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण, प्रातिशाख्यों को और कुछ उपनिषदों

---

१. प्रथम-परिच्छेद का अन्तिम भाग।

2. Skold, The Nirukta, Chap. II, p. ll.—... "whether it should be regarded as a work based on Vedic studies in general, studies of a special Veda, or group of Vedas. We do not know to weich school it belongs or originally belonged.... Nearly all the Vedas share the honour of being the source of the Nirukta."

को जानते थे।[१] इतने ग्रन्थों का उद्धरण देनेवाले ग्रन्थ को यदि हम वेद की किसी एक शाखा में बाँध दें तो अन्याय होगा। यह और बात है कि यास्क स्वयं किसी एक शाखा के ब्राह्मण होंगे जिसकी छाप निरुक्त पर पड़ना आवश्यक है जैसे सायण ने कृष्ण-यजुर्वेद के भाष्य को प्राथमिकता देकर उसकी पुष्टि भी की है।[२]

अथर्ववेद के उद्धरण तो यास्क में हैं परन्तु जिस समय निरुक्त में वेदों का निर्वचन[3] होने लगा है अथर्व का नाम नहीं। बौद्ध-साहित्य में भी त्रिवेदी का ही उल्लेख है। हाँ, छान्दोग्योपनिषद् में अथर्व का नाम आया है किन्तु अलग संख्या देकर 'चतुर्थमाथर्वणं' कहा है। इससे यह पता लगता है कि अथर्व पहले एक स्वतन्त्र ग्रन्थमात्र था जो वैदिक-संहिताओं की ही शैली में संकलित किया गया था। अभिचार-प्रयोगों के कारण उसे वेद की संज्ञा नहीं मिली थी, यद्यपि उसे तुल्य समझा जाता था। फिर भी यास्क ने उसका उद्धरण अपनी बहुज्ञता का परिचय देने के लिए दिया है।

यास्क के वैदिक उद्धरणों का विशेष अध्ययन डा० स्कोल्ड ने किया है तथा अपने ग्रन्थ में उसकी सारणी भी दी है। उसी के आधार पर हम यहाँ एक आदर्श रखेंगे। यास्क के कुछ वैदिक उद्धरण केवल निरुक्त में ही उपलब्ध हैं। सम्भव है कि जहाँ से वे लिये गये हैं, वे ग्रन्थ काल-कोप से नष्ट हो गये हों। जो वैदिक उद्धरण अन्यत्र प्राप्त हैं वे दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—कुछ तो निरुक्त से मिलते-जुलते उद्धरण हैं परन्तु कुछ उससे थोड़ा अन्तर रखते हैं। आगे प्रथम अध्याय के मिलते-जुलते उद्धरणों की विस्तृत सारणी देकर बाद में एक संक्षिप्त-सारणी दी जाती है—

प्रथम अध्याय

[क] केवल निरुक्त में—१।१० निष्ट्वक्त्रासः, १।१८ स्थाणुरयं.... २

[ख] निरुक्त और ऋग्वेद में—१।४, १।६, १।७ नूनं, १।७ प्रसीम्, १।८, १।९, १।१७ अवसायाश्वान्, १।१९, १।२० उत त्वं ९

[ग] निरुक्त और ऋग्वेद खिल—१।११ ... . १

[घ] निरुक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद में—नि० + ऋ० + वाजस० १।१७ इन्द्रं न त्वा, नि० + ऋ० + तैत्ति० + काठ० १।१७ अवसाय पद्वते ... २

[ङ] निरुक्त, ऋग्वेद और सामवेद में—१।२० अश्वं न त्वा ... १

---

१. L. Sarup, Introduction to the Nirukta, p. 45—'The numerous exemplary quotations occuring in the Nirukta conclusively show that Yaska knew the Rigveda,.........the Pratishakhyas, and some of Upanishads.'

२. देखिये—सायण की ऋग्वेदभाष्यभूमिका का प्रारम्भिक अंश।

३. निरुक्त ७।१२।

[च] निरुक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद में—१।१० एमेनं, १।१७ परो निर्ऋत्या १।१७ अग्निरिव ३

[छ] निरुक्त, ऋग्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में—नि + ऋ + सा० + अ० + वैतानसूत्र (अथर्व) १।१० अयमु ते १

[ज] निरुक्त, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में—नि० + ऋ० + मैत्रा० + अ० १।१७ दूतो निर्ऋत्या १

[झ] निरुक्त, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में—नि० + ऋ० + सा० + वाज० + तैत्ति० + मैत्रा० + काठक १।१५ शतं सेना १

[ञ] निरुक्त और चारों वेदों में—नि० + ऋ० + सा० + वाज० + तै० + मै० + का० + शत० ब्रा० + तै० ब्रा० + नृ० पू० तापनीयोपनि० + आप० श्रौतसूत्र १।२० मृगो न १

इन मिलते-जुलते उद्धरणों के अलावे प्रथम-अध्याय में भिन्न-पाठोंवाले भी दो उद्धरण हैं। इस सारणी का उद्देश्य यही है कि हमें ज्ञात हो जाय कि किस प्रकार निरुक्त सभी वेदों का निरुक्त है। अत्र हम सम्पूर्ण निरुक्त के उद्धरणों का विहंगमावलोकन कर लें[1]—

अध्याय	मिलते-जुलते उद्धरण		भिन्न पाठ वाले	योग
प्रथम	२४	+	२	= २६
द्वितीय	१८	+	६	= २४
तृतीय	३३	+	९	= ४२
चतुर्थ	४६	+	१२	= ५८
पञ्चम	५६	+	६	= ६२
षष्ठ	५१	+	१८	= ६९
सप्तम	३६	+	७	= ४३
अष्टम	१०	+	९	= १९
नवम	२६	+	१३	= ३९
दशम	२७	+	१७	= ४४
एकादश	२९	+	१८	= ४७
द्वादश	१७	+	२४	= ४१
योग	३७३	+	१४१	= ५१४

डॉ० लक्ष्मण सरूप ने निरुक्त के विभिन्न-प्रकार के शब्दों की सूची प्रकाशित की है जिसके अनुशीलन से पता लगता है कि निरुक्त के उद्धरणों को यदि उससे निकाल दिया जाय तो यास्क का लिखा अंश बहुत ही थोड़ा रह जाता है। कुछ

१. पहले—जैसा ही विस्तार के लिए देखें—Dr. Skold, The Nirukta.

भी हो वैदिक-उद्धरणों का जितना प्रयोग निरुक्त में हुआ है उतना शायद ही किसी वेदाङ्ग में होगा।

अब हम देखें कि वैदिक-शब्दों और वाक्यों के अर्थ-प्रकाशन में निरुक्त का क्या स्थान है? यह मानी हुई बात है, किसी भी ग्रन्थ से बहुत दिनों तक के लिए सम्पर्क छूट जाने पर उसके अर्थ करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। इसलिए प्राचीन होने के कारण वेदों के अर्थ का निर्णय करना बहुत कठिन है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार आज अनेक अर्थ किये जा रहे हैं। अपनी समझ और पद्धति से जिसे जो मिला उसने वही अर्थ कर दिया। निरुक्त का काल वैदिक काल की प्रायः अन्तिम सीमा है। वैदिक-संहिताओं को बहुत समय हो गया था। स्वयं यास्क ने ही वैदिक अर्थ करनेवालों की विप्रतिपत्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार वेदार्थ के ये सम्प्रदाय हैं—आधिदैवत, आध्यात्मिक, आख्यानसमय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्व याज्ञिक, याज्ञिक। इससे स्पष्ट है कि आज की भाँति उस समय भी विभिन्न आधार हो गये थे। फिर भी उनमें एक परम्परा-प्राप्त अर्थ की रक्षा की गई है।

यास्क वैदिक अर्थ करनेवालों में अत्यधिक संयत हैं, यह उनकी व्याख्याओं से पता लगता है। निर्वचन का ठीक-ठीक पता लगाने में उन्होंने भले ही आलस्य किया हो, किन्तु वैदिक व्याख्या में तो उन्होंने समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग किया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अर्थ, परम्परा-प्राप्त अर्थ और निर्वचनात्मक अर्थ—सबों को समुचित स्थान दिया है। कहना नहीं होगा कि यास्क की व्याख्या ही सायण और आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के अर्थ का मूल है।

वेदार्थ करने में यास्क की कतिपय विशेषताएँ सदा स्मरणीय हैं—

(क) वैदिक वाङ्मय में एकमात्र निरुक्त ही सर्वप्रथम ग्रन्थ है जिसमें इतनी अधिक संख्या में वैदिक मन्त्रों का तथा मन्त्रांशों का उद्धरण देकर व्याख्या की गयी है। इस क्रम में अनेक दुरूह मन्त्रों की व्याख्या हुई है। यद्यपि अपने निर्वचनों की धुन में यास्क कहीं-कहीं भ्रामक अर्थ भी कर देते हैं किन्तु प्रथम उपलब्ध व्याख्याकार के रूप में उनका स्थान निर्विवाद है।

(ख) वेद-व्याख्या करनेवाले अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव यास्क के समय तक हो चुका था। यास्क ने अपना अर्थ देते हुए इन सम्प्रदायों तथा कहीं-कहीं उनके प्रवक्ता आचार्यों का भी उल्लेख करके अपना आर्जव प्रदर्शित किया है। 'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश' की व्याख्या में यास्क परिव्राजकों का मत सर्वप्रथम देते हैं। इसी प्रकार वृत्र की कल्पना की भी भौतिक व्याख्या करते हुए अन्य सम्प्रदायों के अनुसार भी अर्थ करते हैं।

(ग) वेद के कई मन्त्रों का ऐतिहासिक प्रसङ्ग है जिन्हें जाने बिना उनका अर्थ दुर्बोध होगा। यास्क इन प्रसङ्गों का उल्लेख करने के बाद ही ऐसे मन्त्रों की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। वे स्वयं अप्रासङ्गिक निर्वचन के विरोधी हैं (नैकपदानि

निर्ब्रूयात् २१३)। विश्वामित्र का नदियों से संवाद या देवापि और शन्तनु की कथा इसके साक्षी हैं। प्रथम अध्याय में 'न नूनमस्ति' का रोचक प्रसङ्ग वे वर्णन करते हैं कि अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का संकल्प करके समय पर दूसरे देवताओं (मरुतों) को दे दिया जिससे इन्द्र आकर शिकायत करने लगे। इस प्रकार प्रासंगिक अवतरण के साथ मन्त्र व्याख्यान करके यास्क ने सप्रसंग व्याख्या का जन्म दिया है।

(घ) यास्क की व्याख्या अन्वयमुखी न होकर मन्त्र की आनुपूर्वी का अनुसरण करती है। विरल स्थानों पर ही इसका अतिक्रमण हुआ है। यह बात अवश्य है कि जिन पदों की परस्पर सन्निधि नितान्त अपेक्षित है उन्हें वे एक साथ कर देते हैं, जैसे धातु तथा उपसर्ग। इस आनुपूर्वी-मुख व्याख्यान का कारण है वेदों के प्रति अप्रतिम आस्था कि शब्दों का क्रम बदला नहीं जा सकता। यास्क वेदार्थ-विषयक उन दो विरोधी धारणाओं के मध्य में आते हैं जिनमें एक के अनुसार वेद उच्चारण-मात्र के लिए है कि क्योंकि शब्दानुपूर्वी का भङ्ग सम्भव नहीं और दूसरे के अनुसार वेदों का अर्थ लौकिक वाक्यों के समान ही हो सकता है। यद्यपि यास्क ने भी 'अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्' कहकर वैदिक अर्थ करने की प्रक्रिया को लोकसामान्य ही समझा है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के समय वेदार्थ करने में आनुपूर्वी-भङ्ग का साहस लोग नहीं कर पाते होंगे। दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि वाक्य-विन्यास की प्रक्रिया का अधिक विकास नहीं हुआ होगा और न अन्वय की प्रणाली ही प्रयुक्त होती होगी। किन्तु इस विकल्प के विरोध में अनेक प्रमाण हैं।

(ङ) यास्क का वैदिक व्याख्यान सरलार्थ तथा निर्वचन के समन्वय का अपूर्व उदाहरण है। वेदार्थ करने के प्रसङ्ग में ही (सायण के समान बाद में नहीं) वे शब्दों का विश्लेषण भी करते जाते हैं। इस दृष्टि से इनकी तुलना मल्लिनाथ से की जा सकती है। मूलतः निर्वचन-परक व्याख्यान होने से शब्द-विश्लेषण प्रसक्तानुप्रसक्त तक पहुँच जाता है।

आज वेद-व्याख्या की चार प्रणालियाँ प्रचलित हैं—

(१) **सायणाचार्य की व्याख्या (१४वीं शती)**—इसमें निरुक्त का ही नहीं, समस्त वैदिक-वाङ्मय का उपयोग किया गया है और परम्परा से प्राप्त अर्थों का प्रकाशन किया गया है किन्तु इनकी व्याख्या में विदेशी लोग यह दोष निकालते हैं कि सभी स्थानों पर एक शब्द का एक ही अर्थ इन्होंने नहीं किया है। कई अर्थ देने के कारण इनकी व्याख्या कोई निश्चित अर्थ नहीं देती। इस विषय में यह कहना अनुचित न होगा कि सायण वैदिक-वाङ्मय के पूर्ण पण्डित थे, प्रकरण के अनुसार ही उन्होंने अर्थ का परिवर्तन किया है। विकल्पार्थ देने के दो कारण कुमारिल ने बतलाये हैं—

व्याख्यान्तरविकल्पस्य द्वयमिष्टं निवन्धनम् ।
स्वव्याख्यापरितोषो वा व्याप्तिर्वा विषयान्तरे ।।

वस्तुतः सायण ने वैदिक-साहित्य का जितना मन्थन किया उतना किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है। राजनीति और सेना में भी भाग लेते हुए सभी शास्त्रों को अपनी जिह्वा पर नचाते थे। आज के गवेषकों की भाँति वे सूचीपण्डित[1] नहीं थे। फिर भी सायण परम्परा के प्रवाह में पड़कर कहीं-कहीं असम्भव अर्थ दे देते हैं। इसलिए पूर्णतया इन्हीं पर आधारित होना कठिन है यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से ये एकमात्र व्याख्याकार हैं।

(२) **दयानन्द की व्याख्या**—परम्परा और भाषा-विज्ञान दोनों के ही घोर विरोधी स्वामी जी ने शब्दों के यौगिक-अर्थ पर बहुत जोर दिया है और वेदों में ईश्वर का सन्देश, प्रार्थना आदि मानते हैं। इनका पूर्वाग्रह है कि वेदों में इतिहास नहीं। अग्नि का अर्थ लेते हैं—जगत् का प्रकाशक परमात्मा। एक नई दिशा की ओर संकेत करने पर भी स्वामीजी का अर्थ आलोचनाओं का पात्र हुआ है।

(३) **अरविन्द की व्याख्या**—आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ये वेदों में अध्यात्म-वाद का सन्देश पाते हैं तथा वेदों को दार्शनिक-ग्रन्थ मानते हैं, न तो कर्मकाण्ड और न इतिहास। कपालि शास्त्री ने इनकी व्याख्या का अनुवाद संस्कृत में किया है जो बहुत मनोरञ्जक है। वास्तव में वेदों में सर्वत्र आध्यात्मिकता की छाप नहीं है इसलिए यह व्याख्या सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

(४) **आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर व्याख्या**—यह पद्धति अधि-कतम सन्तोषप्रद है। किसी भी शब्द के विभिन्न-स्थानों के अर्थों की तुलना की जाती है और यदि सम्भव हुआ तो भारत-यूरोपीय-भाषा के अन्य वर्गों में उस शब्द की सत्ता किसी भी रूप में खोजी जाती है। तदनन्तर सम्भाव्य अर्थ-परिवर्तन को पूर्ण परीक्षा करके किसी शब्द का तात्कालिक अर्थ निकाला जाता है। टीकाकार भी पर्याप्त सहायक होते हैं। जैसे—'दमः' शब्द ऋग्वेद में आता है, लातीन में ऐसा ही 'दोमस्' (domus) शब्द हैं, दोनों का अर्थ 'घर' है। सायण ने भी यही अर्थ दिया है। इस प्रणाली के प्रथम प्रवर्तक हैं रॉथ जिन्होंने संस्कृत-जर्मन महाकोष (Petersburg worterduch) का निर्माण अपने सहकर्मी भोटलिङ्क के साथ किया। आधुनिक अनुसन्धानों से वेदों के अर्थ पर काफी प्रकाश पड़ता है। ग्रासमैन और गेल्डनर ने जर्मन-भाषा में ऋग्वेद का अनुवाद किया है जिसमें इन सभी अनुसन्धानों का पूर्ण उपयोग किया है। इतना होते हुए भी यह रीति अभी

---

१. सूची-पण्डित—आधुनिक अनुसन्धानों में सूची (Index) की बहुत बड़ी आवश्यकता समझी जाती है जिससे शीघ्र ही इष्ट शब्द का स्थान निकाल लिया जाता है। पहले के विद्वान् ग्रन्थ ही कण्ठस्थ रखते थे जिससे सूचियाँ अनावश्यक थीं, परन्तु आज ग्रन्थाधिक्य के कारण ऐसा करना पड़ता है। व्यंग्य के रूप में महा० पं० रामावतार शर्मा गवेषकों को 'सूची-पण्डित' कहते थे।

अधूरे अनुसन्धानों के कारण अपूर्ण है। जब तक सभी वैदिक-ग्रन्थ न मिल जायें, भारतीय-परम्परा का सम्यक् ज्ञान न हो जाय, विभिन्न-ग्रन्थों में बिखरे वेदार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया जाय, केवल भाषा-शास्त्र के आधार पर वेदार्थ करना भूल है। यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं है, व्यक्ति समूह का है।

आधुनिक-अर्थ विशेषतया यौगिक-अर्थ का प्रतिपादक है जब कि परम्परा हमें रूढ़ अर्थ की ओर ले जाती है। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने 'रूढिर्योगात् बलीयसी' भले ही कह दिया हो परन्तु वैदिक-युग में शब्दों का जो अर्थ था उसकी प्राप्ति के लिए परम्परा कुछ दूर तक ही सफल हो सकती है, पूर्णतया नहीं। कारण यह है कि वैदिक युग से वेदार्थ करनेवालों के युग में बहुत अन्तर पड़ जाता है। यास्क ने भी व्याख्या तब आरम्भ की है जब लोग वेदार्थ भूलने लगे हैं। फिर यास्क ने समूची वैदिक-संहिता की व्याख्या नहीं की है किन्तु जहाँ तक की है, परीक्षा में उतना अंश प्रायः खरा उतरा है। इस दृष्टि से यास्क वेदार्थ के प्रथम प्रकाशक हैं। अर्थ में विभिन्न-मतों का होना स्वाभाविक है। हम साधारण-सी बात बोलते हैं उसी का कितने लोग तरह-तरह का अर्थ समझ लेते हैं। 'चत्वारि शृङ्गा०' की व्याख्यायें ही विभिन्न प्रकार की दी हुई हैं—याज्ञिक अर्थ (सायण), व्याकरण का अर्थ (पतञ्जलि), साहित्यिक अर्थ (राजशेखर) और सूर्य का अर्थ (तैत्तिरीय ब्राह्मण)। यह वैसा ही है जैसे ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता को एक ही अर्थ अभीष्ट था, अपने पूर्वाग्रह से खींचतान करके लोगों ने द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत आदि विभिन्न मत चलाये।

कुछ भी हो वेदार्थ में निरुक्त का अपना स्थान है, प्राचीनता और वैज्ञानिकता होने के कारण इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेद-व्याख्या की शैली भी हमें यास्क ने दी है। ऋचाओं में जिस क्रम से शब्द हैं उसी क्रम से ये उनका अर्थ देते जाते हैं, वाक्य-विन्यास (Syntax) की चिन्ता नहीं करते। इसके आधार पर भाषाशास्त्र की एक अछूती शाखा वाक्य-विन्यास (Syntax) पर अध्ययन किया जा सकता है। यह शैली पिछले युग में सर्वमान्य रही किन्तु उसमें मूल शब्द भी अन्वय के साथ लिखे जाने लगे। यास्क का एक उदाहरण लें—

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

व्याख्या—तत्सूर्यस्य देवत्वं, तत् महित्वं, मध्ये यत् कर्मणा (= कर्तोः) क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदासौ अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन्; हरितः = अश्वान् इति वा, अथ रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। अपि वा, उपमार्थे स्यात्—रात्रीव वासः तनुते इति (४।११)।

—:०:—

षष्ठ परिच्छेद

निरुक्त और व्याकरण

[निरुक्त और व्याकरण में सम्बन्ध—व्याकरण की प्राचीनता—व्याकरण का सम्प्रदाय—निरुक्त में व्याकरण के शब्द—पतञ्जलि और निरुक्त—उपसर्ग की वाचकता और द्योतकता का प्रश्न—प्रो० राजवाड़े के निरीक्षण—निष्कर्ष ।]

यास्क ने निरुक्त को कहा है कि यह विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक है।[१] वेदों के समुचित अध्ययन के लिए भी दोनों की समान आवश्यकता है क्योंकि दोनों वेदाङ्ग हैं। इस साहचर्य के कारण उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध का होना अनिवार्य है। वे एक दूसरे के पूरक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे साङ्ख्य और योग आगमन और निगमन तर्कशास्त्र।

व्याकरण शब्दों की शुद्धाशुद्धि का विचार करता है और शब्द-रचना के लिये प्रकृत्ति-प्रत्यय का विभाजन करता है जैसा कि तैत्तिरीय संहिता के इस वाक्य से मालूम होता है—'वाग्वै पराची अव्याकृता अवदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्–इमां मो वाचं व्याकुर्विति············तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते' (तै० सं० ६।४।७।३)। पुनः शब्दों के भेद, लिङ्ग, वचन, कारक आदि का विचार भी व्याकरण ही करता है। ये सभी शब्द के बहिरङ्ग हैं। पतञ्जलि ने व्याकरण (शब्दानुशासन), के प्रयोजनों में वेदों की रक्षा, ऊह (विचार), आगम (वेदाध्ययन), शब्दाधिकार में लघुता और असन्देह को मुख्य माना है। आपाततः निरुक्त के भी ऐसे ही काम हैं किन्तु वह एक डग और आगे बढ़कर अर्थानुशासन भी करता है। व्याकरण जब शब्दों की शुद्धता की जाँच शिष्ट-प्रयोग (निपातनों में) और प्रकृति-प्रत्यय के द्वारा कर लेता है तब निरुक्त ही उसके अर्थ की ओर संकेत करता है। भाषा में शब्द यदि बहिरङ्ग है तो अर्थ अन्तरङ्ग। निरुक्त सभी शब्दों में धातु की कल्पना करके मूल से लेकर वर्तमान अर्थ तक को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। चूँकि शब्द और अर्थ में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है इसलिए व्याकरण और निरुक्त भी परस्पर आश्रित हैं।

व्याकरण अपनी प्रकृति की शुद्धता और अर्थ की जाँच के लिए निरुक्त पर निर्भर करता है। सच यह कि अर्थ का ज्ञान निरुक्त के बिना नहीं हो सकता। धातुपाठ के सभी अर्थ निरुक्त की ही कृपा से हैं। दूसरी ओर निरुक्त उन धातुओं के लिए व्याकरण की ही सहायता लेता है परन्तु प्रत्ययों की आवश्यकता इसे नहीं। वैसे कहीं-कहीं स्पष्टीकरण के लिए दे दें, यह दूसरी बात है। इतना होने पर भी निरुक्तकार यास्क व्याकरण को सर्वस्व नहीं मान लेते जैसा कि वे कहते हैं—'न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' (२।१)। व्या-

१. तदिदं विद्यास्थानं, व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम् (नि० १।१५)।

करण के रूप बड़े संशयात्मक होते हैं इसलिए कई स्थानों पर उन्होंने व्याकरण के धातुओं का उल्लंघन किया है। यह हम ऊपर दिखा चुके हैं।

यास्क के समय वैयाकरणों का एक पुष्ट सम्प्रदाय था—यह उनके उद्धरणों से स्पष्ट होता है। निरुक्तकार स्वयं भी कई वैयाकरणों के नाम देते हैं, जैसे—शाकटायन, गार्ग्य, गालव, शाकल्य। इनके नाम पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में दिये हैं। यदि वे दूसरे व्यक्ति नहीं हैं तो सचमुच ये आचार्य अत्यन्त प्राचीन हैं।[1] इन सभी वैयाकरणों तथा अन्य आचार्यों का पूरा उपयोग निरुक्त में किया गया है। इनके पारिभाषिक—शब्द निरुक्त में प्रचुरता से मिलते हैं। कुछ शब्द तो प्रातिशाख्यों (शिक्षाग्रन्थों) से भी लिये गये हैं, जैसे—संहिता, स्वर आदि। पाणिनि ने यास्क के कुछ शब्दों को परिवर्तन के साथ दिया है—

	यास्क	पाणिनि
प्रेरणार्थक	कारित	णिजन्त
क्रियासमभिहार	चर्करीत	यङ्लुगन्त
इच्छार्थक	चिकीर्षित	सन्नन्त

इन शब्दावलियों से स्पष्ट होता है कि यास्क ने नाम के लिए √कृ के रूप को ही उपलक्षण मानकर उसका भूतकाल कर दिया है (क्तान्त), इसी शैली में व्याकरण ने 'कृत्' और 'कृत्य'—जैसे शब्दों को स्वीकार किया है जो उपलक्षण का ही उदाहरण है। किन्तु पाणिनि-व्याकरण में प्रत्यय की कल्पना करके उसके आधार पर नाम रखने की प्रणाली है। जैसे तिङन्त, सन्नन्त। यह विकासावस्था का द्योतक है।

व्याकरण के पद-भेद यास्क ने भी लिये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। पीछे चलकर पाणिनि केवल दो ही भेद रखते हैं—सुबन्त और तिङन्त। निरुक्त में व्याकरण के पारिभाषिक शब्द बहुत-से पड़े हुए हैं, जिन पर स्वतन्त्र-रूप से अलग-अलग विचार करना एक ग्रन्थ का विषय है।[2] व्याकरण के कुछ

१. देखिये—युधिष्ठिर मीमांसक, व्याकरण शास्त्र का इतिहास।

२. मेरे पूज्य गुरु प्रसिद्ध वेदज्ञ डा० तारापद चौधुरी, एम० ए०, पी०-एच० डी० (लन्दन) निरुक्त में व्याकरण के शब्दों पर गवेषणा (Research) कर रहे थे, किन्तु उनके असामयिक निधन (दीपावली, अक्टूबर ३१, १९५९) से यह कार्य अधूरा रह गया। उन्होंने मुझे अपनी शब्दावली की तालिका दी थी। आशा है इससे निरुक्त के शब्दों पर काफी प्रकाश पड़ेगा और इस विषय पर गवेषणा की प्रवृत्ति बढ़ेगी—

पदजात, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, भाव, सत्त्व, वचन, कर्मोपसंग्रह, उपबन्ध, पञ्चमी, द्वितीया, चतुर्थी, प्रथमा, (एक स्थान पर क्रम से भी विभक्तियाँ दी हुई हैं), सर्वनाम, अनुदात्त, अर्धनाम, द्रष्टव्यय, अनुदात्त, प्रकृति, पदप्रकृति, बहुवचन, स्वर, संस्कार, कारित, कृत, नामकरण, अवग्रह, संहिता, धातुवृत्ति, उपसृष्ट प्रादेशिकविकार, अक्षर, वर्ण, विभक्ति, निवृत्तिस्थान, उपधा, व्यापत्ति, वर्णोपजन,

शब्दों का तो उन्होंने निर्वचन तक दिया है, जिससे डा० बेलवलकर—जैसे कुछ विद्वान् निष्कर्ष निकालते हैं कि इन शब्दों को वे पारिभाषिक नहीं मानते होंगे, जैसे 'सर्वनाम' का निर्वचन है 'सर्वाणि नामानि यस्य, सर्वेषु भूतेषु नमति = गच्छति वा', किन्तु निर्वचन की धुन तो यास्क में है ही। 'निपात' को भी तो वे 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' कहते हैं। फिर चार पद-भेद कहने का क्या अभिप्राय है? यदि सर्वनाम को पारिभाषिक शब्द नहीं मानते तो 'त्व इति सर्वनाम अनुदात्तम्' क्यों कहते! यह स्थान स्पष्ट करता है कि सर्वनाम कुछ खास शब्दों का संग्रह है जैसा पाणिनि भी मानते हैं।

जिस प्रकार यास्क ने व्याकरण की शब्दावलीका प्रयोग किया है, उसी प्रकार पतञ्जलि ने भी महाभाष्य में निरुक्त की सामग्री का खुलकर उपयोग किया है और कई स्थानों पर उनके वाक्य ज्यों-के-त्यों उद्धृत किये हैं। कुछ उदाहरण लें—

(१) निरुक्त १।२—महाभाष्य—षड् भावविकारा भवन्ति इत्याह भगवान् वार्ष्यायणिः।
(२) ,, १।९— ,, —उतत्वः पश्यन्न०।
(३) ,, १।१२— ,, —नाम खल्वपि धातुजम्—एवमामाहुर्नैरुक्ताः०।
(४) ,, २।२ — ,, —शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति।
(५) ,, ४।१०— ,, —सक्तुमिव तितउना पुनन्तो०।
(६) ,, १३।७ — ,, —चत्वारि शृङ्गा त्रयो०।
(७) ,, १३।९ — ,, —चत्वारि वाक्परिमिता पदानि।

अतएव निरुक्त और व्याकरण में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। निरुक्त का सर्वप्रथम उल्लेख अपने वर्तमान अर्थ में छान्दोग्योपनिषद् (सप्तम अध्याय) में मिलता है तथा छह वेदाङ्गों के नाम हमें मुण्डकोपनिषद् (१।५) में मिलते हैं। फिर भी कालक्रम की दृष्टि से व्याकरण निरुक्त की अपेक्षा प्राचीनतर है, क्योंकि निरुक्त की व्युत्पत्तियों का स्रोत व्याकरण ही है, जिसकी पूर्व-स्थिति आवश्यक है। स्फोटवाद और क्रिया के छह विकारों का विवेचन हम कर ही

स्वर, अन्तस्थ, द्विप्रकृति, प्रकृति, विकृति, तद्धित, समास, एकपर्व, अनेकपर्व, ताद्धित, पूर्वा प्रकृति, चर्करीत, पृक्ता संख्या (?), अभ्यस्त, निरूढोपध, अन्वादेश, प्रथमादेश, अनवगत संस्कार, निगम, वाक्य, चिकीर्षित, निर्ह्रसितोपसर्ग, लुप्तविकरण, प्रथम—मध्यम—उत्तम—पुरुष, अन्तस्थान्तरूपलिङ्गी, विभाषित, गुण, आदिलुप्त, अभ्यास, आम्, तस्मै हितम्, तेन संस्कृतम्, तस्यापत्यम्।

इस बृहद् तालिका से स्पष्ट होता है कि निरुक्त व्याकरण का कितना ऋणी है। इन शब्दों के इतिहास पर या निरुक्त में आने के स्रोत पर या इनकी उपजीव्यता पर अच्छा अनुसन्धान हो सकता है।

चुके हैं[1]—इन्हें भी यास्क ने—वैयाकरणों से ही लिया था।

उपसर्गों के विषय में भी दो पक्षों—शाकटायन और गार्ग्य—का समन्वय यास्क ने अच्छी तरह किया है। शाकटायन का मत है कि उपसर्ग का अकेले कोई अर्थ नहीं (अर्थात् ये वाचक नहीं हैं), वे केवल चिह्नमात्र हैं तथा क्रिया और संज्ञा में जुटकर उन्हीं के छिपे हुए अर्थ का प्रकाशन कर देते हैं। दूसरी ओर गार्ग्य का मत है कि उपसर्ग वाचक हैं, अपना अर्थ रखते हैं तथा संज्ञा या क्रिया से मिलकर उनके अर्थ में विकार ला देते हैं। यास्क शाकटायन के मत का उल्लेख करके गार्ग्य के पक्ष में भी उपसर्गों का अर्थ देते हैं, किस प्रकार का परिवर्तन कौन उपसर्ग करता है।[2]

प्रो० राजवाड़े ने यास्क की व्याकरण-सम्बन्धी दो सावधानियों का निरीक्षण किया है। यास्क ने कर्मोपसंग्रह (Conjunction) 'च' के विषय में लिखा है 'उभाभ्यां सम्प्रयुज्यते' अर्थात् यह दोनों जुड़े हुए शब्दों के बाद आता है। वे इस नियम का पूर्ण-रूप से पालन करते हैं, जैसे—चर्म च श्लेष्मा च (२।५), स्नाव च श्लेष्मा च (२।५), विचिकित्सार्थीयः च पदपूरणः च (१।५)। दूसरे, पाणिनि के अन्वादेश[3] का पालन करने में भी यास्क सावधान मालूम पड़ते हैं—'प्रथनात् पृथिवीत्याहुः, क एनामप्रथयिष्यत् ? (१।१३), आस्यम् अस्यतेः, आस्यन्दते एनत् अन्नम् (१।९) इत्यादि।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निरुक्त व्याकरण का पूरक तो है ही, साथ-ही-साथ व्याकरण के नियम भी इसमें समुचित स्थान पाते हैं। वस्तुतः दोनों सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। व्याकरण-सम्बन्धी यास्क के निम्नोक्त विचार विशेष रूप से ध्यातव्य हैं—

(क) शब्दार्थ-सम्बन्ध की प्रक्रिया पर यास्क ने सर्वप्रथम विचार किया है कि शब्द अत्यन्त व्यापक होते हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को भी प्रकट कर सकते हैं, इसीलिए अर्थों के बोध के लिए वे नित्य रूप से सम्बद्ध हैं। व्याकरण के 'स्फोट' दर्शन की यह भूमिका है।

(ख) यास्क ने पदों को चार भागों में विभक्त किया है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। अन्तिम दोनों में प्रतिपद-पाठ करके पाणिनि के समान ही इनके लक्षणों की असम्भाव्यता प्रकट की गयी है।

---

१. भूमिका का परिच्छेद ३ (क)।

२. विशेष विवरण के लिए देखें—डा० कपिलदेव द्विवेदी आचार्य, अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन।

३. अन्वादेश—'एतत्' शब्द की कुछ विभक्तियों में तकार के स्थान पर नकार हो जाता है। यह तब होता है, जब उस अर्थ का उल्लेख पहले भी हो चुका हो, जैसे—अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय। देखिये सिद्धान्तकौमुदी—एकं कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेशः।

४. Rajvade Yaska's Nirukta, LII.

(ग) नाम तथा आख्यात के विषय में यास्क के द्वारा प्रकट किये गये विचार व्याकरण-दर्शन-सम्वन्धी सभी परवर्ती ग्रन्थों में संकेतित हैं। विशेषतः क्रिया पर कोई भी प्रकरण यास्क के विचारों से ही उपक्रान्त होता है।

(घ) सभी नामों को जो यास्क ने आख्यातज माना है उसे यद्यपि पाणिनि के द्वारा मान्यता नहीं मिली किन्तु पाणिनीय सम्प्रदाय में वह सर्वग्राह्य मत हो गया। उणादि-सूत्रों की सम्पूर्ण प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में यह आख्यातज सिद्धान्त है।

(ङ) व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त विविध शास्त्रीय शब्दों का यास्क ने अव्याहृत प्रयोग किया है। अधिकांश शब्द पाणिनि-व्याकरण में प्रयुक्त नहीं हैं किन्तु व्याकरण शास्त्रीय शब्दों के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए ये पुष्कल सामग्री देते हैं।

इन सब तथ्यों पर ध्यान रखकर यास्क का एक वैयाकरण-रूप भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

सप्तम परिच्छेद

निरुक्त और भाषाविज्ञान

[भाषा-विज्ञान की नींव—इसकी शाखायें—यास्क का युग—भाषायें और उपभाषायें—भाषा की उत्पत्ति—मनुष्य ही भाषा का उत्पादक—धातु-सिद्धान्त—यास्क का सिद्धान्त और मनोविज्ञान—ध्वनि-विज्ञान—स्वरों के क्रम (Grades)—सम्प्रसारण—ध्वनि-परिवर्तन—इसकी विभिन्न दिशायें—रूप-विज्ञान—सम्बन्ध-तत्व और अर्थ-तत्त्व—पदों के भेद—संज्ञा और क्रिया में सम्बन्ध-तत्व—शब्द की रचना—कृदन्त—तद्धित—समास—अर्थ-विज्ञान—निरुक्त का आधार—अर्थ-परिवर्तन—वस्तुओं का नाम पड़ने का कारण—अर्थ-परिवर्तन के कारण—सादृश्य—तद्धित-प्रयोग—अर्थादेश—वाक्य-विज्ञान—यास्क के वाक्यों की विशेषतायें—निर्वचन— भाषा का विकास ।]

हमारी समस्त क्रियाओं की भित्ति भाषा पर ही आधारित है जिसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन करना भाषाविज्ञान का काम है। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों के मस्तिष्क से ही इसे आधुनिक रूप मिला किन्तु यह कोई नवीन विज्ञान नहीं। हजारों वर्ष पूर्व ही इसकी नींव भारत और यूनान में पड़ चुकी थी। इसे आधुनिक रूप में लाने का श्रेय भी संस्कृत-भाषा को ही है। सामान्य भाषाविज्ञान का कोई भी ग्रन्थ, चाहे वह सिद्धान्तों की विवेचना करे या इस विज्ञान के इतिहास का वर्णन करे, यास्क और पाणिनि के नामोल्लेख के बिना अपूर्ण ही रहेगा। इन दोनों के अध्ययनों से ही यूरोपीय विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना करने की शैली पाई और अधिकांश वस्तुएँ भी उन्हें इनमें मिल गईं।

भाषा-विज्ञान अपनी विश्लेषणात्मक शक्ति के कारण विभिन्न शाखाओं में बँटा है जिनमें स्वतन्त्र रूप से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है। इसकी मुख्य शाखायें ये हैं—(१) ध्वनि-विज्ञान (Phonology) जिसमें ध्वनि की उत्पत्ति, श्रोता-वक्ता-सम्बन्ध, ध्वनि-विकास, ध्वनि-परिवर्तन आदि विषय आते हैं, (२) रूप-विज्ञान (Morphology) जिसमें शब्दों के भेद, उनके विकार, रूप-परिवर्तन, समास की रचना आदि विषयों का विचार होता है, (३) अर्थविज्ञान (Semantics) जिसमें शब्दों के अर्थ, अर्थ-परिवर्तन और इसकी दिशायें, उनके कारण आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है, (४) वाक्य-विज्ञान (Syntax) जिसमें 'किसी वाक्य में शब्दों का स्थान-निर्धारण करके विभिन्न-स्थान होने से अर्थभेद आदि का विचार होता है। शब्दों का सम्बन्ध-तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे से जुड़ता है इसका अध्ययन करना वाक्य-विज्ञान का ही काम है। इन मुख्य शाखाओं से भी कई शाखायें निकली हैं, जैसे—(५) निर्वचन-शास्त्र

(Etymology) जिसमें शब्दों की उत्पत्ति और इतिहास का पता लगाते हैं। हम आगे यास्क के निरुक्त को भाषाविज्ञान की इन शाखाओं की कसौटी पर कस कर देखेंगे कि आधुनिक अनुसन्धानों और यास्क के तात्कालिक ज्ञान में क्या अन्तर है तथा यास्क ने भाषाविज्ञान के विकास में क्या सहयोग दिया है।

यास्क के युग पर दृष्टिपात करने पर हमें पता लगता है कि उनके समक्ष केवल दो ही भाषायें थीं और वे भी एक ही परिवार की। वे हैं—वैदिक-भाषा और लौकिक-भाषा। पहली भाषा का केवल साहित्य वर्तमान था और दूसरी बोलचाल की भाषा थी। पहली को वे बहुधा 'निगम', 'छन्द,' 'ऋक्' आदि नाम से पुकारते हैं तथा दूसरी को 'भाषा' ही कहते हैं। दोनों के पर्याप्त अध्ययन से यास्क में ऐसी शक्ति आ गई है कि वे शब्दों के विषय में अनुसन्धान कर सकें। भाषा-विज्ञान ने वैदिक-भाषा की भी उत्पत्ति मूल भा० यू० भाषा से मानी है किन्तु भौगोलिक और अन्यान्य कारणों से वहाँ तक पहुँचना यास्क के लिए उस युग में असम्भव था इसलिए वे वैदिक भाषा तक ही बढ़ सके जिसे वे लौकिक भाषा का उद्गम-स्थान मानते हैं।[१] और तो और, अपने प्रदेश में ही सर्वत्र घूम-घूमकर उपभाषाओं की विभिन्नता का अध्ययन करना कठिन था। ऐसी स्थिति में यास्क ने अपने समक्ष विद्यमान भाषाओं को लेकर ही भाषा-विज्ञान का अनुसन्धान आरम्भ किया है।

यह भी सत्य है कि उस समय उपभाषायें पर्याप्त थी क्योंकि वाह्य-ग्रन्थों में प्राच्य, उदीच्य आदि बोलियों के उल्लेख मिलते हैं।[२] यास्क ने भी उपभाषाओं का उल्लेख किया है। अनुमान किया जाता है कि यह सूचना या तो यास्क को यात्रियों से मिली होगी या परम्परा से प्राप्त हुई होगी, ऐसी अवस्था में ये उस समय नहीं बोली जाती होंगी। आर्य, कम्बोज, उदीच्य और प्राच्य देश की उपभाषाओं में और कुछ अन्तर नहीं, केवल दो धातुओं और संज्ञाओं का ही—यह आश्चर्य प्रतीत होता है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यास्क अपनी अल्प-सूचना पर भी कितना ध्यान रखते हैं और उसे उचित स्थान देकर भाषाशास्त्री का कर्तव्य पूरा करते हैं। पाणिनि[३] और पतञ्जलि को उपभाषाओं के विषय में काफी सूचना मिली मालूम पड़ती है क्योंकि वे भारत के तात्कालिक भूगोल का अधिक ध्यान रखते हैं। युग की सीमायें देखकर ही हमें यास्क के सम्वन्ध में कुछ कहने का अधिकार है।

---

१. देखिये—अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।

२. Vide, Dr. Suniti Kumar Chatterjee, Indo-Aryon and Hindi, Old Indo-Aryan.

३. पाणिनि पर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अत्युत्तम ग्रन्थ प्रस्तुत किया है—'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' जिसमें पाणिनि का सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। इसी की रूपरेखा का ग्रन्थ पतञ्जलि पर डा० बैजनाथ पुरी ने लिखा है।

अपना मूल अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व भाषाविज्ञान के एक बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न—भाषा की उत्पत्ति—पर विचार कर लेना सामयिक प्रतीत होता है। वस्तुतः यह प्रश्न आरम्भ से ही विद्वानों को परेशान करता आ रहा है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ? विभिन्न लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इसके अलग-अलग समाधान दिये हैं। कुछ लोग भाषा को ईश्वरकृत मानते हैं, कुछ लोग वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के समय की ध्वनि से, कुछ वस्तुओं के ही द्वारा की गई ध्वनि और कुछ लोग विकासवाद से भाषा की उत्पत्ति मानते हैं।[1] प्राचीन भारत और यूनान में ईश्वर को ही भाषा का स्रोत माना जाता था कि ईश्वर ने ही भाषा बनाकर हमें दी है। संस्कृत का पर्याय शब्द 'देवभाषा' इसी धारणा का द्योतक है। यास्क ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है किन्तु स्पष्टतया अपने मत का उल्लेख नहीं किया क्योंकि अपने मत की पूर्व-कल्पना लेकर ही उन्होंने निरुक्त का आरम्भ किया है। इसका तात्पर्य है कि वे पाठकों से आशा रखते हैं कि यास्क का अपना सिद्धान्त क्या है, इससे अभिज्ञ हैं। जहाँ-तहाँ बिखरे हुए उनके वाक्यों को देखकर ही उनके सिद्धान्त का हम अनुमान कर सकते हैं। निरुक्त (१।२) में वे कहते हैं—'अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद्देवताभिधानम्।' इसका अभिप्राय यह है कि वस्तुओं का नाम संसार में व्यवहार के लिए रखा गया है क्योंकि वस्तुओं को पहचानने या बतलाने की अन्य प्रणालियाँ (जैसे संकेत करना, वस्तु को ही सामने रख देना आदि) बहुत ही कष्टसाध्य हैं, शब्द ही सरलता से वस्तुओं का द्योतन कर सकते हैं इसलिए शब्द के द्वारा ही उनका नाम सुविधा के लिये रखा जाता है।[2] वस्तुओं के जो नाम मनुष्यों में रखे जाते हैं, देवता भी उन शब्दों से ही तत्सम्बद्ध वस्तुओं को समझ लेते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वे दैवी-भाषा (ईश्वर द्वारा बनाई गई भाषा) में विश्वास नहीं करते। भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि 'देवभाषा' शब्द की व्याख्या उन्होंने अच्छी तरह कर दी है। यदि भाषा का उत्पादक मनुष्य ही है, उसे बोलने वाला भी मनुष्य ही है तो संस्कृत को 'देवभाषा' क्यों कहते हैं ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि इसी भाषा में देवता भी अर्थ समझते हैं, मनुष्यों की प्रार्थना पर ध्यान देते हैं इसलिए इसे देवभाषा कहने में अत्युक्ति नहीं।

---

१. Cf. Divine Theory, Bow-bow Theory, Pooh-pooh Theory, Ding-dong Theory, Ye-ho-he Theory, Evolution Theory, etc. Vide—Taraporewala, Elements of the Science of Language. यास्क भी यदा-कदा शब्दानुकृति को (जैसे—नि० ५।२२) कई शब्दों की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।

२. तुलना करें—दण्डी का काव्यादर्श (१।२)—

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

किन्तु यास्क के वाक्यों से यह पता चलता है कि वे किसी भाषाविशेष को ही देवताओं की बोधगम्य भाषा नहीं कहते। सामान्यरूप से 'शब्द' मात्र को उन्होंने ऐसा कहा है। फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि यास्क के सामने एक ही भाषा—संस्कृत-भाषा या लौकिक भाषा—होने के कारण उनका लक्ष्य एकमात्र इसी पर है। दूसरे, बाद में 'कर्मसम्पत्तिः मन्त्रः वेदे' कहकर भी इसी का निर्देश वे करते हैं क्योंकि वेद में भी इसी भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः यह स्थान यास्क के समन्वय का परिचायक है जहाँ उन्होंने मनुष्य कृत भाषा मानकर भी 'देवभाषा' की संगति बैठाई है।

इतना की नहीं, शब्द के धातुज-सिद्धान्त का विचार करते समय भी कुछ पंक्तियाँ वे रख जाते हैं जिनसे शब्दोत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। निरुक्त (१।१४) में कहा है—'भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः' अर्थात् किसी शब्द के बोलचाल में प्रचलित हो जाने पर ही उसकी व्युत्पत्ति देखी जाती है कि इस वस्तु का यह नाम क्यों पड़ा ? 'पृथिवी' की उत्पत्ति में चाहे √प्रथ् (फैलना) का स्थान न हो किन्तु उसी से सम्बन्ध 'पृथु' (फैला हुआ) शब्द तो है जिससे इसकी उत्पत्ति हो सकती है ? क्रियायें ही शब्दों को उत्पन्न करती हैं अर्थात् कोई शब्द किसी क्रिया से पहले सम्बन्ध होता है, भले हो लक्षणा, रूपक आदि कारणों से उनके अर्थ की विकृति हो जाय। निष्कर्ष यही निकलता है कि वे मनुष्य के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं से ही शब्दों का सम्बन्ध मानते हैं। धातुओं पर विचार करते हुए मैक्समूलर ने कहा है[१] कि इन धातुओं की तीन विशेषतायें हैं—(१) इनमें निश्चित ध्वनि होती है जो भाषा के ध्वनि-नियमों के अनुसार बदलती है, (२) प्रायः इन सबों में ही मनुष्य के द्वारा की जाने वाली किसी क्रिया का अर्थ छिपा हुआ रहता है, (३) ये विचारों को व्यक्त करते हैं, वस्तुओं के मानसिक संस्कार को नहीं।

यास्क का इस सम्बन्ध में अपना मत आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त में ध्वनि से अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। यास्क की व्याख्या मनोविज्ञान की ओर संकेत करती है जैसा कि स्टाउट का कहना है—प्रत्यक्षीकरण बहुधा शारीरिक गतियों से जुड़ा रहता है। इस प्रत्यक्षीकरण के बाद इच्छाओं की पूर्ति के लिये शरीर में चेष्टायें होती हैं और वे ही चेष्टायें उन वस्तुओं से जुड़ जाती हैं अर्थात् उन वस्तुओं को देखकर शरीर में पुनः वैसी ही गति उत्पन्न होती है। इसी क्रम से मनुष्य की ध्वनि भी उत्पन्न होकर (चूँकि यह भी एक शारीरिक चेष्टा ही है) वस्तुओं से सम्बद्ध हो जाती हैं।[२] इस प्रकार भाषा उत्पन्न होती है। यास्क भी मनुष्य की क्रियाओं से ही शब्दों की उत्पत्ति मानते हैं परन्तु उचित साधनों के अभाव में

१. Three Lectures on Scicnce of Language, p.28.

२. Stout, Manual of Psychology, Book II, Chap. 5,

उससे आगे न बढ़ सके। तथापि उनकी देन भाषाविज्ञान के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अब हम क्रमशः भाषाविज्ञान की शाखाओं पर निरुक्त-रूपी फल की सङ्गति बैठायें। यद्यपि निर्वचन के सिलसिले में बहुत कुछ कहा जा चुका है किन्तु उन पर पृथक्-रूप से विचार करना अयुक्त न होगा।

(१) ध्वनिविज्ञान—शिक्षाग्रन्थों में अक्षरों के क्रम, उच्चारण आदि का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है,[१] यास्क ने अनावश्यक समझ कर इन बातों का उल्लेख भी नहीं किया है किन्तु ध्वनि के कुछ सिद्धान्तों को इन्होंने प्रातिशाख्यों से भी आगे बढ़कर दिया है। ध्वनिविज्ञान की शाखाओं में यास्क के निरीक्षण अत्यन्त तथ्यपूर्ण है और आधुनिक अनुसन्धानों के अनुकूल है।

(क) स्वरविकार (अपश्रुति Ablaut) के जितने भी रूप संस्कृतभाषा में उपलब्ध हैं सबों का परिचय यास्क को है। हम यह जानते हैं कि संस्कृत-भाषा में केवल परिमाणात्मक(Quantitative) स्वरविकार होता है। एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले स्वरों में पारस्परिक परिवर्तन होता है जो उच्चारण-काल के आधार पर निश्चित होता है। ये विकार हैं—गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण। यहाँ हम गुण और वृद्धि का निदर्शन करते हैं—

प्रथम	क्रम (grade)	इ	उ	ऋ
द्वितीय	क्रम (grade)	ए	ओ	अर्
तृतीय	क्रम (grade)	ऐ	औ	आर्

इसमें प्रथम-क्रम को मूल-स्वर मूल भा० यू० भाषा का ह्रसित-क्रम ('Reduced' grade or 'Vollstufe') कहते हैं। द्वितीय-क्रम पाणिनि का गुण' है 'जिसे मूल भा० यू० का० सामान्य-क्रम (Normal grade) कहते हैं। तृतीय-क्रम पाणिनि की 'वृद्धि' है (Lengthened grade)। यास्क स्वर के इन सभी विकारों से परिचित हैं। भले ही उनका नाम न दें। वि = पक्षी जिसका निर्वचन है 'वेतेः गतिकर्मणः' अर्थात् वि<वेति। यही नहीं, एक जगह वे गुण का नाम भी लेते हैं—'शेवः' इति सुखनाम। शिष्यतेः। वकारः नामकरणः। अन्तस्थान्तरोपलिङ्गी गुणः (१०।१७)। इसमें √शिष् से 'शेव' हो जाना गुण के कारण कहते हैं। इसी प्रकार वृद्धि का क्रम रखते हैं—वैश्वानरः कस्मात् ? विश्वान् नरान् नयति (७।२१) जिसमें विश्व से 'वैश्व'—बनाया गया है। इसके बाद (७।२३ में) तो वृद्धि से बने शब्दों की भरमार ही कर दी है और यह भी स्पष्ट है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध को वे जानते भी थे। देखें—वैद्युतः (<विद्युत-) औत्तमिकानि (<उत्तम-), भागानि (<भग-),[२]

---

१. Vide, Allen, Phonetics in Ancient India.

२. वृद्धिरादैच् (पा० सू० १।१।१)—आकार भी वृद्धि ही है यद्यपि भाषा-विज्ञान इसे दूसरे ढङ्ग से देखता है।

सावित्राणि (<सवितृ-), पौष्णानि (<पूषन्-), वैष्णवानि (<विष्णु-), आग्नेयेषु (<अग्नि-) आदित्यः (< अदिति-) इत्यादि। उपकार के क्रमों का तो यास्क ने एक स्थान पर ही प्रयोग किया है (१०।५)—अभिस्तौमि,······· स्तुत्या···.··स्तोमैः—इसमें क्रमशः वृद्धि, मूल और गुण-विकार के स्वर हैं। फिर— 'रुद्रः, रौति इति सतः, रोरूयमाणः[1] द्रवति इति वा—यहाँ भी मूल वृद्धि और गुण-विकार के स्वर हैं। ऋकार के क्रमों का भी कई जगह निदर्शन है, जैसे—प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः (७।२१) अर्थात् √ऋ से 'अर' (विश्वन्+अर) बना है। पुनः 'वृषभस्य=वर्षितुः' (७।२३), वर्णो वृणोतेः (२।३)—ये गुण-विकार हैं। 'आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः' (२।११)—ऋ का आर् (वृद्धि का विकार है)।

(ख) सम्प्रसारण की विधि से भी यास्क पूर्ण परिचित हैं। य, व, र जैसे अर्धस्वरों के स्थान में इ, उ, ऋ, होना ही सम्प्रसारण है।[2] आधुनिक भाषाविज्ञान ने इसकी पृथक् सत्ता मानी है। यास्क ने इसका लक्षण कुछ विचित्र शब्दों में किया है—तद् यत्र स्वराद् अनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति (२।२) जैसे—√अव् >ऊतिः, √मृद् <मृदुः, √प्रथ् > पृथुः, √यज् >इष्टः इत्यादि। यास्क सम्प्रसारण को द्विप्रकृति कहते हैं, इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य का कहना है कि सम्प्रसारण वाले धातुओं के दो रूप होते हैं—एक अपना (बिना सम्प्रसारण के) और दूसरा सम्प्रसारण का, जैसे—√युज् का अपना रूप है यष्टा, यष्टुं यष्टव्यम् और सम्प्रसारण-रूप है इष्टः, इष्टिः, इष्टिवान् इत्यादि।

(ग) ध्वनि-परिवर्तन की विभिन्न रीतियों से यास्क का परिचित होना आश्चर्यजनक है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ में ही उन्होंने इन परिवर्तनों की दिशाओं का निर्देश किया है जिन्हें हम देख चुके हैं। आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ये ध्वनि-परिवर्तन दो तरह के हैं—स्वयम् उत्पन्न (unconditional) और परोत्पन्न (conditional)।[3] स्वयं ही उत्पन्न होने वाले ध्वनि-परिवर्तन के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। भाषा के प्रवाह में ये परिवर्तन हो जाते हैं, इनका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यद्यपि ये भी अकारण नहीं होते किन्तु परिवर्तन का कारण न जान सकने से ही इन्हें ऐसा कहना पड़ता है। संस्कृत 'अश्रु' हिन्दी में 'आँसू' क्यों हो गया, कहना कठिन है। इसी तरह—मूल्य >मोल, हृदय >हिया, पुष्कर >पोखरा, पिण्ड >पेंड़ा। मूल भा० यू० भाषा के अ, (ह्रस्व)

---

१. 'रोरूयमाणः' में यङ् होने के कारण अभ्यास को गुण हो गया है जैसा कि पाणिनि ने कहा है—गुणो यङ्लुकोः (पा० सू० ७।४।८२)।

२. इग्यणः सम्प्रसारणम् (पा० सू० १।१।४५)।

३. देखिए—Dr. P. D. Gune, Introduction to Comparative Philology, pp. 40–58.

ए और (ह्रस्व) ओ संस्कृत में 'अ' ही रह गये। दूसरी ओर परोत्पन्न ध्वनि-परिवर्तन के कारणों को जाना जा सकता है, जैसे—वाग्यन्त्र की (Physiological) या श्रवणेन्द्रिय (acoustic) की विभिन्नता, सादृश्य (Analogy), स्वराघात (Accent) भौगोलिक-प्रभाव इत्यादि।[१]

यास्क ने यों तो दोनों प्रकार के परिवर्तनों के उदाहरण दिये हैं क्योंकि आज उनका अध्ययन किया जा चुका है परन्तु परिवर्तनों के लिए कोई कारण न होने से उन्हें 'स्वयमुत्पन्न' परिवर्तन मानें तो कोई आपत्ति नहीं। डॉ० स्कोल्ड ने यास्क के निर्वचनों के सिद्धान्त की त्रुटि (?)[२] दिखलाते हुए लिखा है कि यास्क के निरीक्षण ठीक हैं पर निष्कर्ष गलत। 'जग्मतुः' में उपधालोप हुआ है—ठीक है; पर सब जगह उपधालोप होगा—यह कहना गलत है। यहाँ विदेशी विद्वान् ने समझने में ही गलती की है। यास्क ने इन सिद्धान्तों को दृढ़ नियम नहीं माना, बल्कि ये निरीक्षण अनियमित परिवर्तन (Sporadic change) में ही जाते हैं। वे केवल यही कहते हैं—अथापि उपधालोपो भवति = कहीं-कहीं उपधा का लोप देखते हैं, जैसे 'जग्मतुः'। इसी तथ्य को भाषाविज्ञान मध्यस्वरलोप (Syncope) कहता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यास्क ने या भाषा-विज्ञान ने इसे दृढ़ नियम बना दिया है कि सर्वत्र यही बात मिलेगी। सत्य तो यह है कि भाषा में हुए परिवर्तनों की व्याख्या करने की चेष्टा दोनों ने की है। यास्क भी भाषा-विज्ञान के साथ-साथ ही स्वीकार करते हैं कि ये परिवर्तन देखे जाते हैं—भविष्य में भी होंगे, इसमें सन्देह है।

यहाँ आधुनिक शब्दावली का आवरण यास्क को दिया जाता है :—

(अ) आदि स्वरलोप (Aphesis)—यास्क कहते हैं—अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु (Weak Terminations) भवति, जैसे √अस् > स्तः, सन्ति। यह लोप स्वराघात (accent) के कारण होता है क्योंकि किसी स्वर पर विशेष बल (Stress) देने से दूसरे स्वर लुप्तोच्चारण हो जाते हैं, 'स्तः' पर जोर देना ही 'अ' के लोप का कारण है। अंग्रेजी में esquire से squire होने का भी यही कारण है। कम-से-कम यास्क तो इस तथ्य से अवश्य परिचित थे।

---

१. प्रो० ब्रुगमेन (Brugmann) ने इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को यों समझाया है—"Unconditional phonetic change is the change which an individual sound undergoes, without the determining influence of the particular kind of the aecompanying sounds, or the accent, or the language rhythm, while conditional change is where such influences take place,." डा० गुणे की पुस्तक (पृ० ४६) में उद्धृत।

२. देखिये भूमिका, तृतीय परिच्छेद (ख)।

(आ) मध्यस्वरलोप (Syncope)—यास्क का 'उपधा-लोप' जैसे—√गम् > जग्मतुः, जग्मुः । दूसरे स्थानों में भी यास्क ने ऐसे परिवर्तनों के उदाहरण दिये हैं । राजन् से राज्ञा, √दा से दित्सति आदि भी ऐसे ही परिवर्तन के उदाहरण हैं ।

(इ) सवर्णलोप (Haplology)—यास्क ने जो 'धात्वादी एव शिष्येते' कहकर 'प्रत्तम्, अवत्तम्' (√दा) आदि उदाहरण दिये हैं वे इसी के हैं । 'प्रदत्त' 'अवदत्त' से समानता होने के कारण दकार का लोप हो गया है ।[1] 'उत्तर' की व्याख्या में उन्होंने 'उद्धततर' कहा है । यद्यपि भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह निर्वचन ठीक नहीं तथापि यह यास्क के सवर्णलोप के ज्ञान को प्रकाशित करता है ।

(ई) मध्यस्वरागम या स्वरभक्ति (Anaptyxis)—यद्यपि बीच में स्वर के आगमन से ही यह सम्बन्ध रखता है तथापि व्यञ्जनों के आगमन में भी यही नाम देने की प्रणाली चल पड़ी है । यास्क इसे 'वर्णोपजन' कहते हैं जैसे—√अस् > आस्थत् । किन्तु उनका दिया हुआ √भ्रस्ज् से भरूजा का उदाहरण तो शुद्ध स्वरभक्ति है । अन्य उदाहरण हैं—स्वर्ण > सुवर्ण, प्रसाद > परसाद ।

(उ) वर्णविपर्यय (Metathesis)—यास्क का 'आद्यन्तविपर्यय' जिसके लिए वे उदाहरण देते हैं—√श्चुत् > से स्तोकः, √सृज् > रज्जु, √कस् > सिकता ।

(ऊ) समीकरण (Assimilation)—यास्क इसे 'आदि-विपर्यय' (जैसे √द्युत् > ज्योति) के रूप में स्वीकार करते हैं यद्यपि इसके उदाहरण निरुक्त में भरे पड़े हैं । इसी के द्वारा वे विषमीकरण (dissimilation) का भी उदाहरण दे देते हैं—जैसे √हन् > घन; अन्तव्यापत्ति में कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं—√गाह् > गाधः ।

(ऋ) महाप्राणीकरण (Aspiration)—अल्पप्राण का महाप्राण-वर्ण बनना, जैसे—√मद् > मधु । अन्य उदाहरण हैं—गृह > घर ।[2]

(ॠ) अल्पप्राणीकरण (Deaspiration)—जैसे √भिद् > बिन्दु । इस नियम से अभ्यासस्थ वर्णों का अल्पप्राण होता है—भभूव > बभूव; झहार > जहार ।[3]

यही नहीं, यास्क ध्वनि-नियमों की ओर भी संकेत करते हैं । निर्वचनों के ध्वन्यात्मक-सिद्धान्त का विचार हम ऊपर कर ही चुके हैं । इसलिए उनकी

---

१. तुलनीय—अच उपसर्गात्तः (पा० सू० ७।४।४७)

२. तुलनीय—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (पा० सू० ८।२।३७) ।

३. तुलनीय—झलां जश् झशि (८।४।५३), झलां जशोऽन्ते (८।२।३९), तथा अल्पप्राणीकरण का ग्रेसमैन का सिद्धान्त जिसमें एक धातु में केवल एक ही महाप्राण की सत्ता स्वीकृत है । देखिये—मङ्गलदेव शास्त्री—भाषाविज्ञान या किसी अन्य पुस्तक में भी ।

आवृत्ति व्यर्थ है। यदि सभी निर्वचनों का अध्ययन आधुनिक ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से किया जाय तो एक अच्छा अनुसंधान हो सकता है।

(२) रूप-विज्ञान (Morphology)—वाक्य शब्दों से वनते हैं। इसलिए शब्दों की रचना का भाषाविज्ञान में वड़ा महत्त्व है। शब्दों के निर्माण के वाद भी उनमें सम्बन्ध-तत्त्व (morpheme) की आवश्यकता होती है। यही तत्त्व वाक्य के सभी शब्दों को जोड़ता है और अर्थतत्त्वों का (semanteme)[1] परस्पर-सम्बन्ध वतलाता है। संक्षेप में हम यों कहें कि सम्बन्ध-तत्त्व से ही शब्दों को वाक्य में स्थान मिलता है और इसके कारण ही वे रूप का परिवर्तन करते हैं। शब्दों के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना ही रूपविज्ञान का कार्य है।

चूँकि भाषा में सवसे पहले शब्द ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं इसलिए अत्यन्त प्राचीन-काल से ही मनुष्य इस पर ध्यान देता रहा है। व्याकरणशास्त्र की तो यही जड़ है। यास्क भी अपने समय के विकसित रूपविज्ञान का परिचय देते हैं। यास्क ने चार पद-भेद माने हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। पदों के इन भेदों में ही वे सभी शब्दों को अन्तर्भूत कर लेते हैं। उपसर्गों और निपातों की तो अल्पसंख्या होने के कारण उन्होंने गणना भी करा दी है। तथापि विस्मय-द्योतक कितने ही शब्द छूट गये हैं जैसे हे, अये इत्यादि। रूप-परिवर्तन के लिए यास्क का शब्द है 'व्यय'। रूपपरिवर्तन होने वाले शब्दों को वे 'दृष्टव्यय' कहते हैं तथा इससे इतर शब्द अव्यय हैं। उपसर्ग और निपात तो अन्तिम भेद (अव्यय) में ही आते हैं किन्तु भाषा में प्रधान-स्थान रखने वाले शब्द हैं—संज्ञा (नाम) और क्रिया (आख्यात)। इनका रूप-परिवर्तन सम्बन्ध-तत्त्व के ही आधार पर होता है।

संज्ञा-शब्दों के प्रति सम्बन्ध-तत्त्व का प्रधान कार्य है—कारकों, वचनों और लिङ्गों को प्रकट करना अर्थात् संज्ञा की विभक्तियों का निर्माण करना। क्रियाओं के प्रति इसका प्रधान कार्य काल, वचन और पुरुष का द्योतन-मात्र है। यास्क सम्बन्ध-तत्त्व के इन सभी कार्यों से भली-भाँति परिचित हैं क्योंकि कई स्थलों पर उन्होंने विभक्तियों के नाम दिये हैं, जैसे—'निर्ऋत्याः' शब्द में 'आः' होने के कारण वे इसे पञ्चमी या षष्ठी विभक्ति में होने का भ्रम मानते हैं। क्योंकि दोनों विभक्तियों में 'आः' प्रत्यय लगता है। पुनः, चतुर्थी में 'ऐ' प्रत्यय का भी उल्लेख करते हैं।[2] वचनों का भी नाम वे जहाँ-तहाँ देते हैं, जैसे—(२।२४) अपि द्विवत्, अपि वहुवत् अर्थात् विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति द्विवचन और वहुवचन में की।

---

१. सम्बन्ध-तत्त्व और अर्थ-तत्त्व के लिए देखें—भोलानाथ तिवारी के 'भाषा-विज्ञान' में रूपविचार।

२. 'दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम—पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व'—चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा ऐकारान्तम् (नि० १।१७)।

क्रियाओं के सम्बन्ध-तत्त्व की स्पष्ट चर्चा नहीं है केवल पुरुषों का उल्लेख उन्होंने किया है। सप्तम-अध्याय में ऋचाओं के भेद करते समय तीनों पुरुषों का क्रमशः (प्रथम, मध्यम, उत्तम) उल्लेख किया है। काल के विषय में तो वे मौन हैं किन्तु उनके प्रयोग बतलाते हैं कि क्रिया के इस तत्त्व से भी वे अवश्य परिचित थे। यद्यपि वैदिक-युग में कालों और लकारों के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं था तथापि पाणिनि के कुछ ही पूर्व होने के कारण यास्क से इतनी अपेक्षा रखी ही जाती है। यास्क के समय व्याकरण-शास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था कि इन सभी विषयों में यास्क के ज्ञान पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

शब्द की रचना के विषय में तो यास्क अपने क्षेत्र के एक ही हैं। ये स्पष्टतया मानते हैं कि शब्दों की रचना दो तरह से होती है—एक तो धातु से निकले शब्द और दूसरे इन बने हुए शब्दों से बने शब्द। पहले को यास्क ने वैयाकरणों के साथ-ही-साथ 'कृत्' नाम दिया है और दूसरा प्रकार 'तद्धित' है। ऐसे तद्धित-शब्दों के निर्वचन से वे अधिक सावधान हैं तथा इनके लिए नियम देते हैं कि पहले तद्धितांश निकाल लें तब शब्द का कृदंश निकालकर निर्वचन करें।[1] 'दण्ड्य' में तद्धितांश है 'य' जिसका अर्थ होगा—योग्य होना, सम्पन्न होना (दण्ड के योग्य होना, दण्ड से सम्पन्न होना)। उसके निकलने पर 'दण्ड' बचता है जो √दद् (धारण करना) से बनता है। ऐसे ही आर्ष्टिषेण, कक्ष्या आदि शब्द हैं। इस प्रकार शब्द के निर्माण में कृदन्त (Primary) और तद्धित (Secondary) व्युपत्ति मानकर उन्होंने भारत-यूरोपीय भाषाओं में सबसे पहले रूप-विज्ञान का विचार प्रस्तुत किया है।

इतना ही नहीं, शब्दों के मेल से बनने वाले समासों पर भी यास्क की दृष्टि रहती है जिनके विषय में वे कहते हैं कि ये भी पहले अलग-अलग कर लिये जायँ तब समासस्थ—पदों का निर्वचन दिया जाय। इसके उदाहरण दिखलाने के लिए उन्होंने राजपुरुष, कल्याणवर्णरूप आदि शब्दों की व्युत्पत्ति दी है। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में समासों की सत्ता शून्य-सी रहती है। इनका अत्यधिक प्रयोग रूपविज्ञान और इसलिए भाषा की प्रौढ़ि का द्योतक है जैसा कि कादम्बरी, वासवदत्ता आदि संस्कृत के पिछले ग्रन्थों में हम पाते हैं।[2]

(३) **अर्थविज्ञान** (Semantics or Semasiology)—ध्वनि यदि शब्द का आवरण करने वाला चर्म है और रूप उसका शरीर, तो अर्थ उसके

---

१. 'अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु च अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम् अपरमपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः। दण्डमर्हति वा, दण्डेन सम्पद्यते इति वा। दण्डो ददतेः धारयतिकर्मणः (नि० २।२)।

२. रूपविज्ञान से परिचय के लिए देखें—Taraporewala, El. of the Sc. of lang. pp. 178–191, अथवा How to parse नामक ग्रन्थ।

प्राण हैं जिसके बिना कोई भी शब्द निर्जीव या निरर्थक होता है। यद्यपि निर्वचन को उपर्युक्त तीनों विज्ञानों की सहायता लेनी पड़ती है तथापि अर्थ-विज्ञान की ही आधार-शिला पर निरुक्त टिका हुआ है। शब्दों का अर्थ निकालने के लिए ही तो निरुक्त का इतना बड़ा प्रपञ्च है, इसलिए कोई सन्देह नहीं कि यूरोप में भले ही इसका ज्ञान पीछे हुआ,[1] किन्तु भारत में अर्थतत्त्व का अध्ययन यास्क से ही आरम्भ हो जाता है। बाद में वैयाकरणों, नैयायिकों और मीमांसकों ने तो दार्शनिक दृष्टिकोण से इस पर विचार आरम्भ कर दिया और उसे प्रौढ़ि पर पहुँचा दिया।[2]

शब्दों के अर्थ का अध्ययन करते हुए हमें दो चीजें आकृष्ट करती हैं—किसी शब्द से किसी निश्चित अर्थ का ही बोध होना और अर्थ का परिवर्तन। इन दोनों का ही विचार यास्क ने किया है। इसमें पहला प्रश्न है कि कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ का ही द्योतक क्यों है? क्या कारण है कि पहाड़ को 'पर्वत' कहते हैं? यास्क के सभी निर्वचन ही इस प्रश्न के उत्तर में लगे हुए हैं। शब्दों का सम्बन्ध क्रिया से है, क्रिया का ही अर्थ शब्द भी धारण कर लेते हैं। भले ही इस सिद्धान्त के प्रतिपादन और व्यवहार में अपने हठ के कारण यास्क कई जगह त्रुटियों से भरे हैं तथापि यह कल्पना ही कोई कम महत्त्व नहीं रखती कि क्रिया और संज्ञा का पारस्परिक सम्बन्ध अर्थ में होता है। आग को 'अग्नि' इसलिए कहते हैं कि यह अग्रणी है, यज्ञ में इसकी आवश्यकता आगे ही होती है। इसी प्रकार सबों का निर्वचन किया गया है। कहीं-कहीं शब्दों के नाम पड़ने में लक्षणा भी सहायक होती है भले ही उसके मूल में भी क्रिया ही काम करती है। अलंकार भी (जैसे उपमा, रूपक) सहायता करते हैं जिन्हें अर्थ-परिवर्तन के क्रम में हम देखेंगे।

शब्दों का अर्थ-परिवर्तन भी एक सुस्थित तथ्य है। कभी-कभी तो कालक्रम से एक शब्द अपना अर्थ छोड़ देता है और दूसरा ही अर्थ धारण कर लेता है, जैसे—'मृग' का वैदिक-भाषा में अर्थ है पशुमात्र, किन्तु संस्कृत में 'हरिण'। कभी-कभी एक ही समय में शब्द अपने अर्थ के अलावे दूसरे अर्थ भी धारण करते हैं जैसे—'अर्थ' = अभिप्राय, प्रयोजन, धन आदि, 'कर' = किरण, हाथ, सूँड़ आदि। इस अवस्था में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। दोनों दशाओं में अर्थ का परिवर्तन कुछ कारणों से होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कई शब्द होते हैं जो वस्तु के विभिन्न गुणों के

---

१. माइकेल ब्रील का 'एँसे द सिमँन्तिक्' (Essai de Semantique, 1998) इस विषय का प्रथम ग्रन्थ है।

२. इन मतों से अर्थविज्ञान का परिचय पाने के लिए (क) P. C. Chakravarty, Linguistic Speculations of the Hindus, (ख) डा० कपिलदेव द्विवेदी, 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन', (ग) डा० गौरीनाथ शास्त्री, Philosophy of Word and Meaning, (घ) डा० रामचन्द्र पाण्डेय, Problem of Meaning in Indian Philosophy इत्यादि देखें।

आधार पर बने होते हैं, जैसे—हिमांशु, विधु, इन्दु, चन्द्रमा, कुमुदबन्धु आदि। आधुनिक भाषाशास्त्री की भाँति यास्क का मत है कि कोई भी पर्यायवाची शब्द वस्तुतः पर्यायवाची नहीं होता, वह विभिन्न गुणों के आधार पर ही बना है, जैसे—'पृथ्वी' का एक नाम 'गौ' है जो उसमें रहने वाले प्राणियों की गति का बोध कराता है, तो 'पृथिवी' से उसका विस्तार मालूम होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि एक ही वस्तु का द्योतन करने के लिए कितने भी नाम क्यों न हों, सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर सबों में अर्थ का अन्तर मिल ही जायगा।[१]

भाषा-विज्ञान ने जो अर्थ-परिवर्तन की तीन दिशायें निर्धारित की हैं,[२] यास्क उनके विषय में कुछ नहीं कहते किन्तु अर्थ-परिवर्तन के कारणों पर तो स्थान-स्थान पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार से उपमा (सादृश्य), रूपक और तद्धित-प्रयोग ही अर्थ-परिवर्तन के मुख्य कारण हैं। एक सादृश्य लें—'कक्ष्या' घोड़े की रस्सी है जो उसके कक्ष (काँख) से बँधी रहती है। इसी घोड़े की काँख के सादृश्य से मनुष्य की काँख भी 'कक्ष' कहलाती है।[३] फिर देखें, पशु के चार पाद (पैर) होते हैं, उनके सादृश्य से ही पाद का अर्थ 'चौथाई-हिस्सा' भी हो गया।[४] कितनी सुन्दर व्याख्या है।

तद्धित प्रयोग के लिये 'गौ' के विभिन्न शब्दार्थ अच्छे उदाहरण होंगे। 'गौ' का अर्थ है पृथ्वी और उसी प्रकार इसका अर्थ गाय भी होता है। गाय से सम्बद्ध अर्थों का यदि यह बोध कराये तो उसे ताद्धित प्रयोग कहेंगे।[५] गौ के अर्थ हो जायँगे—गोदुग्ध, सोम चुलाने के लिए गोचर्म, गौ की ताँत, चर्बी आदि। गौ की ताँत का प्रयोग धनुष में होने के कारण धनुष भी 'गौ' कहा जाता है। यही नहीं, अर्थादेश (Transference of Meaning) का प्रभाव भी देखने में आता है जब 'गौ' से सूर्य, चन्द्रमा और सभी प्रकार की किरणों का बोध होने लगता है।

---

१. देखिये—Dr. Bata Krishna Ghosh, Linguistic Introduction to Sanskrit, pp. 23–25.

२. कभी-कभी अर्थ में संकोचन (Specialisation) होता है, जैसे—'मृग' (='पशु' वैदिक-भाषा में;='हरिण' संस्कृत में), 'मुर्घ' (='पक्षी' अवेस्ता में;= 'मुर्गा' हिन्दी)। कभी-कभी अर्थ में विस्तार (Generalisation) होता है जैसे—'परश्वः' (=आने वाला परसों—संस्कृत में; बीता और आने वाला दोनों परसों—हिन्दी में)। कभी-कभी अर्थ का पूरा परिवर्तन (Transference) हो जाता है—ग्राम्य (=ग्रामवासी > मूर्ख); देवानां प्रियः (देवताओं का प्रिय > मूर्ख)।

३. तत्सामान्या मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य (नि० २।२)।

४. पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः (नि० २।७)।

५. तुलना करें—Syneedoche, Metonymy नामक अलङ्कार (Figures of Speech), संस्कृत में ये लाक्षणिक प्रयोग कहे जाते हैं।

किसी शब्द के दो अर्थों में अपकर्ष और उत्कर्ष की चर्चा भी यास्क ने की है, जैसे निरुक्त १।२० में 'कुचर' की व्याख्या में उन्होंने दोनों अर्थों का समावेश किया है। 'कुचरः' यदि वन्य पशु का विशेषण हो तो 'कु' का अर्थ कुत्सित ही रहेगा किन्तु यदि वह देवता का अभिधान हो तो इसके निर्वचन पर भी प्रभाव पड़ेगा— क्वायं न चरति (सर्वगामी) अर्थात् क्व>कु का विकास हुआ है।

सप्तम अध्याय में जातवेदस् और वैश्वानर के वास्तविक अर्थ के अन्वेषण में यास्क बहुत बड़ी विवेचना करने लगते हैं तथा आधुनिक अनुसन्धान के नियमों का प्रयोग करते हुए पार्थिव-अग्नि को ही इनका वास्तविक अर्थ सिद्ध करते हैं। समूचे निरुक्त का मन्थन करने पर अर्थ-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं जिनकी विवेचना के लिए पर्याप्त स्थान की अपेक्षा है। तथापि यह कहा जा सकता है कि यास्क के काल में अर्थ विज्ञान का इतना उत्कर्ष हमें आश्चर्य में डाल देता है। न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रों में भौतिक जगत् से उठकर इस पर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया जाने लगा था।

(४) वाक्य-विज्ञान (Syntax)—वाक्य भाषा की इकाई है क्योंकि भाषा के लक्ष्य (विचारों का आदान-प्रदान) की पूर्ति करने वाले वाक्य ही होते हैं। किन्तु किसी वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रियादि का स्थान कहाँ रहता है तथा उनमें बल किस प्रकार पड़ता है—इन सबों का समुचित अध्ययन अभी तक नहीं किया गया है। प्रत्येक भाषा के वाक्यों की अपनी रचना होती है, अपना क्रम होता है जो कालक्रम से बदलता रहता है। पालि की वाक्य-रचना संस्कृत से भिन्न है, लैटिन वाक्य-रचना की गन्ध भी अंग्रेजी में आने पर उसमें लैटिनपना (Latinism) मालूम होने लगता है। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य की वाक्य-रचना कुछ और ही है जिसमें क्रियायें प्रायः बीच में आ रही हैं।

वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से यास्क का अध्ययन करना बहुत मनोरञ्जक है क्योंकि वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में ये अपनी विशेषतायें प्रकट करते हैं। विशेषतया निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं—

(क) वैदिक-मन्त्रों की व्याख्या में शब्दों के क्रम में यास्क सामान्यतया परिवर्तन नहीं करते, कोई शब्द कहीं भी आ सकता है यहाँ तक कि विशेष्य और विशेषण के बीच में क्रिया भी जोड़ देते हैं। परन्तु जहाँ उन्हें स्वतन्त्र रूप से लिखने का अवकाश मिलता है वे संस्कृत-वाक्य-विन्यास की ही रीति अपनाते हैं किन्तु क्रियायें प्रायः अन्त में नहीं रहतीं, जैसे—'तमूचुः ब्राह्मणाः, स शन्तनुः देवापिं शिशिक्ष राज्येन' (२।१०)।

(ख) वैदिक-मन्त्रों में उपसर्ग और क्रिया की पृथकता सर्वविदित हैं किन्तु यास्क के काल में इनका साहचर्य आवश्यक प्रतीत होता है। यही कारण है कि मन्त्रों की व्याख्या में वे मन्त्रस्थ उपसर्ग और क्रिया को एक साथ कर देते है जैसे नि० १।१७ में मन्त्र के 'प्रति·······दुहीयत्' को 'प्रतिदुग्धाम्' में बदल देते हैं,

(ग) वैदिक-भाषा में जहाँ निरर्थक (?) निपात पद-पूरण और वाक्य-पूरण के रूप में हुआ करते हैं; वहाँ यास्क के युग में इनकी निरर्थकता सिद्ध कर दी जाती है। स्वयं यास्क मन्त्र-व्याख्या के समय ऐसे निपातों को छोड़ देते हैं। अपनी भाषा में यास्क इसका प्रयोग न करके केवल सार्थक और बल प्रदान करने वाले निपातों (जैसे—एव, अपि) का ही प्रयोग करते हैं।

(घ) 'इति' का प्रयोग ये संस्कृत के अनुसार उद्धरण के बाद करते हैं।

(ङ) यास्क के वाक्य अत्यन्त ही सरल होते हैं। संयुक्त और संसृष्ट वाक्यों का प्रयोग ये वहुत ही कम करते हैं।

निर्वचन-शास्त्र (Etymology) भी भाषा-विज्ञान का अनिवार्य अङ्ग है यद्यपि इनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं। ध्वनिविज्ञान, रूपविज्ञान और अर्थ-विज्ञान के सम्मिलित प्रयोग से ही व्युत्पत्तियाँ होती हैं। हम अलग अध्याय में निर्वचनों का विचार विस्तार-पूर्वक कर चुके हैं अतएव यहाँ पुनः आवृत्ति करना पिष्टपेषण-मात्र होगा।

भाषा के इन तत्त्वों की तुलना करने पर उनके विकास का पता लगता है। यास्क भाषा के विकास से परिचित हैं क्योंकि वे वैदिक और संस्कृत दोनों भाषाओं के शब्दों को समान मानते हैं (अर्थन्वतः शब्दसामान्यात् १।१६)। यास्क जानते हैं कि संस्कृत-भाषा में शब्दों के अर्थ में विकास हो गया है जो वैदिक-काल में नहीं था। डा० लक्ष्मणसरूप कहते हैं कि निघण्टु के व्याख्याता और प्रायः ६०० वैदिक-मन्त्रों के टीकाकार होकर यास्क वैदिक और लौकिक भाषाओं के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझने में कभी असफल नहीं हुए होंगे।[१] वैदिक भाषा की संज्ञायें लौकिकभाषा की क्रियाओं से बनती हैं—इस विरोधी वाक्य का अभिप्राय यह है कि वैदिक-काल में वे शब्द संज्ञारूप में प्रयुक्त होते थे जब कि संस्कृत-युग में संज्ञारूप में न रहकर क्रियारूप में बदल गये। उसी प्रकार कितने शब्द क्रियारूप में थे, संज्ञारूप में आ गये—क्रिया का प्रयोग नष्ट हो गया। भाषा के परिवर्तन और विकास का अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलना उस युग से असम्भव ही है।[२]

---

1. Dr. L. Sarup, The Nighantu and the Nirukta, p. 223

२. देखिये—Dr. P. D. Gune की पुस्तक 'भाषाविज्ञान' (Introduction to Comparative Philology) में Change of Language. 'Language is always in a state of flux.'

अष्टम परिच्छेद

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास

[भारत और यूनान—वैदिक संहिता में निर्वचन—ब्राह्मण-ग्रन्थ—निरुक्त-कारों के सम्प्रदाय—यास्क—अन्य आचार्य—पाणिनि—उणादिसूत्र—निर्वचन की प्रणाली—यूनान—प्लेटो—सादृश्यवाद—थ्रैक्स—आधुनिकयुग—ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन—१९वीं शती का निर्वचन—२०वीं शती—स्कीट ।

प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—"समूचे संसार के इतिहास में केवल दो ही राष्ट्र हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से, बिना एक दूसरे से सहायता लिये, तर्कशास्त्र और व्याकरण—इन दो विज्ञानों पर विचार किया; वे दोनों हैं—यूनानी और हिन्दू ।"[1] वे फिर कहते हैं—"जब कि यूनान में उसके एक बड़े दार्शनिक के विचार (जैसा कि क्रेटिलस् में अभिव्यक्त है) निर्वचन-शास्त्र की बाल्यावस्था प्रकट करते हैं, भारत के ब्राह्मणों ने निर्वचन-शास्त्र के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कर लिया था ।"[2] कहने का अभिप्राय यह है कि यूनान और भारत दोनों स्थानों में निर्वचन पर स्वतन्त्र विचार किये गये थे परन्तु भारतवर्ष की प्रौढ़ता कुछ और ही थी, वह यूनान में नहीं । भारत अपने प्राचीनतम साहित्य में ही निर्वचन का संकेत करता है और उसी समय से संज्ञाओं की उत्पत्ति धातु से मानी जाने लगी है । प्रस्तुत अध्याय में हम भारत और यूनान के स्वतन्त्र अध्ययन की चर्चा करेंगे ।

(१) भारत—यद्यपि भाषा के सम्बन्ध में चिन्तन की प्रथम धारा ऋग्वेद में हमें मिलती है क्योंकि व्याकरण, भाषा, सरस्वती आदि के विषय में उसमें पर्याप्त संकेत किये गये हैं, कितनी ऋचाओं में शब्दार्थ के रूप में निर्वचन दिये भी गये हैं,[3] तथा यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा में शब्द का द्विधाकरण हम देख ही चुके हैं । तथापि निर्वचन-शास्त्र का पूर्ण विकास देखने के लिए तो हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों को ही सुरक्षित करना पड़ेगा । ब्राह्मणों का लक्षण ही है—'हेतुर्निर्वचनं निन्दा०' अर्थात् निर्वचन करना भी ब्राह्मणों के लक्षण हैं । आश्चर्य तो यह है कि ब्राह्मणों के निर्वचन ध्वनि, रूप, अर्थ आदि का पूरा विचार रखते हैं, उनमें त्रुटि प्रायः नहीं है । यास्क ने भी कुछ शब्दों के प्रमाण के लिए ब्राह्मणों के वाक्य उद्धृत किये हैं । यह स्मरणीय है कि ब्राह्मणों के निर्वचनों को उद्धृत करने के बाद यास्क 'इति विज्ञायते' अवश्य

---

१. Max Muller, History of Ancient Sanskrit Literature, p. 158.

२. वही, p. 163.

३. देखें—Dr. Fatah Sinha, Vedic Etymologies.

लिखते हैं। 'शक्वरी' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए ब्राह्मणों में कहा है—'तद् याभिः वृत्रम् अशकद् हन्तुं तत् शक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते' (नि० १।८) अर्थात् 'शक्वरी' शब्द √शक् से बना है और इसका अर्थ है 'जिसकी सहायता (उच्चारण) से वृत्र मारा जा सका'। फिर 'अक्षि' की व्युत्पत्ति √अञ्ज् = 'प्रकाश करना' से मानी गई है—'तस्मादेते (= आँखें) व्यक्ततरे इव भवतः इति ह विज्ञायते' (१।९) अर्थात् आँखें समूचे शरीर की अपेक्षा अधिक व्यक्त होती हैं। 'वृत्र' (एक राक्षस मेघ) की उत्पत्ति √वृ (ढँकना) से या वृत् (होना) से बतलाने वाले भी वाक्य हैं—'यदवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते, यदवर्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते' (नि० २।१७)।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माण-काल के बाद से ही निरुक्तकारों के सम्प्रदाय चल पड़ते हैं जिनमें औपमन्यव, आग्रायण, और्णवाभ आदि के नाम बड़े सम्मान से यास्क भी लेते हैं। इन आचार्यों ने भी ग्रन्थ-रचना अवश्य ही की होगी जिनके अभाव में इस समय कुछ भी निर्णय करना कठिन है कि इनके निर्वचन कैसे थे। यास्क के द्वारा उद्धृत इनके मतों से तो ज्ञात होता है कि ये भी यास्क से कम नहीं थे। निरुक्त के आधार पर इनका अच्छा अध्ययन हो सकता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण-काल हमें न्यूनतम ११०० ई० पू० मानना ही पड़ेगा जिसके बाद से इन आचार्यों की परिपाटी यास्क तक चलती है। ४०० वर्षों की इस अवधि में जो कुछ अनुसन्धान या स्वतन्त्र चिन्तन हुआ, उन सबों का उपयोग यास्क ने किया है।

इन छिटपुट आचार्यों के बाद भारतीय व्युत्पत्ति-शास्त्र के इतिहास में एक ऐसे ज्वलन्त नक्षत्र का उदय होता है जिन्होंने न केवल पहले के, अपितु बाद के भी अन्य आचार्यों से बढ़कर काम किया और जो अपने सर्वाङ्गपूर्ण निरुक्त की रचना करके सर्वापहारी काल के कोप से भी सुरक्षित रह सके। उस युग के अन्य ग्रन्थ अपनी गौणता के कारण अप्राप्य हैं जब कि यास्क के निरुक्त की कई प्रतिलिपियाँ मिलीं। लोक-स्वीकृति से बढ़कर और बड़ी समालोचना क्या हो सकती है ? यास्क के काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है क्योंकि इनका काल अधिकांशतः पाणिनि के कालनिर्णय पर ही आधारित है। सत्यव्रत सामश्रमी का सिद्धान्त कि यास्क से पाणिनि प्रत्नतर हैं, अब पूरा खण्डित हो चुका है। पाणिनि से पहले यास्क थे इसमें कोई संशय नहीं है।

अस्तु, मैक्समूलर,[१] वेबर,[२] कीथ[3] आदि विद्वान् पाणिनि का काल ३५० ई० पू० मानते हैं जब कि भाण्डारकर, विण्टरनित्स[४] आदि अन्य भारतीय

१. History of Ancient Sanskrit Literature.

२. History of Indian Literature.

३. History of Sanskrit Literature.

४. Geschichte der Indischen Litteratur, Vol. III.

विद्वानों के साथ इन्हें ५०० ई० पू० मानते हैं। डा० वेलवल्कर[1] इन सबों की परीक्षा करके ७०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। दूसरी ओर युधिष्ठिर मीमांसक तथा सत्यव्रत-जैसे कुछ विद्वान् तो २७०० ई० पू० और २४०० ई० पू० तक पहुँचते हैं। सचमुच भारतीय-साहित्य के इतिहास में कालनिर्णय करना बड़ा कठिन है। यूरोपीय-विद्वानों की तार्किक-बुद्धि भी असफल हो जाती है। आज पाणिनि का सर्वमान्य काल है ५०० ई० पू०। शैली और भाषा की दृष्टि से यास्क को पाणिनि के थोड़ा पहले प्रायः ७०० ई० पू० में विद्यमान मानना समीचीन है।

यास्क के काल का निर्णय करने में निम्नलिखित विषयों पर ध्यान देना अपेक्षित है—

(क) पाणिनि-पूर्वत्व—पाणिनि के अपने सूत्र 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' में यास्क का उल्लेख परोक्षतः एक गोत्रवाचक शब्द के रूप में किया है। इसके अतिरिक्त उनकी अष्टाध्यायी में कतिपय ऐसे आचार्यों का निर्देश है जो निरुक्त में निर्दिष्ट नहीं। स्फोटायन प्रभृति आचार्य अवश्य ही यास्क के अनन्तर तथा पाणिनि के पूर्व हुए थे। यास्क का काल निश्चय ही पाणिनि के प्रायः २-३ सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए।

(ख) महाभारत में उल्लेख—शान्तिपर्व (३४२।७२-३) में निरुक्तकार यास्क की चर्चा है कि विष्णु की शिपिविष्ट के रूप में यास्क मुनि ने स्तुति की है और उन्हीं के प्रसाद से विनष्ट निरुक्त ग्रन्थ का उद्धार किया। यह शिपिविष्ट शब्द वस्तुतः निरुक्त ५।७-९ में विवेचित है। यद्यपि महाभारत के काल का भी कुछ निर्णय नहीं है तथापि यास्क की अतिप्राचीनता तो सिद्ध होती ही है।

(ग) यास्कपूर्व वैदिक वाङ्मय—निरुक्त में प्रायः पूर्ण वैदिक साहित्य का उपयोग किया गया है। संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् से भी वे परिचित हैं। उपनिषदों से वे पूर्ण परिचित नहीं लगते। पुरुष का निर्वचन करते हुए वे उपनिषद् का वाक्य देते हैं (निरुक्त २।३)। उपनिषदों के काल के आरम्भिक भाग में ही उनकी स्थिति सम्भव है।

(घ) भौगोलिक परिचय—यास्क ने कई स्थानों पर अपने भौगोलिक ज्ञान का परिचय दिया है। दाक्षिणात्य-प्रथाओं का भ्रामक उल्लेख तो सचमुच किसी प्रामाणिक स्थिति का द्योतन नहीं करता; किन्तु कम्बोज तथा आर्य देशों का भाषा-वैज्ञानिक अन्तर करना वास्तव में उनके पार्श्ववर्ती परिवेश का परिचायक है। डा० भगवतशरण उपाध्याय[2] के अनुसार कम्बोज-देश कश्मीर के उत्तर-पूर्वी भाग को कहते थे। लौंगमेन के मानचित्र में भी २५० ई० पू० के भारत की स्थिति प्रदर्शित करते हुए काम्बोज को कश्मीर के पूर्व तथा हिमालय के दक्षिण

१. Systems of Sanskrit Grammar.
२. India in Kalidasa, p.61.

दिखलाया गया है। यास्क के द्वारा प्रदर्शित अन्तर यह स्पष्ट करता है कि कम्बोज-प्रदेश में भी संस्कृत बोली जाती थी तथा केवल विभाषागत अन्तर था।

(ङ) भाषा-शैली—यास्क की शैली उस संक्रमण-काल का द्योतन करती है जब वैदिक युग ब्राह्मण-ग्रन्थों की गद्यवीथिका में ही विचरण कर रहा था; भाषा सरल किन्तु आर्ष (archaic) थी। वाक्य-विज्ञान की दृष्टि से यास्क का अध्ययन करें तो कहा जा सकता है कि अभी तक सूत्र शैली का निवेश पूर्ण रूप से नहीं हुआ था। पाणिनि की शैली आने में अभी बहुत देर थी।

इन तथ्यों से हम सरलतापूर्वक ७००-८०० ई० पू० में यास्क का समय रख सकते हैं।

यास्क और पाणिनि के बीच में फिर कुछ वैयाकरण आते हैं जो व्युत्पत्ति का स्पर्श करते हैं किन्तु काल उन्हें नगण्य समझकर भूल जाता है। पाणिनि के आविर्भाव से निर्वचन-शास्त्र में एक नया जीवन आ जाता है और शब्दों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन आरम्भ हो जाता है। जिन बातों में यास्क हमें भ्रमात्मक ज्ञान देते हैं, पाणिनि उन्हें स्पष्ट कर देते हैं। इनके धातुओं और प्रत्ययों में शब्द-निर्माण की अनोखी शक्ति है जिसके आधार पर प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति की जाती है। पाणिनि की व्युत्पत्तियों में ध्वनि, रूप और अर्थ का अद्भुत सामञ्जस्य है जिसे भाषाविज्ञान सर्वथा स्वीकार करता है। स्वरों और व्यञ्जनों के पारस्परिक सम्बन्ध से पाणिनि पूर्ण परिचित हैं और विशेषतया इनकी अष्टाध्यायी के अध्ययन से ही यूरोप में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति पहुँची। यहाँ तक कि भाषाविज्ञान ने पाणिनि के कुछ शब्दों को (जैसे गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण) यथावत् स्वीकार कर लिया है।

उणादि-सूत्र भी पाणिनि से ही सम्बद्ध हैं यद्यपि ये दूसरों के लिखे हुए हैं जिनमें पाणिनि के छोड़े हुए शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। उणादि की प्रक्रिया ही ऐसी है जो शब्दों को धातुज मानती है। इस प्रक्रिया से हम सभी शब्दों की व्युत्पत्ति कर सकते हैं चाहे वह उणादि-सूत्रों के अधिकार में नहीं आया हुआ शब्द भी क्यों न हो। इसके लिए नियम है—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

अर्थात् शब्दों में पहले प्रकृति की कल्पना करें, फिर प्रत्यय की। कार्यों को देखकर प्रकृति और प्रत्यय में अनुबन्ध लगा दें। यह उणादि का नियम है। इस प्रकार इस पद्धति ने निर्वचन-शास्त्र को एक नया रास्ता दिखलाया जिससे न केवल संस्कृत के, अपितु अन्य भाषाओं के शब्दों को भी संस्कृत के अनुसार व्युत्पन्न किया जाने लगा। इससे निर्वचन-शास्त्र की वैज्ञानिकता क्षीण होने लगी।[१]

---

१. उणादि-सूत्रों के शैथिल्य के विषय में एक प्रसङ्ग चलता है। किसी पण्डित ने फारसी के मियाँ, मुलुक और मोलना शब्दों को भी उणादि से सिद्ध कर दिया।

पाणिनि की परिपाटी इतनी वैज्ञानिक थी कि इसके बाद कुछ भी जोड़ना व्यर्थ था। फल यह हुआ कि पाणिनि की टीका-टिप्पणी में ही बाद के विद्वानों ने श्रम व्यय किया। दूसरे सम्प्रदाय वालों ने चेष्टा भी की है तो पिष्ट-पेषण के लिए ही। भारतीय इतिहास में निर्वचन-शास्त्र का स्वर्णयुग इस प्रकार समाप्त हो गया और नवीन जाग्रति (Renaissance) तक के लिए सारा काम बन्द हो गया।

(२) यूरोप—यूनान के दार्शनिकों ने भाषा के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया था। किन्तु उनके सिद्धान्त भारत की तरह उन्नत नहीं थे। सबसे पहले प्रामाणिक ढङ्ग से सुकरात (४६९ ई० पू०—३९९ ई० पू०) ने शब्द और उसके अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का पता लगाया है। उनका कथन है कि वस्तु और शब्द में स्वाभाविक नहीं, किन्तु एक माना हुआ सम्बन्ध है। इसके बाद उनके शिष्य प्लेटो (४२९ ई० पूर्व—३४७ ई० पू०) ने अपने क्रेटिलस् (Cratylus) में तात्कालिक भाषा-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रदर्शन किया है। उस समय सादृश्य-वादियों और उनके विरोधियों में (Analogists and Anomalists) संघर्ष चल रहा था।[1] सादृश्यवादी कहते थे कि भाषा स्वाभाविक है तथा मूलतः क्रमबद्ध है। इनके अनुसार शब्दों का मूल तथा उनका अर्थ शब्दों के रूप में ही है। इसी की खोज करने को वे व्युत्पत्ति (Etymology) कहते थे। उदाहरणतः उनके अनुसार 'मृगचर्म' इसलिए कहा जाता है कि यह चमड़ा है और मृग का है। यहाँ तक तो वे ठीक थे परन्तु अ-यौगिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने में गलती कर बैठते थे। 'स्वर्ग' की व्युत्पत्ति वे करते थे 'चीजों को ऊपर की ओर देखना'।[2]

प्लेटो ने क्रेटिलस् में इन मतों की हँसी उड़ाई है तथा व्युत्पति का वास्तविक अर्थ दिया है कि जो शब्दों का अर्थ और भाव प्रकट कर दे। इससे अधिक वे व्युत्पत्ति से कुछ भी नहीं समझते। ग्रन्थ के संवादों में उन्होंने अपने मत का समर्थन किया है किन्तु ये भी व्युत्पत्ति की शैशव-दशा में ही हैं। अरस्तू (३८५ ई० पू०—३२२ ई० पू०) ने भी प्लेटो के कार्य को कुछ आगे की ओर बढ़ाया परन्तु तात्कालिक यूनानी रूढ़ियों के कारण सफल न हो सके। कारण यही था कि यूनानी लोग भूल से दूसरी भाषाओं के शब्द भले ले लें परन्तु अध्ययन

√मा (नापना) में उणादि के कल्पित डियाँ, डुलुक और डोलना प्रत्यय जोड़ दिये गये। 'ड' इसलिए लगाया गया है कि मा धातु के 'आ' (टि) का लोप, डित्-प्रत्यय होने से, हो जाय (डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेः लोपः)। उक्ति यों है—

उणादि से जो प्रत्यय लिये, डियाँ, डुलुक, डोलना।
मा धातु से सिद्ध किया, मियाँ, मुलुक, मोलना॥

१. देखें—Bloomfield, Language, p. 4.

2. Encyclopaedia Britannica, Vol. 8, pp. 790–1.

केवल अपनी भाषा का ही करते थे जिससे शुद्ध व्युत्पत्ति देने में (विशेषतया विदेशी शब्दों की) कठिनाई होती थी ।

ईसा की दूसरी शती में थ्रैक्स (Thrax) नामक विद्वान् हुए जिन्होंने यूनानी भाषा का प्रथम व्याकरण लिखा। यद्यपि वे वैयाकरण थे तथापि व्युपत्ति के भी प्रसंग यत्र-तत्र दिये हैं जो उल्लेखनीय नहीं। बाद में लैटिन-व्याकरणों में भी इस पर जोर नहीं दिया गया। सच तो यह है, यूरोप भर में केवल अनुमान पर ही व्युत्पत्तियाँ दी जाने लगीं और यह दशा १८वीं शती तक रही जब तक कि पुनर्जागरण का व्यापक आन्दोलन नहीं हो गया।

(३) आधुनिक युग—अठारहवीं शती में यूरोप में भाषा के सम्बन्ध में बहुत बड़ी क्रान्ति हुई। विभिन्न भाषा-भाषी अपने व्यापारिक सम्बन्धों को लेकर मिलने-जुलने लगे तथा एक दूसरे की भाषा समझने लगे। यहाँ तक कि पृथ्वी का प्रत्येक भाग छाना जाने लगा। इसी सिलसिले में भारत-यूरोप का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। पारस्परिक भाषाओं के आदान-प्रदान से शब्दों के अध्ययन में सुविधा हुई और इसके लिए दूसरे भी वैज्ञानिक साधन उपलब्ध हुए। इस प्रकार शब्दों के मूल पर विचार करने का समय मिला और व्युत्पत्ति शास्त्र ने एक नयी दिशा पकड़ी।

ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन से शब्दों में परस्पर सम्बन्ध दिखाना सरल हो गया कि शब्दों का प्रथम रूप खोजा जाय। इस प्रकार शब्द के इतिहास का पता लगाना ही निर्वचन की इतिश्री समझी गयी।[1] इताली भाषा के 'दोना' (Donna = स्त्री) को लातिन भाषा के 'दोमिना' (Domina = भद्र महिला) से निष्पन्न सिद्ध करना ही निर्वचन हो गया। निर्वचनात्मक अनुसन्धान का अर्थ हो गया—ध्वनि के सिद्धान्तों के आधार पर शब्दों के रूपों की शुष्क सूची तैयार करना। इसी युग की देन में श्लेगल, रैस्क, ग्रिम, बॉप, रॉथ आदि विद्वान् आते हैं। रॉथ ने भोटलिङ्क की सहायता से संस्कृत-जर्मन महाकोश तैयार किया है जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ अपने विषय का एक ही है तथा आजतक इसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं निकल सका, भले ही इसे प्रकाशित हुए १०० वर्ष हुए।

बीसवीं शती के पदार्पण के साथ-साथ कई नये विज्ञानों की उत्पत्ति हुई तथा निर्वचनों का अर्थ भी बदलने लगा। अब निर्वचन का पता लगाने का अभिप्राय हुआ—किसी शब्द से सम्बद्ध संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, भूगोल आदि का पता लगाना, जिन-जिन स्थितियों में शब्द का परिवर्तन हुआ। उपर्युक्त 'दोमिना' से 'दोना' की उत्पत्ति मानने में तुस्कानी-प्रदेश का अध्ययन करना पड़ेगा जो 'दोल्चे स्तिल नुओवो' (dolce stil nuovo) की काव्यधारा का जन्मस्थान है जिस धारा में स्त्रियों को समस्त पार्थिव-सौन्दर्य और देवत्व का प्रतीक समझा जाता

---

1. Collier's Encyclopaedia, Vol. 7, p. 463.

था। इसके प्रभाव से वैसा परिवर्तन हुआ।[1] वर्तमान-शती की इस प्रवृत्ति ने ही भाषा के आधार पर प्रागैतिहासिक अनुसन्धान (Linguisitc Palaeontology) का जन्म दिया।

निर्वचन-शास्त्र का इतिहास स्कीट (Skeat) के नामोल्लेख के विना अधूरा ही रहेगा। इन्होंने अंग्रेजी-भाषा के शब्दों का निर्वचनात्मक-कोश तैयार किया है जिसकी भूमिका में निर्वचन करने के दस सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनमें मुख्य ये हैं—(१) शब्दों के पहले रूप और प्रयोग का पता लगा लें, कालक्रम का ध्यान रहे। (२) भूगोल और इतिहास पर भी दृष्टि रहे क्योंकि शब्द उधार भी लिये जाते हैं। (३) ध्वनि के नियमों को देखते रहें, विशेषतया आर्य-भाषाओं के व्यञ्जन-सम्बन्ध और स्वर को न भूलें। (४) शब्द के पूरे अंश की व्युत्पत्ति होनी चाहिए। (५) परस्पर असम्बद्ध भाषाओं में केवल रूप की समानता पर न दौड़ें। (६) जब दो भाषाओं में शब्द अत्यन्त समान हों तब समझें कि एक ने दूसरे से उधार लिया है।

इसके अलावे स्कीट ने स्वतन्त्र-रूप से भी अंग्रेजी-निर्वचन-शास्त्र पर पुस्तक लिखी है। खेद है कि भारतीय-भाषाओं में किसी पर भी ऐसा अध्ययन प्रस्तुत नहीं हुआ। टर्नर का नेपाली कोश अपने ढङ्ग का अनूठा ही है किन्तु उस एक ग्रन्थ के आभारी हम कहाँ तक रहेंगे ? आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत या हिन्दी का निर्वचनात्मक-कोश तैयार हो जिसमें शब्द के मूल-रूप के साथ-साथ परिवर्तन करनेवाली परिस्थितियों का उल्लेख हो। इस महान् कार्य से भारतीय भाषा-विज्ञान के एक अस्पृष्ट अंग की पूर्ति हो जायगी। अपने निर्वचन-परिशिष्ट में हम कुछ ऐसा करेंगे।



1. Collier's Encyclopaedia, Vol. 7, p. 463.

नवम परिच्छेद

निघण्टु और निरुक्त के टीकाकार

[स्कन्दस्वामी (५०० ई०)--देवराज (१३०० ई०)--इनकी विशेषतायें—दुर्गाचार्य—(१३००-५० ई०)—इनका वैदुष्य—स्थान-कालनिरूण—महेश्वर (१५०० ई०)—आधुनिक विद्वानों के कार्य—राँथ—सामश्रमी—सरूप—स्कोल्ड—राजवाड़े—सिद्धेश्वर वर्मा—निरुक्त के मुद्रित-संस्करण ।]

हम जानते हैं कि निघण्टु वैदिक-शब्दों का संग्रह है और निरुक्त उसी पर भाष्य है। शब्दकोश-व्याख्या की आवश्यकता तो होती ही नहीं और उसके भाष्य की व्याख्या भी क्या होगी ? निरुक्त स्वयं व्याख्या-रूप में है, तथापि भारतीय मस्तिष्क कभी भी किसी ग्रन्थ को निर्व्याखयान नहीं देख सकता है चाहे वह ग्रन्थ सरलतर क्यों न हो। हितोपदेश की व्याखयायें भी क्या नहीं हैं ? यही कारण है कि निघण्टु और निरुक्त पर भी टीकायें ही नहीं, तथाकथित भाष्य लिखे गये। इनका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(क) स्कन्दस्वामी (६०० ई०)—निरुक्त की उपलब्ध-व्याख्यांओं में इनकी व्याख्या सबसे प्राचीन है। इन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में निरुक्त के बारह अध्यायों की व्याखया की है। इनकी व्याखया दुर्गाचार्य की टीका के समान विस्तृत तथा निरुक्त के प्रत्येक शब्द का उद्धरण देनेवाली नहीं है। निरुक्त के प्राचीनतम अर्थ का ज्ञान पाने के लिए यह टीका सर्वोत्तम है। स्कन्दस्वामी का काल डा० लक्ष्मणसरूप ने सप्रमाण सिद्ध किया है।[१] स्कन्दस्वामी स्वयं हरिस्वामी के गुरु थे। हरिस्वामी ने शतपथ-ब्राह्मण की टीका लिखी है और ये मालवाधिपति के यहाँ धर्माध्यक्ष थे। ये लिखते हैं—

यः सम्राट् कृतवान्सप्त सोमसंस्थांस्तथर्क् श्रुतिम् ।
व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां स्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥

इससे पता चलता है कि स्कन्द ने ऋग्वेद की व्याख्या भी लिखी थी। स्वयं स्कन्दस्वामी उक्त ऋग्भाष्य के प्रथमाध्याय के अन्त में लिखते हैं—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ।

ऋग्भाष्य तथा निरुक्तभाष्य के लेखक की अभिन्नता देवराजयज्वा के उस विवरण से ज्ञात होती है जिसमें उन्होंने 'प्रयस्' तथा 'श्रवस्' की समानार्थता बतलायी है—'उप प्रयोभिरागतम्' इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना 'प्रयः'

---

१. Dr. Ganganatha jha Commemoration Volume, pp. 399-401.

इत्यन्ननामोच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रवः' इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये 'श्रवः' इत्यन्ननामेति स्पष्टमुच्यते ।

स्कन्दस्वामी गुजरात की प्रसिद्ध राजधानी वलभी के निवासी थे । इनके शिष्य हरिस्वामी ने अपना शतपथ भाष्य ६३८ ई०(कलिसम्वत् ३७४०) में लिखा था अतः स्कन्दस्वामी का समय कुछ पूर्व ७वीं शताब्दी के प्रथम चरण में मानना ठीक है । सम्भवतः ये हर्षवर्धन के समकालीन थे ।

(ख.) देवराज-यज्वा (१२०० ई०)—निघण्टु की व्याख्याओं में एकमात्र इनकी व्याख्या ही उपलब्ध है । इन्होंने निघण्टु के पदों को व्याकरण की कसौटी पर कसकर रखा है जिसके लिए इन्होंने पाणिनि और भोज के व्याकरणों से सहायता ली है । सभी शब्दों को सिद्ध कर दिया गया है । पदों की व्याख्या में इन्होंने स्थान-स्थान पर आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है जिससे इनके काल-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है । इन्होंने अपनी व्याख्या के आरम्भ में एक छोटी-सी भूमिका भी दी है जिसमें अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उनके नाम भी लिये हैं । निघण्टु के पाठ के संशोधन पर भी इन्होंने काफी प्रयत्न किया है क्योंकि ये लिखते हैं कि वेङ्कटार्य के पुत्र माधव के ऋग्वेद-भाष्य[1] को विविध-अनुक्रमणियों से मिलाकर, बहुत तरह के कोशों को देखकर निघण्टु का पाठ-संशाधन किया है । यह इनकी वैज्ञानिकता का सूचक है ।

भूमिका में एक स्थान पर ही इन्होंने निम्नलिखित, पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है—(१) स्कन्दस्वामी की निरुक्त-टीका, (२) वेदभाष्य—स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी, (३) पाणिनि-व्याकरण, (४) उणादि-वृत्ति, (५) निघण्टु-व्याख्यायें—क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्य (६) भोजराज का व्याकरण (७) कमल-नयन का निखिल-पद-संस्कार ।[2]

इस सूची में दुर्गाचार्य जैसे विख्यात टीकाकार का नाम न होना सूचित करता है कि देवराज दुर्गाचार्य से पूर्ववर्ती हैं । ये भोज का नाम कई बार लेते हैं तथा व्याकरण की एक 'देव'—नामक पुस्तक का भी बहुधा उल्लेख करते हैं । इन्होंने किसी धातु-वृत्ति (सायण-माधव की नहीं) के भी उद्धरण जहाँ-तहाँ दिये हैं । हरदत्त (११०० ई०)[3] की पदमञ्जरी (काशिका की व्याख्या) का उद्धरण इन्होंने 'एतग्वा' (अश्वनाम)-शब्द की व्याख्या में दिया

---

१. डा० लक्ष्मण सरूप-सम्पादित (ऋगर्थदीपिका) भाष्य, भाग—१–४; अन्य भाग भारत के विभाजन-काल में नष्ट हो गये ।

२. निघण्टुटीका (गुरुमण्डल ग्रन्थमाला), पृ० ४ ।

३. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar.

हैं।[1] ये भरतस्वामी के वेदभाष्य का उल्लेख करते हैं और सायण ने अपने वेदभाष्य में स्वयं ही देवराज का उल्लेख किया है। सायण का समय चूँकि १४ वीं शती है इसलिए इनके कुछ पहले प्राय: १२०० ई० में अवश्य वर्तमान रहे होंगे।

(ग) दुर्गाचार्य (१३००—५०)—निरुक्त का तात्पर्य समझने में ये सबसे अधिक सहायक हैं। उसकी विस्तृत व्याख्या में इन्होंने अपने पाण्डित्य का पूरा प्रकर्ष दिखलाया है। स्थान-स्थान पर दार्शनिक-विवेचना में भी इनकी अद्‌भुत गति देखने में आती है। इस टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने निरुक्त के प्राय: सभी शब्दों को अपनी व्याख्या में उद्धृत किया है इससे निरुक्त का पाठ ठीक करने में इनसे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि सामान्यतया बहुत सरल है किन्तु दार्शनिक विवेचना के स्थान पर आदर्श दार्शनिक भाषा का प्रयोग करना भी ये जानते हैं। इनकी वृत्ति अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। उन वैदिक-मन्त्रों को, जिन्हें निरुक्त में अंशत: उद्धृत किया गया है, ये अपनी टीका में पूर्णत: उद्धृत करके समूचे की व्याख्या करते हैं। दुर्गाचार्य ने केवल १२ अध्यायों पर ही व्याख्या लिखी थी क्योंकि पुरानी पाण्डुलिपियों में इतना ही अंश मिलता है। परिशिष्ट की व्याख्या किसी ने बाद में जोड़ दी है।

दुर्गाचार्य की वृत्ति की पुष्पिका (Colophon) में लिखा मिलता है—"ऋज्वर्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिन: आचार्यभगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ"—जिससे सभी विद्वानों ने सिद्ध किया है कि काश्मीर के जम्मू-प्रदेश के निवासी तथा सन्यासी थे। इनका गोत्र वासिष्ठ था तथा ये कापिष्ठल-संहिता के अध्येता थे क्योंकि निरुक्त (४।१४) में स्थित ऋग्वेद (३।५३।२३) की ऋचा की व्याख्या ये नहीं करते और कहते हैं—"यस्मिन्निगमे एष शब्द: (= 'लोधम्') सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठ:। अतस्तां न निर्ब्रवीमि।"[2] अर्थात् मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूँ, जिस ऋचा में 'लोध'—शब्द है वह वसिष्ठ की निन्दा करने वाली है इसलिए उसकी व्याख्या नहीं करता हूँ। सायणाचार्य ने उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या में निम्नलिखित टिप्पणी दी है—"पुरा खलु विश्वामित्रशिष्य: सुदा: नाम राजर्षिरासीत्। स च केनचित्कारणेन वसिष्ठद्वेष्योऽभून। विश्वामित्रस्तु शिष्यस्य रक्षार्थमाभिर्ऋग्भि: वसिष्ठमशपत्। ता ऋचो वसिष्ठा न शृण्वन्ति।" अर्थात् पूर्वकाल में विश्वामित्र के शिष्य सुदास नाम के राजर्षि थे। किसी कारण से वसिष्ठ उनके द्वेषपात्र हो गये। विश्वामित्र ने शिष्य की रक्षा के लिए इन ऋचाओं से वसिष्ठ को शाप दिया। इन ऋचाओं को वसिष्ठ के गोत्र वाले नहीं सुनते।

इनकी ऋज्वर्थवृत्ति की सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि १३८७ ई० की मिली है तथा

---

१. निघण्टुटीका (गु० मं० ग्र०), पृष्ठ—१६३, 'विशाखाषाढशब्दो०'

२. भदकमकर-सम्पादित निरुक्तवृत्ति, पृ० ३८१।

यह बोड्ले (ऑक्सफोर्ड) पुस्तकालय में सुरक्षित है। कीथ ने इस तिथि को सत्य माना है। यह पाण्डुलिपि भृगुक्षेत्र (बम्बई-राज्य)[१] में लिखी गयी थी। इस आधार पर डा० सरूप ने अनुमान किया है कि पाण्डुलिपि को जम्मू से बम्बई जाने में ५० वर्ष तो अवश्य ही लगे होंगे, अतएव दुर्गाचार्य का समय १४वीं शती का आरम्भ मानना चाहिए। या तो ये देवराज के समकालीन थे या कुछ बाद में हुए होंगे।[२]

ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार उद्गीथ (जिन्होंने स्कन्दभाष्य को आगे बढ़ाया था, जैसा कि वेंकटमाधव का कथन है।) दुर्गाचार्य की कृति से परिचित मालूम पड़ते हैं, इस आधार पर कुछ लोग दुर्ग को सातवीं शताब्दी का मानते हैं किन्तु इस युक्ति में कोई बल नहीं है। यह सम्भव है कि १३ वीं शताब्दी के हों किन्तु उतना पूर्व ले जाना अनुचित है। पं० भगवद्दत्त ने दुर्गाचार्य को गुजरात का निवासी माना है।

(घ) महेश्वर (१५०० ई०)—इन्होंने भी निरुक्त पर टीका लिखी है जो खण्डशः प्राप्त हुई है। स्कन्द और महेश्वर की टीकाओं को पाण्डुलिपियों से सुधार कर डा० सरूप ने तीन भागों में प्रकाशित कराया है। महेश्वर ने निरुक्त के टीकाकार के रूप में किसी बर्बरस्वामी का उल्लेख किया है जो स्कन्दस्वामी को छोड़कर कोई दूसरे नहीं। दुर्गाचार्य का उल्लेख ये पूर्वटीकाकार के रूप में करते हैं। दुर्ग को पूर्वत्व-प्राप्ति के लिए १५० वर्ष का अवकाश देना पर्याप्त है। इस आधार पर इनका आविर्भावकाल १५०० ई० के आसपास होना चाहिए।

इनके अलावे निघण्टु और निरुक्त के अन्य अनेक टीकाकारों के उल्लेख भर मिलते हैं, उनके कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है संसार के अज्ञात कोने में वे टीकायें मिल जायें जिनसे शोधकर्ता विद्वानों का उपकार हो।

(ङ) आधुनिक-विद्वानों के कार्य (१८००—१९६०)—यूरोप में संस्कृत का प्रचार होने से तथा भाषा-विज्ञान का व्यापक अध्ययन किये जाने से निरुक्त की उपयोगिता समझी गयी। सबसे पहले राँथ ने जर्मन-भाषा में निरुक्त की भूमिका और अनुवाद प्रकाशित किया। भाषा-विज्ञान से तात्कालिक-अध्ययन का इस भूमिका में पूरा उपयोग किया गया है तथा अनुवाद अत्यधिक परिश्रम से किया होने से राँथ की योग्यता के अनुकूल है। राँथ की जर्मन-भूमिका का अंग्रेजी-अनुवाद प्रो० मैकीशान ने किया जो बम्बई विश्वविद्यालय से १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ था।[३] विगत-शती के अन्तिम चरणों में बंगाल के प्रसिद्ध वैदिक-

---

१. आधुनिक भड़ौंच, पेरिप्लस् नामक रोमन-पुस्तक में इसे बेरिगाजा (Barygaza) कहा है।

२. देखिये—Dr. L. Sarup, The Nigh. and the Nir., pp. 25–32.

3. R. N. Dandekar, Vedic Bibliography, p. 60.

विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अत्यन्त परिश्रम करके निरुक्त के सुन्दर संस्करण निकाले थे। इनका 'निरुक्तालोचन' भी प्रतिभा का परिचायक है।

वर्तमानशती में निरुक्त के अध्येताओं में डा० लक्ष्मण-सरूप का नाम अमर रहेगा। इन्होंने १९१६ ई० से १९२० ई० तक ऑक्सफोर्ड में रहकर प्रो० मैकडोनल के अधीन निरुक्त-विषयक गवेषणा की जिस पर इन्हें डी० फिल्० की उपाधि मिली। यही नहीं, उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश निरुक्त में लगा दिया। सन् १९२० ई० में ऑक्सफोर्ड से ही उनकी निरुक्तभूमिका (An Introduction to Nirukta) निकला जिसमें निघण्टु और निरुक्त के कर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यास्क का काल और भाषाविज्ञान में उनका स्थान निर्धारित किया था। १९२१ में लन्दन से निरुक्त का अंग्रेजी अनुवाद इन्होंने विशिष्ट टिप्पणियों के साथ प्रकाशित कराया। यद्यपि इस अनुवाद में कितने ही विवादास्पद-स्थल हैं कि किन्तु यह अपने ढंग का अनूठा ही है। पुनः १९२७ ई० में पञ्जाव विश्वविद्यालय से उहोंने अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर निघण्टु और निरुक्त का पाठ ठीक कर प्रकाशित कराया। यह संस्करण इनके अद्भुत परिश्रम का परिचायक है। दो वर्षों के बाद ही निरुक्त की सूचियाँ और परिशिष्ट प्रकाशित हुए। इसके बाद तीन भागों में इन्होंने पञ्जाब-विश्वविद्यालय से ही स्कन्दस्वामी और महेश्वर की टीकायें प्रकाशित कराईं (१९२८, ३१, ३४)। अपने छिटपुट लेखों के द्वारा भी इन्होंने निरुक्त की काफी सेवा की है।[1]

उधर जर्मनी में स्कोल्ड ने निरुक्त का अध्ययन आरम्भ किया तथा अपना प्रवन्ध (Thesis) लुण्ड (Lund) से १९२६ ई० में प्रकाशित कराया। इसमें इन्होंने निरुक्त के पाठ संशोधन पर सुझाव, कुछ ऐतिहासिक प्रश्न, निरुक्त के वैदिक-उद्धरण आदि की विवेचना के बाद यास्क के निर्वचनों की वर्णानुक्रम से सूची बना दी है।

पूना के प्रो० राजवाड़े ने भी निरुक्त पर अच्छा काम किया है। सन् १९३५ ई० में सम्पूर्ण निरुक्त का मराठी अनुवाद प्रकाशित करने के बाद निरुक्त का प्रथम भाग (तथाकथित) सन् १९४० ई० में पूना से प्रकाशित कराया। इसमें निरुक्त की सामान्य-भूमिका, निघण्टु तथा निरुक्त (१४ अध्याय) का मूल, अंग्रेजी में तीन अध्यायों पर विस्तृत आलोचनात्मक टीका, पचीस सूचियाँ आदि हैं। वस्तुतः एक ही पुस्तक में इतनी वस्तुयें कहीं नहीं मिल सकतीं इसलिए प्रो० राजवाड़े का संस्करण अनुसन्धान करने वाले विद्वानों के लिए बहुत उपयोगी है।

होशियारपुर से डा० सिद्धेश्वर वर्मा का ग्रन्थ 'यास्क के निर्वचन' (Etymologies of Yaska) प्रकाशित हुआ है जिसमें विश्लेषणात्मक विधि से यास्क के निर्वचनों की परीक्षा की गई है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा गया है तथा यास्क का महत्त्व बहुत ऊँचा कर देता है। विद्वानों में

---

१. Dr. L. Sarup, Commemoration Volume, (Sarupa Bharati).

इस ग्रन्थ का मूल्य बहुत अधिक है। इधर हाल में श्रीविष्णुपद भट्टाचार्य का भी एक ग्रन्थ निरुक्त पर निकला है।[१]

निरुक्त के विभिन्न संस्करणों में दुर्गाचार्य की टीकायें प्रकाशित हुई हैं जिनमें वेङ्कटेश्वर प्रेस और बम्बई-संस्कृत-प्राकृत-पुस्तकमाला के संस्करण अच्छे हैं। दुर्गाचार्य की टीका के आधार पर ही पं० मुकुन्द झा बख्शी ने भी संस्कृत-टीका लिखी है जो निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित है। हिन्दी में दुर्गाचार्य के आधार पर पं० सीताराम शास्त्री ने अपना विशाल-भाष्य छपाया है। मिहिरचन्द्र पुष्करणा ने भी निरुक्त की अच्छी टीका की है। इधर आर्यसमाजी विद्वानों में पं० ब्रह्ममुनि-स्वामी का 'निरुक्त-सम्मर्श' बहुत सुन्दर व्याख्या के रूप में प्रकाशित हुआ है। इसमें स्वतन्त्र संस्कृत व्याख्या है तथा निरुक्तियों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार भारतीय प्रकाशकों और विद्वानों ने क्रमशः उत्तम प्रकाशनों और रचनाओं द्वारा निरुक्त के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है।



१. Yaska's Nirukta and the Science of Etymology (An Historical and Critical Survey) by Vishnupada Bhattacharya.

दशम परिच्छेद

प्रस्तुत प्रयास

[अंग्रेजी और संस्कृत टीकायें—हिन्दी-भाष्य—उसकी अनुपयोगिता—संक्षिप्त संस्करण की आवश्यकता—अनुवाद-कार्य —कठिनाइयाँ—मूलपाठ—धन्यवाद-ज्ञापन—क्षमा-याचना ।]

अभी तक निरुक्त के बीसों संस्करण विभिन्न स्थानों से निकल चुके हैं किन्तु वे सभी लोगों के लिए समान-रूप से लाभदायक नहीं । दुर्गाचार्य और मुकुन्द झा की टीकायें (जो इस समय सुलभ हैं) संस्कृत में होने के कारण उनका उपयोग केवल संस्कृतज्ञ लोग ही कर सकते हैं । डा० लक्ष्मणसरूप का अनुवाद और मूल-संस्करण अवश्य उपयोगी है किन्तु आज दुर्लभ हो गया है । फिर केवल अंग्रेजी जानने वालों के लिए ही वह उपयोगी है । प्रो० राजवाड़े की अंग्रेजी-टीका इतनी विस्तृत है कि उसमें से तथ्य निकालना धैर्य का काम होगा, वस्तुतः उसमें निष्कर्ष कम निकाला गया है, विवेचना अधिक की गई है । अनुसन्धान-प्रिय व्यक्तियों के लिए तो ये ग्रन्थ अत्यन्त उपयुक्त हैं किन्तु सामान्य पाठकों के लिए नहीं ।

हिन्दी में आचार्य सीताराम शास्त्री का भाष्य निकला है जो अपनी विशालता के साथ-साथ विषय-वस्तु की दृष्टि से भी काफी समृद्ध है । यह विशालता प्रो० राजवाड़े के निरुक्त—जैसी नहीं । राजवाड़े नें तो अपनी आलोचनात्मक-दृष्टि का पूर्ण-परिचय दिया है जिससे उनकी पंक्ति-पंक्ति में अनुसंधान चलता रहता है—पूरी टीका में ये स्वयं खड़े हैं मानों पढ़ाते जाते जा रहे हों । दूसरी ओर शास्त्री जी ने दुर्गाचार्य का अक्षरशः अनुगमन तो किया है ही, भारतीय-पण्डितों में सहज प्राप्य विषयान्तर में जाने की प्रवृत्ति भी इनमें खूब है; आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो इनसे छू भी नहीं गया है । कतिपय रूढ़ियाँ खटकती ही हैं, भाषा की शुद्धि पर भी ध्यान नहीं दिया गया है । एम्० ए० में पढ़ने के समय तथा कुछ छात्रों को पढ़ाने के समय मैंने इसका भी विधिवत् अध्ययन किया था, किन्तु जब बहुत-सी व्यर्थ की बातें आने लगीं तो परेशान हो उठा । प्रस्तुत कार्य-सम्पादन का विचार उसी समय सूत्ररूप में पड़ गया था । यह टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण है किन्तु उचित संयम का इसमें अभाव है ।

आज निरुक्त का पर्याप्त अध्ययन हो रहा है । सामान्य पाठकों में भी यह प्रवृत्ति देखने में आ रही है कि जरा देखें तो, निरुक्त में क्या है ? कैसे लोग इसे भाषा-विज्ञान का प्रथम ग्रन्थ मानते हैं ? हिन्दी-भाषा में कोई ऐसा संस्करण नहीं जो पाठकों की इस जिज्ञासा को शान्त करे । कई विश्वविद्यालयों में भी यह

पाठ्य-ग्रन्थ है और अनुवाद या व्याख्या के प्रश्न आते हैं। आज के वैज्ञानिक-युग में लोगों को इतना समय कहाँ कि धैर्यपूर्वक एक विस्तृत टीका पढ़ें और छः महीने के बाद एक पंक्ति का निष्कर्ष निकाल सकें। यद्यपि यह कहना ठीक है कि "सत्य छोटा ही होता है परन्तु इसे पाने की विधि बड़ी लम्बी होती है"[1] फिर भी संयत-भाषा में विषय को समझा देना आज की माँग है। इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने प्रस्तुत-कार्य में हाथ लगाया।

दिसम्बर, १९५८ में मैंने निरुक्त का अनुवाद आरम्भ किया तथा दूसरे ही महीने में प्रथम, द्वितीय और सप्तम अध्याय का अनुवाद पूरा हो गया। कुछ दिनों तक वह यों ही पड़ा रहा। समय निकालकर उसे परिष्कृत किया तथा केवल अनुवाद को ही मूल वैदिक-मन्त्रों के साथ प्रकाशित करने की इच्छा की। अतः मैंने मई महीने (१९५९) में चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के अध्यक्ष श्रीकृष्णदास जी गुप्त से भेंट की जिन्होंने परामर्श दिया कि इसमें मूल भी दिया जाय तो अच्छा रहे। पटने आकर विविध कार्यों में व्यस्त हो जाने से यह काम महीनों बन्द रहा। दुर्गापूजा के अवकाश में समय निकालकर मैंने मूल, अनुवाद (परिष्कार के साथ) और स्थान-स्थान पर विशिष्ट व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ देकर पाण्डुलिपि तैयार कर दी।

अनुवादक का काम बड़ा कठिन है, जिसे भुक्तभोगी ही समझ सकता है। वेदाङ्गों का शाब्दिक-अनुवाद करना तो और भी दुष्कर है। उस पर भी निरुक्त में पाठ-भेद के कारण तथा वाक्यों के अपूर्ण होने के कारण व्याख्याओं में ही विभेद है, अनुवादक को पद-पद पर टक्कर खाना पड़ता है। प्रस्तुत अनुवाद में अत्यधिक कोष्ठों का प्रयोग इसे भली-भाँति सिद्ध करेगा। इसमें पारिभाषिक शब्द ज्यों-के-त्यों रखने की यथासम्भव चेष्टा की गयी है, कहीं-कहीं छोटे कोष्ठों में उनके अर्थ भी दिये गये हैं। विवादास्पद-स्थल पर टिप्पणियाँ हैं नहीं तो केवल अनुवाद ही दिया गया है। मेरा नाम भी उन्हीं टीकाकारों की श्रेणी में रखना चाहिये जो दुरूह स्थानों की टीका में 'स्पष्टमेतत्' कहकर पार कर जाते हैं और सभी लोगों के समझने लायक स्थान में अपने पाण्डित्य का पूरा प्रकर्ष दिखलाने लगते हैं।

अस्तु, अनुवाद को शाब्दिक (literal) बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। इसलिए जो बातें मूल में नहीं उन्हें देने के लिए (यदि अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा हो तभी) बड़े कोष्ठों का प्रयोग हुआ है, भाव समझाने के लिए या शब्दों का अर्थ देने के लिए छोटे कोष्ठ ही प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक-मन्त्रों के अनुवाद में बड़ी सावधानी से काम लिया गया है। पहले तो मैंने उनका पद्यानुवाद किया था जिन्हें परिशिष्ट में दिया गया है परन्तु बाद में छात्रों की उपयोगिता का

१. Truth is always very little but the process to attain it is ever long enough.

ध्यान रखकर ऋचाओं का अन्वय करके मूल-शब्द को कोष्ठ में रखते हुए हिन्दी-अनुवाद अलग-अलग शब्दों का दिया गया है। आशा है, इससे विशेष सुविधा रहेगी। प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग भी हो गया और पूरे मन्त्र का शाब्दिक-अनुवाद भी। कुछ स्थानों को छोड़कर मैंने दुर्ग की व्याख्या का ही अवलम्बन किया है। मन्त्रों के अनुवाद में कहीं-कहीं विदेशी-विद्वानों का भी आश्रय लिया गया है जिसे उचित समझकर भारतीयता-प्रेमी पण्डित लोग कृपया मुझे क्षमा करेंगे।

निरुक्त के दो प्रकार के विभाजन हैं—महाराष्ट्र-संस्करण और गुर्जर-संस्करण। पहले में अध्याय को सीधे परिच्छेदों में ही बाँट दिया गया है किन्तु गुर्जर-संस्करण में अध्याय पहले पादों में बँटे हैं तब परिच्छेदों में। दोनों संस्करणों के परिच्छेद आगे-पीछे होते ही रहते हैं। मैंने गुर्जर-पाठ से पाद-क्रम और महाराष्ट्र-पाठ से परिच्छेद-क्रम लिया है। आधुनिक-उद्धरणों में महाराष्ट्र-पाठ का ही आश्रय लिया जाता है। प्रस्तुत-संस्करण में दोनों की उपयोगिता समझी जा सकती है। निरुक्त का पाठ मैंने प्रो० राजवाड़े के अनुसार रखा है, यथासम्भव अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न विराम-चिह्नों का भी प्रयोग किया गया है। मूल के सन्धियुक्त पदों को यथासाध्य तोड़ने की चेष्टा रही है किन्तु इतना ही कि 'संहितैकपदे नित्या०'[1] का उल्लंघन न हो।

ग्रन्थ-रचना के मूल-प्रेरक श्री महताब अली एम० ए० को धन्यवाद देना मेरा प्रथम कर्तव्य है। इन्होंने अपनी एम० ए० परीक्षा (संस्कृत) के लिए मुझसे वेद और व्याकरण पढ़ते समय सदा प्रेरित किया है। इसके बाद अपनी शिष्या दीपाली मल्लिक (षष्ठवर्ष संस्कृत, पटना विश्वविद्यालय) का भी मैं पूरा कृतज्ञ हूँ जिसने निरुक्त का अपना पूरा पाठ्यांश मुझसे पढ़कर मुझे अधिकाधिक अध्ययन करने का अवसर दिया। अनुवाद के बाद भी 'आपका निरुक्त कब छप रहा है?' इत्यादि वाक्यों से उसने बहुत उत्साहित किया है जिससे यह कार्य इतना शीघ्र हो सका। यद्यपि वह धनबाद की ही है परन्तु उसे पुनः धन्यवाद देना मेरा अपना कर्तव्य है। अपने असूयकों का भी मैं कम कृतज्ञ नहीं हूँ जिन्होंने निन्दा और कटु आलोचना द्वारा अपनी तो हानि की किन्तु मेरा उत्साह द्विगुणित कर दिया।

अपने पूज्य-गुरु स्वर्गीय डा० तारापद चौधरी, एम्० ए०, पी-एच० डी० (लन्दन) का किन शब्दों में स्मरण करूँ? यदि वे इसे प्रकाशित देखते! निरुक्त के पूर्वाचार्य तो ग्रन्थ के सर्वस्य हैं ही, सब कुछ तो उन्हीं का है, मैंने केवल सजा दिया। नव-नालन्दा-महाविहार के पुस्तकालय-कर्मचारियों का भी मैं अभारी हूँ जिन्होंने उपयुक्त पुस्तकें देकर भूमिका और परिशिष्ट को संवारने

१. पूरा श्लोक यों है—संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

में काफी सहयोग दिया है। अपने पूज्य भाई पं० मुरली मनोहर शर्मा का भी मैं उनकी विविध सहायताओं के लिए कृतज्ञ हूँ।

मनुष्य त्रुटियों का भाण्डार है। कितनी सावधानी रखने पर भी इस पुस्तक में भी हजारों त्रुटियाँ होंगी। मैं सभी विद्याप्रेमियों से करबद्ध-प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी इस तुच्छ-कृति को एक बार आलोचनात्मक-दृष्टि से देखकर गलतियों की सूचना अवश्य दें। वस्तुतः, इसमें जो भी गुण हैं, पूर्वाचार्यों के हैं। हाँ, भूलें सब मेरी ही हैं। यदि मेरी इस प्रथम कृति से पाठकों में अधिक जानने की रुचि जागृत हुई और कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा तथा शीघ्र ही अन्य अध्यायों को खण्डशः प्रकाशित कराऊँगा।

अन्त में मैं कालिदास की कमनीय कविता से अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति॥

निघण्टु-पाठः

[निरुक्त के द्वितीय-अध्याय के द्वितीय-पाद से निघण्टु के शब्दों की व्याख्या हुई है, अतः पाठकों की सुविधा के लिए मूल निघण्टु-पाठ दिया जा रहा है। बीच में इनसे निरुक्त के सम्बन्ध को समझाया जायगा। प्रत्येक नाम की व्युत्पत्ति देवराज यज्वा ने की है।]

प्रथमोऽध्यायः[1]

ॐ गौः। ग्मा। ज्मा। क्ष्मा। क्षा। क्षमा। क्षोणी। क्षितिः। अवनिः। उर्वी। पृथ्वी। मही। रिपः। अदितिः। इळा। निर्ऋतिः। भूः। भूमिः। पूषा। गातुः। गोत्रा। इत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

हेम। चन्द्रम्। रुक्मम्। अयः। हिरण्यम्। पेशः। कृशनम्। लोहम्। कनकम्। काञ्चनम्। भर्म। अमृतम्। मरुत्। दत्रम्। जातरूपम्। इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

अम्बरम्। वियत्। व्योम्। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। अध्वरम्। इति षोळशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्वः। पृश्निः। नाकः। गौः। विष्टप्। नभः। इति षट्साधारणानि ॥ ४ ॥

खेदयः। किरणाः। गावः। रश्मयः। अभीशवः। दीधितयः। गभस्तयः। वनम्। उस्राः। वसवः। मरीचिपाः। मयूखाः। सप्त ऋषयः। साध्याः। सुपर्णाः। इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आताः। आशाः। उपराः। आष्ठाः। काष्ठाः। व्योम। ककुभः। हरितः। इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

श्यावी। क्षपा। शर्वरी। अक्तुः। ऊर्म्या। राम्या। यम्या। नम्या। दोषा। नक्ताः। तमः। रजः। असिक्नी। पयस्वती। तमस्वती। घृताची। शिरिणा। मोकी। शोकी। ऊधः। पयः। हिमा। वस्वी। इति त्रयोविंशतिः रात्रिनामानि ॥ ७ ॥

विभावरी। सूनरी। भास्वती। ओदती। चित्रामघा। अर्जुनी। वाजिनी। वाजिनीवती। सुम्नावरी। अहना। द्योतना। श्वेत्या। अरुषी। सूनृता। सूनृतावती। सूनृतावरी। इति षोळश उषोनामानि ॥ ८ ॥

---

१. प्रथमाध्यायान्तर्गतानि पदानि तु निरुक्तस्य द्वितीयाध्याय एव नामग्राहं वर्गमुल्लिख्य व्याख्यातानीति सुधीभिरवधेयम्।

वस्तोः । द्युः । भानुः । वासरम् । स्वसराणि घ्रंसः । घर्मः । घृणः । दिनम् । दिवा । दिवेदिवे । द्यविद्यवि । इति द्वादश अहर्नामानि ॥ ९ ॥

अद्रिः । ग्रावा । गोत्रः । वलः । अश्नः । पुरुभोजाः । वलिशानः । अश्मा । पर्वतः । गिरिः । व्रजः । चरुः । वराहः । शम्बरः । रौहिणः । रैवतः । फलिगः । उपरः । उपलः । चमसः । अहिः । अभ्रम् । बलाहकः । मेघः । दृतिः । ओदनः । वृषन्धिः । वृत्रः । असुरः । कोशः । इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

श्लोकः । धारा । इळा । गौः । गौरी । गान्धर्वी । गभीरा । गम्भीरा । मन्द्रा । मन्द्रजनी । वाशी । वाणी । वाणीची । वाणः । पविः । भारती । धमनिः । नाळीः । मेळिः । मेना । सूर्या । सरस्वती । निवित् । स्वाहा । वग्नुः । उपब्दिः । मायुः । काकुत् । जिह्वा । घोषः । स्वरः । शब्दः । स्वनः । ऋक् । होत्रा । गीः । गाथा । गणः । धेना । ग्नाः । विपा । नना । कशा । धिषणा । नौः । अक्षरम् । मही । अदितिः । शची । वाक् । अनुष्टुप् । धेनुः । वल्गुः । गल्दा । सरः । सुपर्णी । बेकुरा । इति सप्तपञ्चाशत् वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

अर्णः । क्षोदः । क्षद्म । नभः । अम्भः । कबन्धम् । सलिलम् । वाः । वनम् । घृतम् । मधु । पुरीषम् । पिप्पलम् । क्षीरम् । विषम् । रेतः । कशः । जन्म । वृबूकम् । वुसम् । तुग्र्या । बुर्बुरम् । सुक्षेम । धरुणम् । सुराः । अररिन्दानि । ध्वस्मन्वत् । जामि । आयुधानि । क्षपः । अहिः । अक्षरम् । स्रोतः । तृप्तिः । रसः । उदकम् । पयः । सरः । भेषजम् । सहः । शवः । यहः । ओजः । सुखम् । क्षत्रम् । आवयाः । शुभम् । यादुः । भूतम् । भुवनम् । भविष्यत् । आपः । महत् । व्योम । यशः । महः । सर्णीकम् । स्वृतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गम्भरम् । ईम् । अन्नम् । हविः । सद्म । सदनम् । ऋतम् । योनिः । ऋतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । रयिः । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । अक्षितम् । बर्हिः । नाम । सर्पिः । अपः । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दुः । हेम । स्वः । सर्गाः । शम्बरम् । अभ्वम् । वपुः । अम्बु । तोयम् । तूयम् । कृपीटम् । शुक्रम् । तेजः । स्वधा । वारि । जलम् । जलाषम् । इदम् । इत्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

अवनयः । यव्याः । खाः । सीराः । स्रोत्याः । एन्यः । धुनयः । रुजानाः । वक्षणाः । खादोअर्णाः । रोधचक्राः । हरितः । सरितः । अग्रुवः । नभन्वः । वभ्वः । हिरण्यवर्णाः । रोहितः । सस्रुतः । अर्णाः । सिन्धवः । कुल्याः । वर्यः । उर्व्यः । इरावत्यः । पार्वत्यः । स्रवन्त्यः । ऊर्जस्वत्यः । पयस्वत्यः । तरस्वत्यः । सरस्वत्यः । हरस्वत्यः । रोधस्वत्यः । भास्वत्यः । अजिराः । मातरः । नद्यः । इति सप्तत्रिंशत् नदीनामानि ॥ १३ ॥

अत्यः । हयः । अर्वा । वाजी । सप्तिः । वह्निः । दधिक्राः । दधिक्रावा । एतग्वः । एतशः । पैद्वः । दौर्गहः । औच्चैःश्रवसः । तार्क्ष्यः । आशुः । ब्रध्नः । अरुषः । मांश्चत्वः । अव्यथयः । श्येनासः । सुपर्णाः । पतङ्गाः । नरः । ह्वार्याणाम् । हंसासः । अश्वाः । इति षड्विंशतिः अश्वनामानि ॥ १४ ॥

हरी इन्द्रस्य । रोहितोऽग्नेः । हरितः आदित्यस्य । रासभावश्विनोः । अजाः पूष्णः । पृषत्यः मरुताम् । अरुण्यो गावः उषसाम् । श्यावाः सवितुः । विश्वरूपा बृहस्पतेः । नियुतः वायोः । इति दश आदिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

भ्राजते । भ्राशते । भ्राश्यति । दीदयति । शोचति । मन्दते । भन्दते । रोचते । ज्योतते । द्योतते । द्युमत् । इति एकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

जमत् । कल्मलीकिनम् । जञ्जणाभवन् । मल्मलाभवन् । अर्चिः । शोचिः । तपः । तेजः । हरः । हृणिः । शृङ्गाणि २ । इति एकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

पूर्णसंख्या ४१४



द्वितीयोऽध्यायः[1]

अपः । अप्नः । दंसः । वेषः । वेपः । विष्ट्वी । व्रतम् । कर्वरम् । करुणम् । शक्म । क्रतुः । करणानि । करांसि । करिक्रत् । करन्ती । चक्रत् । कर्त्वम् । कर्त्तोः । कर्तवै । कृत्वी । धीः । शची । शमी । शिमी । शक्तिः । शिल्पम् । इति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥ १ ॥

तुक् । तोकम् । तनयः । तोक्म । तक्म । शेषः । अप्नः । गयः । जाः । अपत्यम् । यहुः । सूनुः । नपात् । प्रजा । बीजम् । इति पञ्चदश अपत्यनामानि ॥ २ ॥

मनुष्याः । नरः । धवाः । जन्तवः । विशः । क्षितयः । कृष्टयः । चर्षणयः । नहुषः । हरयः । मर्याः । मर्त्याः । मर्ताः । व्राताः । तुर्वशाः । द्रुह्यवः । आयवः । यदवः । अनवः । पूरवः । जगतः । तस्थुषः । पञ्चजनाः । विवस्वन्तः । पृतनाः । इति पंचविंशतिः मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

आयती । च्यवाना । अभीशू । अप्नवाना । विनङ्गृसौ । गभस्ती । करस्नौ । बाहू । भुरिजौ । क्षिपस्ती । शक्वरी । भरित्रे । इति द्वादश बाहुनामानि ॥ ४ ॥

अग्रुवः । अण्व्यः । क्षिपः । विशः । शर्याः । रशनाः । धीतयः । अथर्यः । विपः । कक्ष्याः । अवनयः । हरितः । स्वसारः । जामयः । सनाभयः । योक्त्राणि । योजनानि । धुरः । शाखाः । अभीशवः । दीधितयः । गभस्तयः । इति द्वाविंशतिः अंगुलिनामानि ॥ ५ ॥

वश्मि । उश्मसि । वेति । वेनति । वेसति । वाञ्छति । वष्टि । वनोति । जुषते । हर्यति । आ चके । उशिक् । मन्यते । छन्त्सत् । चाकनत् । चकमानः । कनति । कानिषत् । इति अष्टादश कान्तिकर्माणः ॥ ६ ॥

अन्धः । वाजः । पयः । श्रवः । पृक्षः । पितुः । सुतः । सिनम् । अवः ।

---

१. द्वितीयाध्यायगतानि पदानि निरुक्ते तृतीयाध्यायस्य प्रथमद्वितीयपादयोरेव वर्णितानि ।

क्षु । धासिः । इरा । इळा । इषम् । ऊर्क् । रसः । स्वधा । अर्कः । क्षद्म । नेमः । ससम् । नमः । आयुः । सूनृता । ब्रह्म । वर्चः । कीलालम् । यशः । इति अष्टाविंशतिः अन्ननामानि ॥ ७ ॥

आ वयति । भर्वति । बभस्ति । वेति । वेवेष्टि । अविष्यन् । बप्सति । भसथः । बब्धाम् । ह्वरति । इति दश अत्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

ओजः । पाजः । शवः । तवः । तरः । त्वक्षः । शर्धः । बाधः । नृम्णम् । तविषी । शुष्मम् । शुष्णम् । दक्षः । वीळु । च्यौत्नम् । शूषम् । सहः । यहः । वधः । वर्गः । वृजनम् । वृक् । मज्मना । पौंस्यानि । धर्णसिः । द्रविणम् । स्यन्द्रासः । शम्बरम् । इति अष्टाविंशतिः बलनामानि ॥ ९ ॥

मघम् । रेक्णः । रिक्थम् । वेदः । वरिवः । श्वात्रम् । रत्नम् । रयिः । क्षत्रम् । भगः । मीळ्हुम् । गयः । द्युम्नम् । इन्द्रियम् । वसु । रायः । राधः । भोजनम् । तना । नृम्णम् । बन्धुः । मेधा । यशः । ब्रह्म । द्रविणम् । श्रवः । वृत्रम् । वृतम् । इति अष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या । उस्रा । उस्रिया । अही । मही । अदितिः । इळा । जगती । शक्वरी । इति नव गोनामानि ॥ ११ ॥

रेळते । हेळते । भामते । भृणीयते । भ्रीणाति । भ्रेषति । दोधति । वनुष्यति । कम्पते । भोजते । इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेळः । हरः । हृणिः । त्यजः । भामः । एहः । ह्वरः । तपुषी । जूर्णिः । मन्युः । व्यथिः । इति एकादश क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

वर्तते । अयते । लोटते । लोठते । स्यन्दते । कसति । सर्पति । स्यमति । स्रवति । स्रंसते । अवति । श्चोतति । ध्वंसति । वेनति । मार्ष्टि । भुरण्यति । शवति । कालयति । पेलयति । कण्टति । पिस्यति । विस्यति । मिस्यति । प्रवते । प्लवते । च्यवते । कवते । गवते । नवते । क्षीदति । नक्षति । सक्षति । म्यक्षति । सचति । ऋच्छति । तुरीयति । चतति । अतति । गाति । इयक्षति । सश्चति । त्सरति । रंहति । यतते । भ्रमति । ध्रजति । रजति । लजति । क्षियति । धमति । मिनाति । ऋण्वति । ऋणोति । स्वरति । सिसर्ति । वेविष्टि । योषिष्टि । रिणाति । रीयते । रेजति । दभ्यति । दभ्नोति । युध्यति । धन्वति । अरुषति । आर्यति । डीयते । तकति । दीयति । ईषति । फणाति । हनति । अर्दति । मर्दति । ससृते । नसते । हर्यति । इर्यति । ईर्ते । ईङ्खते । जयति । श्वात्रति । गन्ति । आ गनीगन्ति । जङ्गन्ति । जिन्वति । जसति । गमति । ध्रति । ध्राति । ध्रयति । वहते । रथर्यति । जेहते । ष्वः कति । क्षुम्पति । प्साति । वाति । याति । इषति । द्राति । द्रूळति । एजति । जमति । जवति । वञ्चति । अनिति । पवते । हन्ति । सेधति । अगन् । अजगन् । जिगाति । पतति । इन्वति । द्रमति । द्रवति । वेति । हयन्तात् । एति । जगायात् । अयुथुः । इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥

नु । मक्षु । द्रवत् । ओषम् । जीराः । जूर्णिः । शर्ताः । शूघनासः । शीभम् । तृषु । तूयम् । तूर्णिः । अजिरम् । भुरण्युः । शु । आशु । प्राशुः । तूतुजिः । तूतुजानः । तुज्यमानासः । अज्राः । साचीवित् । द्युगत् । ताजत् । तरणिः । वातरंहाः । इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

तळित् । आसात् । अम्बरम् । तुर्वशे । अस्तमीके । आके । उपाके । अर्वाके । अन्तमानाम् । अवमे । उपमः । इति एकादश अन्तिकनामानि ॥ १६ ॥

रणः । विवाक् । विखादः । नदनुः । भरे । आक्रन्दे । आहवे । आजौ । पृतनाज्यम् । अभीके । समीके । ममसत्यम् । नेमधिता । सङ्काः । समितिः । समनम् । मीळहे । पृतनाः । स्पृधः । मृधः । पृत्सु । समत्सु । समर्ये । समरणे । समोहे । समिथे । संखे । संगे । संयुगे । संगथे । संगमे । वृत्रतूर्ये । पृक्षे । आणौ । शूरसातौ । वाजसातौ । समनीके । खले । खजे । पौंस्ये । महाधने । वाजे । अज्म । सद्म । संयत् । सेवतः । इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि ॥ १७ ॥

इन्वति । नक्षति । आक्षाणः । आनट् । आष्ट । आपानः । अशत् । नशत् । आनशे । अश्नुते । इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

दभ्नोति । श्नथति । ध्वरति । धूर्वति । वृणक्ति । वृश्चति । क्रुणवति । कृन्तति । श्वसिति । नभते । अर्दयति । स्तृणाति । स्नेहयति । यातयति । स्फुरति । स्फुलति । निवपन्तु । अवतिरति । वियातः । आतिरत । तळित । आखण्डल । द्रूणाति । रम्णाति । श्रृणाति । शम्नाति । तृणेळिह । ताळिह । नितोशते । । निबर्हयति । मिनाति । मिनोति । धमति । इति त्रयस्त्रिंशत वधकर्माणः ॥ १९ ॥

दिद्युत । नेमिः । हेतिः । नमः । पविः । सृकः । वृकः । वधः । वज्रः । अर्कः । कुत्सः । कुलिशः । तुञ्जः । तिग्मः । मेनिः । स्वधितिः । सायकः । परशुः । इति अष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

इरज्यति । पत्यते । क्षयति । राजति । इति चत्वारि ऐश्वर्यनामानि ॥ २१ ॥

राष्ट्री । अर्यः । नियुत्वान् । इनः २ । इति चत्वारि ईश्वरनामानि ॥ २२ ॥

पूर्णसंख्या ५१६

—:०:—

तृतीयोऽध्यायः[१]

उरु । तुवि । पुरु । भूरि । शश्वत् । विश्वम् । परीणसा । व्यानशिः । शतम् । सहस्रम् । सलिलम् । कुवित् । इति द्वादश बहुनामानि ॥ १ ॥

ऋहन् । ह्रस्वः । निघृष्वः । मायुकः । प्रतिष्ठा । कृधु । वम्रकः । दभ्रम् । अर्भकः । क्षुल्लकः । अल्पः । इति एकादश । । ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

महत् । ब्रध्नः । ऋष्वः । वृहत् । उक्षितः । तवसः । तविषः । महिषः । अभ्वः । ऋभुक्षाः । उक्षा । विहायाः । यह्वः । ववक्षिथ । विवक्षसे । अम्भृणः । माहिनः । गभीरः । ककुहः । रभसः । व्राधन् । विरप्शी । अद्भुतम् । बंहिष्ठः । बर्हिषत् । इति पञ्चविंशतिः महन्नामानि ॥ ३ ॥

---

१. तृतीयाध्यायगतानि पदानि निरुक्ते तृतीयाध्यायेऽन्त्यपादयोर्व्याख्यातानि ।

गयः । कृदरः । गर्तः । हर्म्यम् । अस्तम् । पस्त्यम् । दुरोणे । नीळम् । दुर्याः । स्वसराणि । अमा । दमे । कृत्तिः । योनिः । सद्म । शरणम् । वरूथम् । छर्दिः । छदिः । छाया । शर्म । अज्म । इति द्वाविंशतिः गृहनामानि ।। ४ ।।

इरज्यति । विधेम । सपर्यति । नमस्यति । दुवस्यति । ऋध्नोति । ऋणद्धि । ऋच्छति । सपति । विवासति । इति दश परिचरणकर्माणः ।। ५ ।।

शिम्बाता । शतरा । शातपन्ता । शिल्गुः । स्यूमकम् । शेवृधम् । मयः । सुग्म्यम् । सुदिनम् । शूषम् । शुनम् । शग्मम् । भेषजम् । जलाषम् । स्योनम् । सुम्नम् । शेवम् । शिवम् । शम् । कम् । इति विंशतिः सुखनामानि ।। ६ ।।

निर्णिक् । वव्रिः । वर्पः । वपुः । अमतिः । अप्सः । प्सुः । अप्नः । पिष्टम् । पेशः । कृशनम् । मरुत् । अर्जुनम् । ताम्रम । अरुषम् । शिल्पम् । इति षोडश रूपनामानि ।। ७ ।।

अस्रेमा । अनेमा । अनेद्यः । अनवद्यः । अनभिशस्त्यः । उक्थ्यः । सुनीथः । पाकः । वामः । वयुनम् । इति दश प्रशस्यनामानि ।। ८ ।।

केतुः । केनः । चेतः । चित्तम् । क्रतुः । असुः । धीः । शची । माया । वयुनम् अभिख्या । इति एकादश प्रज्ञानामानि ।। ९ ।।

बट् । श्रत् । सत्रा । श्रद्धा । इत्था । ऋतम् । इति षट् सत्यनामानि ।। १० ।।

चिक्यत् । चाकनत् । आचक्ष्म । चष्टे । विचष्टे । विचर्षणिः । विश्वचर्षणिः । अवचाकशन् । इति अष्टौ पश्यतिकर्माणः ।। ११ ।।

हिकम् । नुकम् । सुकम् । आहिकम् । आकीम् । नकिः । मकिः । नकीम् । आकृतम् । इति नव उत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ।। १२ ।।

इदमिव । इदं यथा । अग्निर्न ये । चतुरश्चिद्ददमानात् । ब्राह्मणा व्रतचारिणः । वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । जार आ भगम् । मेषो भूतोऽभि यन्नयः । तद्रूपः । तद्वर्णः । तद्वत् । तथा । इति उपमाः ।। १३ ।।

अर्चति । गायति । रेभति । स्तोभति । गूर्धयति । गृणाति । जरते । ह्वयते । नदति । पृच्छति । रिहति । धमति । कृणयति । कृपण्यति । पनस्यति । पनायते । वल्गूयति । मन्दते । भन्दरेति । छन्दति । छदयते । शशमानः । रंजयति । रजयति । शंसति । स्तौति । यौति । रौति । नौति । भनति । पणायति । पणते । सपति । पपृक्षाः । महयति । वाजयति । पूजयति । मन्यते । मदति । रसति । स्वरति । वेनति । मन्द्रयते । जल्पति । इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ।। १४ ।।

विप्रः । विग्रः । गृत्सः । धीरः । वेनः । वेधाः । कण्वः । ऋभुः । नवेदाः । कविः । मनीषी । मन्धाता । विधाता । विपः । मनश्चित् । विपश्चित् । विपन्यवः । आकेनिपः । उशिजः । कीस्तासः । अद्धातयः । भतयः । मनुथाः । वाघतः । इति चतुर्विंशतिः मेधाविनामानि ।। १५ ।।

रेभः । जरिता । कारुः । नदः । स्तामुः । कीरिः । गौः । सूरिः । नादः । छन्दः । स्तुप् । रुद्रः । कृपण्युः । इति त्रयोदश स्तोतृनामानि ।। १६ ।।

यज्ञः । वेनः । अध्वरः । मेधः । विदथः । नार्यः । सवनम् । होत्रा । इष्टिः । देवताता । मखः । विष्णुः । इन्दुः । प्रजापतिः । धर्मः । इति पञ्चदश यज्ञनामानि ।। १७ ।।

भरताः । कुरवः वाघतः । वृक्तवर्हिषः । यतस्रुचः । मरुतः । सबाधः । देवयवः । इति अष्टौ ऋत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

ईमहे । यामि । मन्महे । दद्धि । शग्धि । पूर्धि । मिमिड्ढि । मिमीहि । रिरिड्हि । रिरीहि । पीपरन् । यन्तारः । यन्धि । इषुध्यति । मदेमहि । मनामहे । मायते । इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

दाति । दाशति । दासति । राति । रासति । पृणक्षि । पृणाति । शिक्षति । तुञ्जति । मंहते । इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

परिस्रव । पवस्व । अभ्यर्ष । आशिषः । इति चत्वारः अध्येषणा-कर्माणः ॥ २१ ॥

स्वपिति । सस्ति । इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः । कातुः । कर्तः । वव्रः । काटः । खातः । अवतः । क्रिविः । सूदः । उत्सः । ऋश्यदात् । कारोतरात् । कुशयः । केवटः । इति चतुर्दश कूप-नामानि ॥ २३ ॥

तृपुः । तक्वा । रिभ्वा । रिपुः । रिक्वा । रिहायाः । तायुः । तस्करः । वनर्गुः । हुरश्चित् । मुषीवान् । मलिम्लुचः । अघशंसः । वृकः । इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

निण्यम् । सस्वः । सनुतः । हिरुक् । प्रतीच्यम् । अपीच्यम् । इति निर्णी-तान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

आके । पराके । पराचैः । आरे । परावतः । इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् । प्रदिवः । प्रवयाः । सनेमि । पूर्व्यम् । अह्नाय । इति षट् पुराण-नामानि ॥ २७ ॥

नवम् । नूत्नम् । नूतनम् । नव्यम् । इदा । इदानीम् । इति षडेव नव-नामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे । अभीके । दभ्रम् । अर्भकम् । तिरः । सतः । त्वः । नेमः । ऋक्षाः । स्तृभिः । वम्रीभिः उपजिह्विका । ऊर्दरम् । कृदरम् । रम्भः । पिनाकम् । मेना । ग्नाः । शेपः । वैतसः । अया । एना । सिषक्तु । सचते । भ्यसने । रेजते । इति षड्विंशतिः द्विशः उत्तराणिनामानि ॥ २९ ॥

स्वधे । पुरन्धी । धिषणे । रोदसी । क्षोणी । अम्भसी । नभसी । रजसी । सदसी । सद्मनी । धृतवती । बहुले । गभीरे । गम्भीरे । ओण्यौ । चम्वौ । पार्श्वौ । मही । उर्वी । पृथ्वी । अदिती । अह्नो । दूरे अन्ते । अपारे २ । इति चतुर्विंशतिः द्यावापृथिव्योः नामधेयानि ॥ ३० ॥

पूर्णसंख्या—४१०

चतुर्थोऽध्यायः[१]

जहा । निधा । शिताम । मेहना । दमूनाः । मूषः । इषिरेण कुरुतन ।

---

१. चतुर्थाध्यायगतानि त्रीणि खण्डानि निरुक्ते क्रमशश्चतुर्थपञ्चमषष्ठाध्यायेषु व्याख्यातानि ।

जठरे । तितउ । शिप्रे । मध्या । मन्दू । ईर्मान्तासः । कायमानः । लोधम् । शीरम् ।
विद्रधे । द्रुपदे । तुग्वनि । नंसन्ते । नसन्त । आहनसः । अद्मसद् । इष्मिणः । वाहः ।
परितक्म्या । सुविते । दयते । नूचित् । नूच । दावने । अकूपारस्य । शिशीते ।
सुतुकः । सुप्रायणाः । अप्रायुवः । च्यवनः । रजः । हरः । जुहुरे । व्यन्तः । क्राणाः ।
वाशी । विषुणः । जामिः । पिता । शंयोः । अदितिः । एरिरे । जसुरिः । जरते ।
मन्दिने । गौः । गातुः । दंसय । तूताव । चयसे । वियुते । ऋधक् । अस्याः अस्य ।
इति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

सस्निम् । वाहिष्ठः । दूतः । वावशानः । वार्यम् । अन्धः । असश्चन्ती । वनुष्यति ।
तरुष्यति । भन्दनाः । आहनः । नदः । सोमो अक्षाः । श्वात्रम् । ऊतिः । हासमाने ।
पड्भिः । ससम् । द्विता । व्राः । वराहः । स्वसराणि । शर्याः । अर्कः । पविः । वक्षः ।
धन्व । सिनम् । इत्था । सचा । चित् । आ । द्युम्नम् । पवित्रम् । तोदः । स्वञ्चाः ।
शिपिविष्टः । विष्णुः । आघृणिः । पृथुज्रयाः । अथर्युम् । काणुका । अध्रिगुः ।
आङ्गूषः । आपान्तमन्युः । श्मशा । उर्वशी । वयुनम् । वाजपस्त्यम् । वाजगन्ध्यम् ।
गव्यम् । गधिता । कौरयाणः । तौरयाणः । अह्रयाणः । हरयाणः । आरितः । व्रन्दी ।
निष्षपी । तूर्णाशम् । क्षुम्पम् । निचुम्पुणः । पदिम् । पादुः । वृकः । जोषवाकम् ।
कृत्तिः । श्वघ्नी । समस्य । कुटस्य । चर्षणिः । शम्बः । केपयः । तूतुमा कृषे ।
असत्रम् । काकुदम् । बीरिटे । अच्छ परि । ईम् । सीम् । एनम् । एनाम् ।
सृणिः । इति चतुरुत्तरम् अशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः । आशाभ्यः । काशिः । कुणारुम् । अलातृणः । सलल्लूकम् । कत्प-
यम् । विस्रुहः । वीरुधम् । नक्षद्दाभम् । अस्कृधोयुः । निशृम्भाः । बृबदुक्थम् । ऋदू-
दरः । ऋदूपे । पुलुकामः । असिन्वती । कपना । भाऋजीकः । रुजानाः । जूर्णिः ।
ओमना । उपलप्रक्षिणी । उपसि । प्रकलवित् । अभ्यर्धयज्वा । ईक्षे ।
क्षोणस्य । अस्मे । पाथः । सवीमनि । सप्रथाः । विदथानि । श्रायन्तः । आशीः
अजीगः । अमूरः । शशमानः । देवो देवाच्या कृपा । विजामातुः । ओमासः ।
सोमानम् । अनवायम् । किमीदिने । अमवान् । अमीवा । दुरितम् । अप्वा । अमतिः ।
श्रुष्टी । पुरन्धिः । रुशत् । रिशादसः । सुदत्रः । सुविदत्रः । आनुषक् । तुर्वाणि ।
गिर्वणसे । असूर्ते सूर्ते । अम्यक् । यादृश्मिन् । जारयायि । अग्रिया । चनः ।
पचता । शुरुधः । अमिनः । जज्झतीः । अप्रतिष्कुतः । शाशदानः । सृप्रः । सुशिप्रः ।
क्षिप्रे । रंसु । द्विबर्हाः । अक्रः । उराणः । स्तियानाम् । स्तिपाः । जबारु । जरू-
थम् । कुलिशः । तुञ्जः । बर्हणा । ततनुष्टिम् । इलीबिशः । कियेधाः । भृमिः ।
विष्पितः । तुरीपम् । रास्पिनः । ऋञ्जतिः । ऋजुनीती । प्रतद्वसू । हिनोत । चोष्कू-
यमानः । चोष्कूयते । सुमत् । दिविष्टिषु । दूतः । जिन्वति । अमत्रः । ऋचीषमः ।
अनर्शरातिम् । अनर्वा । असामि । गल्दया । जल्हवः । बकुरः । बेकनाटान् । अभिधे-
तन । अंहुरः । बतः । वाताप्यम् । चाकन् । रथर्यति । असक्राम् । आधवः । अनवब्रवः ।
सदान्वे । शिरिम्बिठः । पराशरः । क्रिविर्दती । करूळती । दनः । शरारुः । इदंयुः ।

कीकटेषु । बुन्दः । वृन्दम् । किः । उल्बम् । ऋबीसम् २ । इति त्रयस्त्रिंशच्छतानि पदानि ॥ ३ ॥

पूर्णसंख्या—२७९

——:——

पञ्चमोऽध्यायः

अग्निः । जातवेदाः । वैश्वानरः । इति त्रीणि पदानि ॥ १ ॥ (निरु० ७)

द्रविणोदाः । इध्मः । तनूनपात् । नराशंसः । इळः । बर्हिः । द्वारः । उषासानक्ता । दैव्या होतारा । तिस्रो देवीः । त्वष्टा । वनस्पतिः । स्वाहाकृतयः इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥ (नि० ८)

अश्वः । शकुनिः । मण्डूकाः । अक्षाः । ग्रावाणः । नाराशंसः । रथः । दुन्दुभिः । इषुधिः । हस्तघ्नः । अभीशवः । धनुः । ज्या । इषुः । अश्वाजनी । उलूखलम् । वृषभः । द्रुघणः । पितुः । नद्यः । आपः । ओषधयः । रात्रिः । अरण्यानी । श्रद्धा । पृथिवी । अप्वा । अग्नायी । उलूखलमुसले । हविर्धाने । द्यावापृथिवी । विपाट्छुतुद्री । आर्त्नी । शुनासीरौ । देवी जोष्ट्री । देवी ऊर्जाहुती । इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ३ ॥ (नि० ९)

वायुः । वरुणः । रुद्रः । इन्द्रः । पर्जन्यः । बृहस्पतिः । ब्रह्मणस्पतिः । क्षेत्रस्य पतिः । वास्तोष्पतिः । वाचस्पतिः । अपां नपात् । यमः । मित्रः । कः । सरस्वान् । विश्वकर्मा । तार्क्ष्यः । मन्युः । दधिक्राः । सविता । त्वष्टा । वातः । अग्निः । वेनः । असुनीतिः । ऋतः । इन्दुः । प्रजापतिः । अहिः । अहिर्बुध्न्यः । सुपर्णः । पुरूरवाः । इति द्वात्रिंशत् पदानि ॥ ४ ॥ (नि० १०)

श्येनः । सोमः । चन्द्रमाः । मृत्युः । विश्वानरः । धाता । विधाता । मरुतः । रुद्राः । ऋभवः । अङ्गिरसः । पितरः । अथर्वाणः । भृगवः । आप्त्याः । अदितिः । सरमा । सरस्वती । वाक् । अनुमतिः । राका । सिनीवाली । कुहूः । यमी । उर्वशी । पृथिवी । इन्द्राणी । गौरी । गौः । धेनुः । अघ्न्या । पथ्या । स्वस्तिः । उषाः । इळाः । रोदसी । इति षट्त्रिंशत् पदानि ॥ ५ ॥ (नि० ११)

अश्विनौ । उषाः । सूर्या । वृषाकपायी । सरण्यूः । त्वष्टा । सविता । भगः । सूर्यः । पूषा । विष्णुः । विश्वानरः । वरुणः । केशी । केशिनः । वृषाकपिः । यमः । अज एकपात् । पृथिवी । समुद्रः । अथर्वा । मनुः । दध्यङ् । आदित्यः । सप्तऋषयः । देवाः । विश्वेदेवाः । साध्याः । वसवः । वाजिनः । देवपत्न्यः २ । इति एकत्रिंशत् पदानि ॥ ६ ॥ (नि० १२)

पूर्णसं० —१४८ एवमादितः १७६७ ।

——:०:——

|| श्रीः ||

हिन्दी-निरुक्त

प्रथम अध्याय

प्रथम-पाद

ॐ समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं समाम्नायं 'निघण्टव' इत्याचक्षते। निघण्टवः कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति —छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। निगन्तव एव सन्तो निगमनात् निघण्टव उच्यन्ते इत्यौपमन्यवः। अपि वा, आहननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा, समाहृता भवन्ति ॥

[शब्दों का] समाम्नाय (संग्रह, संकलन) संकलित हुआ, जिसकी व्याख्या करनी चाहिये। इस संग्रह को [कुछ लोग] 'निघण्टु' कहते हैं। 'निघण्टु' कैसे [कहलाया]? ये [शब्द] अर्थ बतलानेवाले [नि √गम्] हैं—वेदों से चुन-चुनकर जमा किये गये हैं। ये अर्थ बतलानेवाले (निगन्तु) ही बनकर व्युत्पत्ति (निगमन) से 'निघण्टु' कहलाये—यह औपमन्यव का विचार है। अथवा, आ + √हन् (विभाजित करना) से बना है क्योंकि [सभी शब्द] समाहत (साथ-साथ कहे गये या विभाजित किये हुए) हैं। अथवा जमा किये जाने (सम् आ √हृ) के कारण [इन्हें निघण्टु कहते हैं] ॥

विशेष—समाम्नाय = निघण्टु के पाँचों अध्याय जिनमें वैदिक शब्द संकलित हैं। किसी शब्द की व्युत्पत्ति देने के समय यास्क प्रायः 'कस्मात्' का प्रयोग करते हैं जिसका अर्थ है, किस धातु से और क्यों? 'निघण्टु'-शब्द की व्युत्पत्ति तीन तरह से करते हैं—(१) नि √गम् > निगमयितृ (निगन्तृ) > निगन्तु >

निघण्टु = अर्थ बतलानेवाला। (२) सम् आ√हन् > समाहन्तृ > समाहन्तु > निघण्टु = जमा किया हुआ। (३) सम् आ√हृ > समाहर्त्तृ > समाहर्त्तु > निघण्टु = चुना हुआ। दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में व्युत्पत्ति की इन तीन अवस्थाओं को क्रमशः प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति और अतिपरोक्षवृत्ति कहा है। प्रत्यक्षवृत्ति की अवस्था में धातु स्पष्ट रहता है जैसे—निगमयितृ; परोक्षवृत्ति की अवस्था में वह सामान्य-प्रयोग से अलग हो जाता है जैसे—निगन्तु; अति-परोक्षवृत्ति की अवस्था में धातु का पता ही नहीं लगता जैसे—निघण्टु। 'छन्दोभ्यः' का प्रयोग बतलाता है कि निरुक्त में केवल वैदिक-शब्दों की व्याख्यां हुई है॥

तद्यान्येतानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च, तानीमानि भवन्ति—तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति—भावप्रधानमाख्यातम्; सत्त्वप्रधानानि नामानि। तद्यत्र उभे, भावप्रधाने भवतः। पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे, व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम्। मूर्त्तं सत्त्वभूतं सत्त्वनामभिः, व्रज्या पक्तिरिति। अदः इति सत्त्वानामुपदेशः। गौरश्वः पुरुषो हस्तीति, भवतीति भावस्य, आस्ते शेते व्रजति तिष्ठति इति॥ इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः॥ १॥

पद के जो चार भेद—नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात—हैं वे इस प्रकार हैं—पहले नाम और आख्यात के लक्षण कहते हैं—जिनमें भाव (क्रिया) प्रधान हो वह आख्यात तथा जिनमें सत्त्व (सिद्ध क्रिया) प्रधान हो वे नाम हैं। जब [किसी वाक्य में] दोनों मिलते हैं, तब भाव की प्रधानता मानी जाती है। पूर्वापर के क्रम से होनेवाले भाव को आख्यात नाम से पुकारते हैं जैसे चलता है, पकाता है जिनमें आरम्भ से लेकर अन्त तक का [कथन] है। ठोस अर्थात् सिद्ध क्रिया (सत्त्व) के रूप में परिणत [भाव] को सत्त्व नाम से [पुकारते हैं] जैसे व्रज्या (गमन), पक्ति (पाक)। 'अदः' (वह) से वस्तुओं का (या सिद्ध क्रिया का) सामान्य निर्देश होता है; [विशेषतः तो] गो, अश्व, पुरुष, हस्ती भाव का [निर्देश]—होता है; है, सोता है, चलता है, बैठता है। औदुम्बरायण के मत से शब्द की सत्ता इन्द्रियों तक ही है।

विशेष—यास्क शब्दों के चार ही भेद स्वीकार करते हैं। इन भेदों का उल्लेख पहले-पहल निरुक्त में ही हुआ है। पाणिनीय-व्याकरण ने भी इन्हें स्वीकार कर लिया है। 'भाव' का अर्थ है क्रिया, जैसे—पढ़ना; 'सत्त्व' का अर्थ है पूरी की गई क्रिया, पाठ। पाणिनि का सिद्धावस्थापन्न भाव ही सत्त्व है किन्तु वह ठोस रूप में परिणत हो जाय। यह स्मरणीय है कि दोनों ही अवस्थाओं में—चाहे आख्यात हो या नाम—आरम्भ से लेकर अन्त तक होनेवाली क्रिया की व्यवस्था होती है जैसे 'व्रजति' (जाता है) में पैर बढ़ाना, हाथ फेंकना आदि से लेकर लक्ष्य तक पहुंचने तक का संग्रह होता है। किन्तु जब ये ही क्रियायें मूर्त रूप ग्रहण कर लेती हैं, सिद्ध हो जाती हैं, एकाकार हो जाती हैं तब नाम कहलाती हैं जैसे—पाठ, लेख, गमन आदि। साधारणतया इन्हें ही लोग भाव कहते हैं। वस्तुओं को सामान्य-रूप से हम 'वह' कह देते हैं, किन्तु इनके विशेष उदाहरण हैं—गौ आदि। इसी तरह 'भाव' को भी सामान्य रूप से कह देते हैं कि—होता है। किन्तु विशेष उदाहरण तो 'आस्ते, शेते' आदि हैं। अन्तिम वाक्य के लिये आगे देखें ॥ १ ॥

तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते। अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः। शास्त्रकृतो योगश्च। व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य। अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्। पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥

इस प्रकार ये चारों (पद-भेद) असिद्ध हो जाते हैं; एक साथ उत्पन्न न होनेवाले शब्दों का परस्पर सम्बन्ध [भी प्रसिद्ध हो जाता है।] व्याकरण में कहा गया प्रकृति और प्रत्यय का संयोग [भी असिद्ध हो जाता है।] किन्तु शब्द व्यापक होने के साथ-साथ सरलतर है इसलिए शब्द से ही [वस्तुओं का] नामकरण लोक में व्यवहार के लिये होता है। इनके अर्थ मनुष्यों के समान ही देवताओं के लिए भी हैं। पुरुषों के ज्ञान के अनित्य होने के कारण कर्म का फल बतलानेवाले मन्त्र वेद में हैं ॥

विशेष—औदुम्बरायण का मत है—शब्द अनित्य हैं क्योंकि ये इन्द्रियों से निष्पन्न होते हैं। चूंकि सभी दार्शनिक इन्द्रियों को अनित्य मानते हैं इसलिए उनपर आश्रित शब्द भी अनित्य ही होंगे। तब तो उपर्युक्त चारों पद-भेद बेकार ही हो जायेंगे, अनित्य शब्दों का भेद करना व्यर्थ है। फिर कई शब्दों का मेल नहीं हो सकता क्योंकि वे भिन्न-भिन्न समयों पर उत्पन्न होते हैं तथा

नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति और प्रत्यय भी अनित्य हैं, इसलिए इनका व्याकरण में लिखा हुआ संयोग भी नहीं होगा। किन्तु शब्दों और अर्थों की पृथक् सत्ता वक्ता और श्रोता दोनों के मन में रहती है, शब्द के सुनने पर वही अर्थ जागृत हो जाता है, भले ही उस समय तक शब्द की सत्ता न रहे। यही सिद्धान्त 'स्फोट' कहलाता है जिसके अनुसार शब्द नित्य हैं (विशेष विवरण के लिए देखें—सर्वदर्शन-संग्रह में पाणिनि-दर्शन।)—अर्थात् शब्द व्यापक हैं। शब्द केवल वस्तुओं के प्रतीक हैं जो लौकिक व्यवहार के लिए दिये गये हैं कि वस्तुओं का बोध हो सके। देवता की भाषा भी मनुष्यों के समान ही है। जिस वस्तु के लिए जो संकेत दिया जाता है वह मनुष्यों और देवताओं दोनों के लिए है। जब देवता मनुष्यों की भाषा समझते ही हैं तो उनकी स्तुति किसी शब्द से कर सकते हैं? नहीं, फल देनेवाले स्तोत्र या मन्त्र वेदों में ही हैं—उनसे ही स्तुति करने पर फल प्राप्त हो सकता है क्योंकि मानवीय ज्ञान नित्य नहीं है।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। जायते इति पूर्वभाव-स्यादिमाचष्टे। नापरभावमाचष्टे—न प्रतिषेधति। अस्तीत्युत्पन्न-स्य सत्त्वस्यावधारणम्। विपरिणमते इत्यप्रच्यवमानस्य तत्त्वा-द्विकारम्। वर्धते इति स्वाङ्गाभ्युच्चयम्। सांयौगिकानां वाऽर्था-नाम्। वर्धते विजयेनेति वा, शरीरेणेति वा। अपक्षीयते इति एतेनैव व्याख्यातः प्रतिलोमम्। विनश्यतीत्यपरभावस्यादिमाचष्टे। न पूर्वभावमाचष्टे, न प्रतिषेधति ॥ २ ॥

वार्ष्यायणि का मत है कि क्रिया के छः रूप हैं—जन्म लेना, होना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। (१) 'जन्म' से पूर्व-क्रिया (जन्म) का बोध होता है, आगेवाली क्रिया (=अस्ति) का नहीं, फिर [आगेवाली क्रिया से] उसे कोई विरोध भी नहीं। (२) 'होना' से उत्पन्न वस्तु की सत्ता मालूम होती है। (३) 'बदलना' से अपनी प्रकृति न छोड़नेवाली वस्तु के परिवर्तन का बोध होता है। (४) 'बढ़ना' से अपने अंगों (जैसे हाथ, पैर) या संयुक्त अर्थों (जैसे स्वर्ण, धान्य) की वृद्धि का बोध होता है जैसे—विजय से बढ़ता है, शरीर से बढ़ता है। (२) 'घटना' की

व्याख्या तो इसी से हो गई, वह इसका उलटा है। (६) 'नाश' से आगे आनेवाली (अन्तिम) क्रिया (नाश) के आरम्भ का बोध होता है, पूर्व-क्रिया (घटना) का नहीं, किन्तु उस [पूर्व-क्रिया] का विरोध भी नहीं होता ॥ २ ॥

विशेष—क्रियाओं की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं किन्तु उपर्युक्त छः अवस्थाओं में ही सबों का अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्वभाव = दो क्रियाओं के संबन्ध दिखलाने पर जो क्रिया पहली हो, जैसे—जायते और अस्ति के सम्बन्ध के समय—'जायते' पूर्वभाव है और 'अस्ति' अपर-भाव। पुनः अपक्षय और विनाश के सम्बन्ध में 'अपक्षय' पूर्वभाव है, 'विनाश' अपर-भाव। पहली क्रिया पूर्वभाव और दूसरी अपर-भाव कही जाती है ॥ २ ॥

अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह। ते यथावचनमभ्यूहितव्याः। न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति। उच्चावचाः पदार्था भवन्तीति गार्ग्यः। तद्य एषु पदार्थः प्राहुरिमे तन्नामाख्यातयोरर्थविकरणम्।

इनके अलावे क्रिया की जो भी अवस्थायें हैं वे इन्हीं के रूप हैं—ऐसा कहा गया है। ये वाक्य के अनुसार खोज लिये जायें। शाकटायन का मत है कि [नाम—आख्यात से] अलग होने पर उपसर्ग अर्थ का निश्चय नहीं कर सकते। लेकिन नाम और आख्यात का [अन्य] अर्थ से संयोग बतलाते हैं। गार्ग्य का मत है कि इन पदों (उपसर्गों) के बहुत तरह के अर्थ हैं। तब इनमें जो 'अर्थ का होना' कहा गया गया है वह नाम और आख्यात के अर्थों का परिवर्तन मात्र हैं।

विशेष—वचन = वाक्य। निरुक्त में 'कर्म' का मतलब प्रायः 'अर्थ' होता है। कर्मोपसंयोग = नये अर्थ से सम्बन्ध; संज्ञा और क्रियाओं में उपसर्गों के योग से नये अर्थ का आगमन होता है, यह परिवर्तन शब्द में ही होता है उपसर्ग में नहीं। उपसर्ग यह द्योतित करते हैं कि ऐसा परिवर्तन हुआ है—वे अर्थ के वाचक नहीं। कहा भी है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥

उपसर्गों के द्योतकत्व-पक्ष के विवेचन के लिये महाभाष्य देखें—'उपसर्गाः क्रियायोगे' सूत्र पर (भूमिका देखें)। आगे जो उपसर्गों के अर्थ कहे जायेंगे उनका

मतलब यही है कि संज्ञा और क्रियाओं का वैसा ही अर्थ परिवर्तित होगा। गार्ग्य का मत है कि पद होने के कारण उपसर्गों का अर्थ अवश्य है ॥

आ इत्यर्वागर्थे। प्र परा इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अभीत्याभिमुख्यम्। प्रतीत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अति-सु इत्यभिपूजितार्थे। निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम्। नि अव इति विनिग्रहार्थीयौ। उत् इत्येतयोः प्रातिलोम्यम्। समित्येकीभावम्। वि अप इत्येतस्य प्रातिलोम्यम्। अनु इति सादृश्यापरभावम्। अपीति संसर्गम्। उप इत्युपजनम्। परीति सर्वतोभावम्। अधीत्युपरिभावम्। ऐश्वर्यं वा। एवमुच्चावचानर्थान् प्राहुः। ते उपेक्षितव्याः ॥ ३ ॥

आ—'इधर' के अर्थ में; प्र, परा—इसका उलटा (उधर); अभि—सामने; प्रति—इसका उलटा (उलटे); अति, सु—आदर के अर्थ में; निर्, दुर्—इसका उलटा (निरादर); वि, अव—'नीचे' के अर्थ में; उत्—इसका उलटा (ऊपर); सम्—एक साथ; वि, अप—इसका उलटा (अलग); अनु 'समान' और 'पीछे होना'; अपि—संसर्ग; उप-समीप; परि—चारों ओर; अधि—'ऊपर होना' या सबसे ऊंचा। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ बतलाते हैं। उनपर ध्यान देना चाहिये ॥३॥

विशेष—उपेक्षितव्याः = समीप जाकर देखना चाहिये। बाद में इसका अर्थ तिरस्कार हो गया है। परन्तु निरुक्त में यह पुराने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आँखों के अत्यन्त निकट रहने से अनादर होता ही है, इस प्रकार यह अर्थ आया। (देखें—Poona Orientalist के जनवरी ५९ का अंक, सत्यव्रतजी का लेख—Semantics in Sanskrit.) ॥ ३ ॥

द्वितीय-पाद

अथ निपाताः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति। अप्युपमार्थे। अपि कर्मोपसंग्रहार्थे। अपि पदपूरणाः। तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति।

अब निपातों का [वर्णन होगा]। ये विभिन्न अर्थों में आते हैं। कुछ तो उपमा के अर्थ में हैं, कुछ संयोजक (Cojunction) के अर्थ में और कुछ केवल पद पूरा करनेवाले हैं। इनमें ये चार (निपात) उपमा के अर्थ में होते हैं।

विशेष—निपातों (Particles) के तीन भेद हुए—(१) उपमार्थक (२) कर्मोपसंग्रहार्थक (३) पदपूरणार्थक। अभी चार उपमार्थक निपातों का उदाहरण दिया जा रहा हैं। पिछले दोनों का उदाहरण इसके बाद देंगे।

इवेति भाषायां चान्वध्यायं च। 'अग्निरिव'। 'इन्द्र इव' इति। नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्। 'नेन्द्रं देवममंसत' इति प्रतिषेधार्थीयः। पुरस्तादुपचारस्तस्य यत्प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' इत्युपमार्थीयः। उपरिष्टादुपचारस्तस्य येन उपमिमीते।

(१) इव—भाषा (संस्कृत) और वेद दोनों में [यह उपमार्थक है] जैसे—अग्नि-सा (ऋ० १०।८४।२), इन्द्र-सा (ऋ० १०।१७३।२)। (२) न—भाषा में निषेधार्थक, किन्तु वेद में दोनों (निषेध + उपमा) है—(अ) इन्द्र देव को नहीं माना (ऋ० १०।८६।१)—यहाँ निषेधार्थक है; जब निषेध करता है तब इसका प्रयोग पहले होता है। (आ) शराब पिये मतवालों के समान (ऋ० ८।२।१२)—यहाँ उपमार्थक है; जिससे उपमा दी जाती है (वाचक) उसका प्रयोग बाद में होता है।

विशेष—अन्वध्याय = स्वाध्याय की पुस्तक (वेद) में। जब 'न' का अर्थ उपमा होता है तब शब्द के बाद रखा जाता है जैसे—मृगो न, इन्द्रो न। किन्तु जब निषेध करता है तब शब्द के पहले रखा जाता है जैसे—न मृगः, न जायते।

चिदित्येषोऽनेककर्मा। 'आचार्यश्चिदिदं ब्रूयात्' इति पूजायाम्। आचार्यः आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिमिति वा। 'दधिचित्' इत्युपमार्थे। 'कुल्माषांश्चिदाहर' इत्यवकुत्सिते। कुल्माषाः कुलेषु सीदन्ति॥ 'नु' इत्येषोऽनेककर्मा। 'इदं नु करिष्यति' इति हेत्वपदेशे। 'कथं नु करिष्यति' इत्यनुपृष्टे। 'नन्वेतदकार्षीत्' इति च। अथाप्युपमार्थे भवति। 'वृक्षस्य नु ते पुरुहूत ! वयाः' वृक्षस्य इव ते पुरुहूत ! शाखाः। वयाः शाखाः वेतेः। वातायनाः भवन्ति। शाखा खशयाः। शक्नोतेर्वा॥

(३) चित्—इसके अनेक अर्थ हैं—'मान्य आचार्य यह बोलें'—यहाँ सम्मान का अर्थ है। आचार्य आचार (परम्परागत उपदेश) ग्रहण कराता है,

अर्थों का चयन करता है या बुद्धि का चयन करता है। (क्रमशः बढ़ाता है)। 'दही-सा'—यहाँ उपमार्थक है। 'कुलथियों (एक अन्त) को लाओ'—यहाँ निन्दार्थक है। 'कुल्माष कुलों में नष्ट होते हैं। (४) नु—इसके अनेक अर्थ हैं। 'क्योंकि इसे करेगा'—यहाँ कारण देने के लिए है। 'कैसे करेगा ?' यहाँ दुबारा पूछने के अर्थ में है। 'चूंकि यह तो किया ही होगा !'—यह भी उसी अर्थ में। यह (नु) उपमा के अर्थ में भी होता है जैसे—'हे बहुत प्रकार से बुलाये गये (इन्द्र), तुम्हारी शाखायें वृक्ष-सी हैं (ऋ० ६।२४।३)।' वयाः = शाखायें, √वा (बहना) से। ये हवा के घर हैं। शाखा = आकाश (ख) में शयन करने वाली, अथवा √शक् से।

विशेष—यास्क निर्वचन के अत्यन्त प्रेमी हैं। निपातों के उदाहरण में आनेवाले शब्दों को भी नहीं छोड़ते। उनका निर्वचन (व्युत्पत्ति से अर्थ का पता लगाना etymology) करना ही चाहिए। आचार्य शब्द या तो √चर् से या √चि से बना है। यास्क की विचार-शृंखला पर भी ध्यान दें—नु के उदाहरणवाली ऋचा में 'वयाः' शब्द आया है, उसका प्रतिशब्द दिया 'शाखाः'। अब शाखा का निर्वचन करना आवश्यक हो गया। 'शाखा' वर्ण-विपर्यय (Metathesis) का फल हो सकता है, ख (आकाश) में शयन करने वाला—√शी। √शक् के शख बनकर 'शाखा' हुआ हो। इस प्रकार के विषयान्तर यास्क में बहुत हैं जिन्हें वे अपने निर्वचन-प्रेम का प्रदर्शन करने के लिये लाये हैं।

अथ यस्य आगमात् अर्थपृथक्त्वम् अह विज्ञायते, न तु औद्देशिकमिव, विग्रहेण पृथक्त्वात्, स कर्मोपसंग्रहः।

अर्थ-संयोजक (कर्मोपसंग्रह conjunction) उसे कहते हैं, जिसके आगमन से वस्तुओं का अलग-अलग होना निश्चित रूप से मालूम हो, किन्तु यह (पार्थक्य) सामान्य-गणना के समान [स्पष्ट नहीं रहता], बल्कि [समास के पदों को] अलग-अलग करने पर ही पृथक् मालूम पड़ता है।

विशेष—कर्मोपसंग्रह निपातों का दूसरा भेद है, इसके उदाहरण हैं—च, वा इत्यादि। दुर्गाचार्य का कथन है कि समास के भिन्न-भिन्न पदों में जिससे पार्थक्य मालूम हो, यह पार्थक्य स्पष्ट रूप से कहा नहीं गया हो किन्तु विग्रह करने पर अलग मालूम हो—वही कर्मोपसंग्रह है। डा० गुणे कहते हैं कि चूंकि निपातों के तीन ही भेद हैं इसलिए कर्मोपसंग्रह में वे सभी निपात आ जाते हैं

जो उपमार्थक या पदपूरण नहीं हैं। इसलिए वे 'अर्थपृथक्त्व' का अर्थ करते हैं—'तरह-तरह के अर्थ' (a variety of senses), किन्तु वस्तुओं की साधारण गणना के समान नहीं। उनके प्रत्येक का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। 'न तु० पृथक्त्वात्' की संगति बैठाना कठिन है। सम्भवतः यही अर्थ है कि किसी समास में वस्तुओं का पार्थक्य औद्देशिक (उद्दिष्ट) रहता है वस्तुतः कहा नहीं जाता। हो सकता है प्राचीन पाण्डुलिपि में यह अंश मूल के बगल में किसी अध्यापक द्वारा लिख दिया गया हो जिसे लेखक ने मूल ही समझकर जोड़ दिया हो—क्योंकि कर्मोपसंग्रह की परिभाषा तो पहले वाक्य में ही पूरी हो जाती है।

'च' इति समुच्चयार्थः। उभाभ्यां संप्रयुज्यते। 'अहं च त्वं च वृत्रहन्' इति। एतस्मिन्नेवार्थे 'देवेभ्यश्च पितृभ्य आ' इति आकारः। 'वा' इति विचारणार्थे। 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' इति। अथापि समुच्चयार्थे भवति ॥ ४ ॥

(१) च—जोड़ने के अर्थ में दोनों शब्दों के बाद में प्रयुक्त होता है। जैसे—हे वृत्र को मारनेवाले! तुम और मैं—(ऋ० ८।६२।११)। (२) आ—इसी (जोड़ने के) अर्थ में जैसे—देवताओं और पितरों के लिए...(ऋ० १०।१६।११)। (३) वा—सन्देह के अर्थ में जैसे—कहाँ रखूँ मही को मैं, यहाँ पर या वहाँ इसे? (ऋ० १०।११९।९)। यह जोड़ने के अर्थ में भी होता है जैसे—॥ ४ ॥

'वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' इति। 'अह' इति च, 'ह' इति च, विनिग्रहार्थीयौ, पूर्वेण संप्रयुज्येते। 'अयम् अह इदं करोतु, अयमिदम्'। 'इदं ह करिष्यति, इदं न करिष्यति' इति। अथापि उकारः एतस्मिन् एवार्थे उत्तरेण। 'मृषा इमे वदन्ति, सत्यम् उ ते वदन्ति' इति। अथापि पदपूरणः। 'इदमु', 'तदु' इति।

तुम्हें वायु या मनु—(मैत्रा० सं० १।१।१।१)। (४-५) रुकावट के अर्थवाले 'अह' और 'ह' पहले [शब्द] के बाद प्रयुक्त होते हैं जैसे—एक इसे ही करे, एक उसे करे। इसे करेगा, उसे नहीं। (६) उ—इसी अर्थ में अन्तिम [शब्द] के बाद प्रयुक्त होता है। जैसे—ये झूठ बोलते हैं, वे सच। यह पदपूरण भी है जैसे—यह, वह।

'हि' इत्येषोऽनेककर्मा । 'इदं हि करिष्यति' इति हेत्वपदेशे । 'कथं हि करिष्यति' इति अनुपृष्टे । 'कथं हि व्याकरिष्यति' इति असूयायाम् । 'किल' इति विद्याप्रकर्षे । 'एवं किल' इति । अथापि 'न' 'ननु' इत्येताभ्यां संप्रयुज्यते अनुपृष्टे । 'न किलैवम्', 'ननु किल एवम्' । 'मा' इति प्रतिषेधे । 'मा कार्षीः' । 'मा हार्षीः' इति च । 'खलु' इति च । 'खलु कृत्वा' । 'खलु कृतम्' । अथापि पदपूरणः । 'एवं खलु तद्बभूव' इति ।

(७) हि—इसके अनेक अर्थ हैं । कारण देने में, जैसे—क्योंकि इसे करेगा । दुबारा पूछने में, जैसे—कैसे करेगा ? ईर्ष्या में, जैसे—कैसे करेगा ? (८) किल—निश्चय करने के लिये, जैसे—ऐसा ही । यह 'न' और 'ननु' के बाद प्रयुक्त होने से प्रश्नवाचक हो जाता है जैसे—क्या ऐसा नहीं ? (९) मा—निषेध के लिये, जैसे—मत करो, मत हरो । (१०) खलु-इसी अर्थ में, जैसे—न करके, नहीं किया । यह कभी-कभी पदपूरण भी (निरर्थक, केवल पद की पूर्ति के लिए) होता है जैसे—वह ऐसा हुआ ।

'शश्वत्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । 'शश्वत् एवम्' इति अनुपृष्टे । 'एवं शश्वत्' इति अस्वयंपृष्टे । 'नूनम्' इति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम् । उभयम् अन्वध्यायम् । विचिकित्सार्थीयश्च पदपूरणश्च ॥ अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरूप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार । स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे ॥ ५ ॥

(११) शश्वत्—भाषा में निश्चयार्थक है, जैसे—सचमुच ऐसा ?—यह पूछने के अर्थ में । ऐसा ही सचमुच !—यह स्वयं न पूछने पर । (१२) नूनम्—भाषा में निश्चयार्थक है । वेद में दोनों—निश्चयार्थक तथा पदपूरण है । अगस्त्य ने इन्द्र को हवि देने का निश्चय करके भी उसे मरुतों को दे दिया । वे इन्द्र आकर शिकायत करने लगे—॥ ५ ॥

विशेष—विचिकित्सा = निश्चय, वि + √कित् + सन् + टाप् । इसके बाद की ऋचा का अवतरण देते हुए यास्क पौराणिक कथा कह रहे हैं । संप्रदित्सांचकार=दिया, सं + प्र + √दा + सन् + आम् + √कृ + लिट् अनुप्रयोग, छोटी सी क्रिया के लिए यास्क व्यर्थ ही ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं । इसके उदाहरण

कई जगह हैं। इसका शाब्दिक अर्थ होगा—देने की इच्छा की। परिदेवयांचक्रे—शिकायत की। तुल० गीता—तत्र का परिदेवना (२।२८) ॥ ५ ॥

तृतीय-पाद

न नूनमस्ति नो श्वः, कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यम्, उताधीतं विनश्यति ॥

(न) न तो (नूनम्) आज (अस्ति) है, (न) और न (श्वः) कल ही होगा; (यत्) जो (अद्भुतम्) नहीं हुआ है, (तत्) उसे (कः) कौन (वेद) जानता है ? (अन्यस्य) दूसरे का (चित्तम्) मन (अभि-संचरेण्यम्) अत्यन्त चलायमान है, जिससे (अधीतम्) सुनिश्चित वस्तु (उत्) भी (विनश्यति) समाप्त हो जाती है = उसे भूल जाते हैं। (ऋ० १।१७०।१)।

विशेष—इस ऋचा में दो छन्दों का मेल है—प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों में अनुष्टुप् (८ अक्षर), किन्तु तृतीय चरण में जगती (११ अक्षर) है। प्रथम चरण के 'श्वः' को छन्द के लिए 'शुवः' पढ़ना होगा। 'नूनम्' का सम्बन्ध आधुनिक विद्वान् 'नु' (Now) से मानते हैं, यद्यपि यास्क 'नूनम्' अद्यतनम् (आज) कहते हैं।

न नूनमस्ति अद्यतनम्। नो एव श्वस्तनम्। अद्य=अस्मिन् द्यवि। 'द्युः' इत्यह्नो नामधेयम्। द्योतते इति सतः। श्वः उपाशंसनीयः कालः। ह्यः हीनः कालः। कस्तद्वेद यदद्भुतम्=कः तद् वेद, यद् अभूतम् ? इदमपि इतरत् 'अद्भुतम्' अभूतमिव। अन्यस्य चित्तम् अभिसंचरेण्यम्=अभिसंचारि। अन्यः=नानेयः। चित्तं चेततेः। उताधीतं विनश्यति इति=अपि आध्यातं विनश्यति। आध्यातम्=अभिप्रेतम् ॥ अथापि पदपूरणः ॥ ६ ॥

न नूनमस्ति = (न) आज (है), न (आगामी) कल ही। अद्य = इस दिन में। 'द्यु' दिन का पर्याय है और √द्युत (चमकना) से बना है। श्वः = आशा करने योग्य समय (√शंस्)। ह्यः = हीन (बीता हुआ) समय। कः तद्वेद यदद्भुतम् = जो अभूत (वस्तु) है उसे कौन जाने ? यह

दूसरा 'अद्भुतं' (विचित्र) भी अभूत (नहीं हुआ) के ही समान है। दूसरे का मन अभिसंचरेण्य = चलायमान है। अन्य = न लाने योग्य (√नी)। 'चित्' √चित्त (जानना) से। उत अधीत विनश्यति = ध्यान की गई (वस्तु) भी नष्ट हो जाती है। ध्यान की गई = इच्छा की गई। ['नूनम्' कभी-कभी] पदपूरण भी होता है जैसे—॥ ६ ॥

विशेष—उपर्युक्त ऋचा की व्याख्या यास्क ने की है जिसमें प्रधान लक्ष्य निर्वचन (प्रकृति बतलाकर अर्थ निकालना) हैं। अद्भुत—अ + √भू = नहीं हुआ है। इसके बाद अद्भुत के तत्कालीन अर्थ पर भी विचार करते हैं—'विचित्र' अर्थवाला अद्भुत भी अभूत (अपूर्व) ही है। किसी अपूर्व वस्तु को ही विचित्र कहते हैं। अर्थविज्ञान (Semantics) की दृष्टि से इन पंक्तियों पर ध्यान दें। अभिसंचरेण्य—√चर् + वैदिक प्रत्यय केन्य (पा० ३।४।१४)। 'संचरणीय' संस्कृत रूप है।

नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे, दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो, बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

(इन्द्र) हे इन्द्र! (नूनम्) अभी (ते) तुम्हारा (सा) वह (मघोनी) उत्तम (दक्षिणा) पुरस्कार (जरित्रे) गायक को (वरं) वरदान (प्रति दुहीयत्) प्रदान करे; दोहन करे। (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवालों के लिए (शिक्षा) लाभप्रद बनो, (भगः) भाग्य (नः) हमसे (मा अति धक्) दूर न हो; हम (सुवीराः) वीर पुरुषों से युक्त होकर (विदथे) यज्ञ में (बृहत्) महान् शब्द (वदेम) बोलें॥ (ऋ० २।१६।९)।

विशेष—उपर्युक्त अनुवाद जर्मन-विद्वान् गेल्डनर के अनुसार है, यास्क की व्याख्या इसके बाद मिलेगी। प्रति दुहीयत्–वैदिक भाषा में उपसर्ग 'धातु' को छोड़कर कहीं भी रह सकता है √दुह–दूहना। शिक्षा—'शिक्ष' का छन्द के लिए दीर्घ।

सा ते प्रतिदुग्धां वरं जरित्रे। वरो वरयितव्यो भवति। जरिता=गरिता। दक्षिणा। मघोनी=मघवती। मघमिति धननामधेयम्। मंहतेः दानकर्मणः। दक्षिणा दक्षतेः समर्धयतिकर्मणः। व्यृद्धं समर्धयति इति। अपि वा प्रदक्षिणागमनात् दिशमभिप्रेत्य। दिक् हस्तप्रकृतिः। दक्षिणो हस्तो दक्षतेः उत्साहकर्मणः। दाशतेर्वा स्यात् दानकर्मणः। हस्तो हन्तेः। प्राशुः हनने॥

वह (दक्षिणा) तुम्हें—गायक को—वर दे (दोहन करे)। वर चुनने के लायक होता है (√वृ)। जरिता=गानेवाला। मघोनी = मघ से युक्त; मघ = धन जो दानार्थक √मंह् से बना है। दक्षिणा √दक्ष् से = समृद्ध करना। जो ऋद्धिहीन को समृद्ध करे। अथवा [बायें से] दायें जाने के कारण दिशा को लक्ष्य करके बना हो। दिशा की उत्पत्ति हाथ से ही हुई है। दक्षिण हस्त—उत्साहार्थक √दक्ष् से या दानार्थक √दाश् से बना है। हस्त √हन् (मारना) से बना है क्योंकि मारने में तेज है।

देहि स्तोतृभ्यः कामान्। मा अस्मान् अतिदंहीः। मा अस्मान् अतिहाय दाः। भगो नोऽस्तु। बृहद् वदेम स्वे वेदने। भगो भजतेः। बृहत् इति महतो नामधेयम्। परिवृढं भवति। वीरवन्तः। कल्याणवीराः वा। वीरो वीरयति अमित्रान्। वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। वीरयतेर्वा॥

स्तुति करनेवालों को काम (इष्ट वस्तु) दो। हमें मत जलाओ। हमें छोड़ते हुए [किसी दूसरे को] मत दो। हमारा कल्याण हो। हम अपने घर में जोरों से बोलें। भग √भज् (पूजन) से बना है। बृहत् = महान्, क्योंकि परिवृढ (मजबूत) है। [सुवीराः =] पुत्रवाले या कल्याणकारी पुत्र-वाले। वीर शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करता है (वि + √ईर्), या गत्यर्थक √वी से, या √वीरय् (वीर-सा काम करना) से बना है।

'सीम्' इति परिग्रहार्थीयो वा। पदपूरणो वा। 'प्र सीमादित्यो असृजत्'। प्रासृजत् इति वा। प्रासृजत् सर्वतः इति वा। 'वि सीमतः सुरुचो वेन आवः' इति च। व्यावृणोत् सर्वतः आदित्यः। सुरुचः आदित्यरश्मयः सुरोचनात्। अपि वा, 'सीम' इत्येतत् अनर्थकम् उपबन्धम् आददीत पञ्चमीकर्माणम्। सीम्नः= सीमतः—सीमातः—मर्यादातः। सीमा=मर्यादा, विषीव्यति देशाविति॥ 'त्व' इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनाम अनुदात्तम्। अर्धनाम इत्येके॥ ७॥

(१३) सीम्—सर्वत्र के अर्थ में या पदपूरण होता है जैसे—अदिति का पुत्र (वरुण) तेजी से जाय (ऋ० २।२८।४)। तेजी से जाय (पदपूरण होने पर), या—सर्वत्र तेजी से जाय (दोनों अर्थ सम्भव हैं)। चमकनेवाले आदित्य ने

सर्वत्र खोल दिया (मैत्रा० सं० २।७।१५) = आदित्य ने सब खोल दिया। आदित्य की किरणें अधिक चमकने के कारण 'सुरुच' हैं। अथवा 'सीम' शब्द अपादान ग्रहण करनेवाले [तः] प्रत्यय (उपबन्ध) को बिना किसी विशेष अर्थ के (स्वार्थ में ही) लगाता है। सीमन्–सीम–सीमा–मर्यादा से। सीमा = मर्यादा, क्योंकि दो देशों को अलग करती है (वि + √षिवु)। (१४) त्व– रुकावट के अर्थ में अनुदात्त सर्वनाम है, कुछ लोग इसे 'आधा' का पर्याय मानते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—'च' से लेकर 'सीम्' तक तेरह कर्मोपसंग्रह हैं। चौदहवां सर्वनाम है।

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥

(त्वः) एक (पुपुष्वान्) पोषण करनेवाला पुरोहित (ऋचाम्) ऋचाओं की (पोषम्) वृद्धि करने में (आस्ते) लगा है। (त्वः) एक दूसरा पुरोहित (शक्वरीषु) शक्वरी-नामक छन्दों में (गायत्रम्) गायत्री छन्द को=गेय छन्द को (गायति) गाता है। (त्वः) एक दूसरा पुरोहित (ब्रह्मा) ब्रह्मा है, जो (जातविद्याम्) समय-समय पर समाधान (वदति) बतलाता है। (उ) और (त्वः) एक पुरोहित तो (यज्ञस्य) यज्ञ का (मात्राम्) परिमाण विमिमीते नापता है = सम्पादन करता है ॥ (ऋ० १०।७१।११) ॥

विशेष—पुपुष्वान्—√पुष् + लिट् (क्वसु प्रत्यय) = पोषक। चारों पादों में क्रमशः होता (ऋग्वेद), उद्गाता (साम), ब्रह्मा (अथर्व) तथा अध्वर्यु (यजुः) का उल्लेख है। इससे यह न समझें कि इस ऋचा के समय सभी वेद विद्यमान थे। यज्ञ का प्रयोजन देखकर ही इनका संग्रह किया गया है। शक्वरी छः पदोंवाला छन्द है जिसे तीन पदोंवाली गायत्री बनाकर उद्गाता गाता है।

इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगम् आचष्टे। ऋचाम् एकः पोषम् आस्ते पुपुष्वान्–होता। ऋक्=अर्चनी। गायत्रम् एको गायति शक्करीषु–उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्यः ऋचः शक्नोतेः। 'तद् याभिः वृत्रमशकद् हन्तुं तत् शक्वरीणां शक्वरीत्वम्'—इति विज्ञायते।

इस प्रकार याज्ञिकों के कार्यों का विभाजन कहा गया है। एक पोषण करनेवाला ऋचाओं की वृद्धि में लगा हुआ है—वह 'होता' है। ऋक = पूजा का साधन (√अर्थ)। एक शक्वरियों (छः पाद वाली ऋचाओं) में गायत्री छन्द का गान करता है—वह 'उद्गाता' है। 'गायत्र' स्तुति अर्थवाले √गै से बना है। शक्वरी ऋचाएँ √शक् से। 'जिनके द्वारा वृत्र राक्षस मारा जा सका' यही शक्वरियों की विशेषता है—यह मालूम होता है।

विशेष—निरुक्त में ब्राह्मण-ग्रन्थों के बहुत से वाक्य उद्धृत हैं जो निर्वचन से सम्बन्ध रखते हैं। 'विज्ञायते' के द्वारा जितने उद्धरण हैं वे ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही हैं। ब्राह्मणों के ये ही विषय हैं—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥ (श० भा० ॥)

ब्रह्मा एको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुम् अर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुततः। ब्रह्म परिवृढं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीते एकः अध्वर्युः। अध्वर्युः=अध्वरयुः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयते इति वा। अपि वा अधीयाने 'युः' उपबन्धः। अध्वरः इति यज्ञनाम। ध्वरतिः हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः॥

एक 'ब्रह्मा' है जो प्रत्येक कठिन प्रसङ्ग का समाधान बतलाता है। ब्रह्मा सर्वज्ञ है; सब कुछ जान सकता है। 'ब्रह्मा' वेदों में पूरा कुशल है। ब्रह्म सब से बड़ा (परिवृढ) है। एक 'अध्वर्यु' है जो यज्ञ का परिमाण नापता है (सम्पन्न करता है)। अध्वर्यु = अध्वरयु (र के अ का लोप) = अध्वर को जोड़ने-वाला। अध्वर का नेता या अध्वर की कामना करनेवाला (क्यङ् प्रत्यय)। अथवा अध्ययन के अर्थ में 'यु' प्रत्यय लगा है। 'अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। √ध्वर = हिंसा करना, इसका निषेध (अहिंसा)॥

निपात इत्येके। तत्कथम्। अनुदात्तप्रकृति नाम स्यात्? दृष्टव्ययं तु भवति। 'उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः' इति द्वितीयायाम्। 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' इति चतुर्थ्याम्। अथापि प्रथमाबहुवचने॥ ८॥

कुछ लोगों के अनुसार [त्व] निपात है। नहीं तो संज्ञा-शब्द किस प्रकार अनुदात्त हो सकता है? फिर भी इस (त्व का) रूप-परिवर्तन देखा जाता है,

जैसे—मित्रता के विषय में कुछ को स्थिर होकर (अर्थं) ज्ञान करनेवाला कहते हैं (ऋ० १०।७१।५)—यहाँ द्वितीया में। कुछ के लिये वह शरीर फैलाती है (ऋ० १०।७१।४)—यहाँ चतुर्थी में। प्रथमा बहुवचन में भी होता है—॥ ८ ॥

विशेष—चूँकि रूप-परिवर्तन होनेवाली संज्ञाओं में अन्तिम स्वर उदात्त होता है परन्तु 'त्व' अनुदात्त है इसलिए यह अवश्य ही निपात (अव्यय) होगा, तथापि इसका रूप-परिवर्तन देखा गया है। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह सर्वनाम (अनुदात्त) है कि निपात। दोनों ऋचाओं की व्याख्या आगे देखें (नि० १।१९–२०) ॥ ८ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥

(अक्षण्वन्तः) आँख से युक्त और (कर्णवन्तः) कान से युक्त (सखायः) मित्रगण (मनोजवेषु) बुद्धि के वेग में = ज्ञान में (असमाः) बराबर नहीं (बभूवुः) हुए (उ त्वे) और कुछ तो (आदघ्नासः) मुंह तक जलवाले (ह्रदा इव) तालाब के समान, कुछ (उपकक्षासः) काँख तक जलवाले [तालाब के समान] तथा (उ त्वे) कुछ लोग (स्नात्वाः) स्नान करने योग्य [तालाब के समान] (ददृश्रे) दिखलाई पड़े (ऋ० १०।७१।७) ॥

विशेष—जिस प्रकार तालाबों की गहराई भिन्न-भिन्न होती है—किसी में भरमुंह पानी, किसी में काँखभर, किसी में केवल स्नान करने ही योग्य—उसी प्रकार विद्वानों की बुद्धि भी भिन्न-भिन्न है अर्थात् वे बुद्धि के वेग में विषम हैं। सखा का अर्थ यहाँ कवि है जो कई प्रकार के हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

अक्षिमन्तः कर्णवन्तः सखायः। 'अक्षि' चष्टेः। अनक्तेः इति आग्रायणः। 'तस्मादेते व्यक्ततरे इव भवतः' इति ह विज्ञायते। 'कर्णः' कृन्ततेः। निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेः इति आग्रायणः। ऋच्छन्ति इव, खे उदगन्तामिति ह विज्ञायते।

आँख से युक्त और कान से युक्त मित्रगण। 'अक्षि' √चष् (खाना) से बना है। आग्रायण कहते हैं कि √अञ्ज (प्रकाशित करना) से बना है। इसलिये ये [आँखें समूचे शरीर की अपेक्षा] अधिक व्यक्त-सी होती हैं—यह

मालूम होता है। 'कर्ण' √कृन्त (काटना) से बना है। इसका द्वार कटा हुआ होता है। आग्रायण कहते हैं कि √ऋच्छ (जाना) से बना है, क्योंकि [शब्द कानों में] जाते हुए-से मालूम पड़ते हैं या ये कान ही आकाश में जाते हैं—यह मालूम होता है॥

मनसां प्रजवेषु असमाः बभूवुः। आस्यदघ्नाः अपरे। उपकक्षदघ्नाः अपरे। आस्यम् अस्यतेः। आस्यन्दते एनत् अन्नम् इति वा। दघ्नं दघ्यतेः स्रवतिकर्मणः। दस्यतेः वा स्यात्। विदस्ततरं भवति। प्रस्नेयाः=ह्रदा इव एके प्रस्नेया ददृशिरे। स्नानार्हाः। ह्रदो ह्रादतेः शब्दकर्मणः। ह्लादनेः वा स्यात् शीतीभावकर्मणः॥

मन (बुद्धि) के वेग में समान नहीं हुए। दूसरे केवल मुँह (आस्य) भर (दघ्न) ही थे। कुछ लोग काँख भर थे। 'आस्य' √अस् (फेंकना) से बना है। या अन्न इसमें बहता है (आ √स्यन्द)। 'दघ्न' √दघ् से बना है जिसका अर्थ है—बहना। या √दस् (क्षीण) से बना है क्योंकि विशेषतया क्षीणतर (दस्ततर) होता है = (सीमित कर देना)। नहाने लायक=कुछ लोग तालाब के समान नहाने लायक दिखे। स्नान के योग्य। 'ह्रद' √ह्राद = शब्द करना से या 'शीतल करना' अर्थ वाले √ह्लाद से बना है॥

विशेष—आदघ्न = आस्यदघ्न। दघ्न = मात्र। स्नात्वा = स्नान योग्य।

अथापि समुच्चयार्थे भवति। 'पर्याया इव त्वदाश्विनम्'। आश्विनं च पर्यायाश्च इति॥ अथ ये प्रवृत्ते अर्थे अमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणाः आगच्छन्ति, पदपूरणास्ते मिताक्षरेषु। अनर्थकाः। कम् ईम् इत् उ इति॥ ९॥

[यह 'त्व'] जोड़ने के अर्थ में भी होता है जैसे—[एक मत में] आश्विन को पर्याय-सा गाते हैं (कौषी० ब्रा० १४।४)। आश्विन को और पर्यायों को। अर्थ बतलाते हुए असीमित अक्षरों के खण्डों में (गद्य में) जो वाक्य की पूर्ति करने के लिये आते हैं वे सीमित अक्षरों वाले [पद्य में] पद की पूर्ति करते हैं। ये निरर्थक होते हैं। जैसे—कम्, ईम्, इत् और उ॥ ९॥

विशेष—निपातों के तीसरे भेद—पदपूरण—के विषय में कहा जा रहा है। ग्रन्थ = खण्ड। अमिताक्षर = गद्य जिसमें कई अक्षर रहते हैं, कोई सीमा नहीं। मिताक्षर = निश्चित अक्षरों का पद्य॥ ९॥

निष्ट्वक्त्रासश्चिदिन्नरो भूरितोका वृकादिव ।
बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे शिशिरं जीवनाय कम् ॥

(निःत्वक्त्रासः) विना वस्त्र के (नरः) मनुष्य (चित् इत) ही (भूरितोकाः) बहुत सन्तान वाले बनकर (वृकात् इव) मानों भेड़िये से (बिभ्यस्यन्तः) डरते हुए (ववाशिरे) रोने-चिल्लाने लगे कि (शिशिरम्) शिशिर ऋतु (जीवनाय) जीवन-दान करे (कम्)—॥

विशेष—'कम्' पदपूरण है। गरीब आदमी जाड़े में कपड़े न रहने पर रोते हैं मानों भेड़ियों से डरकर रो रहे हों ॥

शिशिरं जीवनाय । शिशिरं शृणातेः शम्नातेः वा । 'एमेनं सृजता सुते' । आसृजत एनं सुते । 'तमिद्वर्धन्तु नो गिरः' । तं वर्धयन्तु नो गिरः स्तुतयः। गिरो गृणातेः। 'अयमु ते समतसि'। अयं ते समतसि।इवोऽपि दृश्यते । 'सुविदुरिव' । 'सुविज्ञायेते इव' । अथापि 'न' इति एषः 'इत्' इत्येतेन संप्रयुज्यते परिभये ॥१०॥

शिशिर जीवन के लिये [हो]। 'शिशिर' √शॄ या √शम् (मारना) से। (आ ईम् एनम्०) निचोड़ने पर इसे बहने दो (ऋ० १।९।२)। उसे हमारी स्तुतियाँ बढ़ायें (ऋ० ९।६१।१४)। गिरः = स्तुतियाँ । 'गिरः' √गॄ (स्तुति) से। यही [वह सोम] है जिस पर तुम गिरते हो (ऋ० १।३०।४)। 'इव' भी [पद-पूरण के रूप में] देखा जाता है जैसे—उन्होंने जाना (काठकसं ८।१३)। मालूम होते हैं (काठकसं ६।२)। इसके अलावे 'न' के साथ 'इत्' भय दिखाने में आता है ॥ १० ॥

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान् ।
शचीर्मदन्त उत दक्षिणाभिर्नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम ॥

(एके) कुछ लोग (हविर्भिः) हवि के द्वारा (इतः) यहीं से (स्वः) स्वर्ग (सचन्ते) पाते हैं, (एके) कुछ लोग तो (सवनेषु) सोम चुआने के समय में (सोमान्) सोमों को (सुन्वन्तः) चुआते-चुआते [स्वर्ग पाते हैं]। (उत) फिर (दक्षिणाभिः) दान से (शचीः) शक्तियों को (मदन्तः) प्रसन्न करके [कहती हैं कि] (जिह्मायन्त्यः) पाप करते-करते (नरक) नरक में (न इत्) कहीं न (पताम) गिर पड़े ॥ (खिल २४।१)।

विशेष—असुरों की पत्नियों की यह उक्ति है। प्रो० राजवाड़े का कहना है कि यास्क ने केवल अन्तिम चरण ही उद्धृत किया होगा क्योंकि उतने अंश की ही व्याख्या आगे करते हैं। 'पताम' में 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (पा० सू० ३।४।८) सूत्र के अनुसार आशंका के अर्थ में लेट् लकार हुआ है (देखें सिद्धान्त-कौमुदी, वैदिकी प्रक्रिया का तृतीय अध्याय)।

नरकं नि अरकम्। नीचैः गमनम्। न अस्मिन् रमणं स्थानम् अल्पम् अपि अस्ति इति वा। अथापि 'न च' इत्येष 'इत्' इत्येतेन संप्रयुज्यते अनुपृष्टे। 'न चेत्सुरां पिबन्ति' इति। सुरा सुनोतेः। एवम् उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति। ते उपेक्षितव्याः॥ ११॥

नरक=नि अरक=नीचे जाना। अथवा जिसमें रमणीय-स्थान थोड़ा भी नहीं। 'न च' के बाद 'इत्' मिलने से दुबारा पूछने के अर्थ में आता है जैसे—यदि वे सुरा न पीते हो तब? 'सुरा' √सु (चुआना) स, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थों में आते हैं। इन पर ध्यान देना चाहिये॥ ११॥

विशेष—यहाँ शब्दभेद का प्रकरण समाप्त हुआ॥ ११॥

चतुर्थ-पाद

इति इमानि चत्वारि पदजातानि अनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च। तत्र नामानि आख्यातजानि इति शाकटायनः नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणि इति गार्ग्यः वैयाकरणानां चैके॥

इस प्रकार ये चार पद-भेद बताये गये—नाम और आख्यात, उपसर्ग और निपात। शाकटायन और निरुक्तकारों का मत है कि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न हैं। गार्ग्य और कुछ वैयाकरणों का मत है कि कि सभी [नाम आख्यात से उत्पन्न] नहीं हैं॥

विशेष—वैयाकरण पाणिनि भी स्वीकार करते हैं कि सभी नाम (प्रातिपदिक) धातुओं से उत्पन्न नहीं। प्रातिपदिक की सिद्धि के लिये ये दो सूत्र रखते हैं (१) धातु से न उत्पन्न वाले प्रातिपदिकों के लिये—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) तथा (२) धातु से उत्पन्न होने वाले कुछ प्रातिपदिकों के लिए—कृत्तद्धितसमासाश्च (१।२।४६)। भाषाशास्त्र स्वीकार करता है कि शब्दों की उत्पत्ति धातु से अवश्य हुई है किन्तु सभी धातु क्रियात्मक ही नहीं। निरुक्तकार तो व्युत्पत्ति के प्रेमी हैं ही।

तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां······संविज्ञातानि तानि। यथा गौः अश्वः पुरुषः हस्तीति। अथ चेत्सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यः कश्च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत्सत्त्वं तथा आचक्षीरन्। यः कश्च अध्वानम् अश्नुवीत, अश्वः स वचनीयः स्यात्। यत् किञ्चित् तृन्द्यात् तृणं तत्। अथापि चेत् सर्वाणि आख्यातजानि नामानि स्युः, यावद्भिः भावैः संप्रयुज्येत तावद्भ्यः नामधेयप्रतिलम्भः स्यात्। तत्र एवं स्थूणा दरशया च आसञ्जनी च स्यात्॥ १२॥

तो जहाँ स्वर (उदात्तादि) और बनावट अर्थ से युक्त होकर अपने अधीनस्थ अर्थसम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) से सम्बद्ध हों [वे नाम आख्यातज हैं, जहाँ वे सम्बद्ध नहीं वे नाम] रूढ़ हैं जैसे गो, अश्व, पुरुष, हस्ती। [गार्ग्य कहते हैं कि] (१) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जो चीज भी वह काम करती, उसे वैसा ही कहते! जो कोई भी अध्व (मार्ग) का अशन (पार) करता उसे 'अश्व' कह देते!! जो कुछ भी तोड़ी जाती उसे 'तृण' कहते!!! पुनः (२) यदि सभी नाम आख्यात से उत्पन्न होते तो जिन-जिन क्रियाओं से कोई वस्तु सम्बद्ध होती उन-उन क्रियाओं के आधार पर उसका नामकरण होता! खम्भे (स्थूणा) को दर-शया (छेद में सोनेवाली), या आसंजनी (शहतीर धारण करनेवाली) कहते!!॥ १२॥

विशेष—प्रथम वाक्य में निश्चित रूप से कुछ शब्द छूट गए हैं जिनका अनुवाद काल्पनिक रूप से कोष्ठों के बीच किया गया है। संविज्ञात=रूढ़ जैसे गौ आदि, जिसमें धातु का पता नहीं। ये शब्द आख्यातज नहीं है। किन्तु वाक्य का प्रथम खण्ड आख्यातज शब्दों का निर्देश करता है। अतएव 'स्यातां' और 'संविज्ञातानि' के बीच कुछ शब्द छूटे हैं। दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में ऐसा ही किया है। कर्ता, कारक, पाचक आदि शब्दों में धातु स्पष्ट है, स्वर और बनावट सरल है, धातु का भी वही अर्थ है जो शब्द का—अतएव ये शब्द धातु से उत्पन्न है। किन्तु गौ, पुरुष आदि शब्द ऐसे नहीं, वे रूढ़ हैं। प्रदेश= क्षेत्र, अर्थात् शब्द का अपने क्षेत्र के ही = अपने अधीनस्थ धातु से सम्बन्ध; जैसे √कृ और कारक का सम्बन्ध प्रादेशिक है क्योंकि दोनों समान अर्थ रखते हैं। कुछ लोगों के अनुसार 'प्रदेश' का अर्थ व्याकरण या लक्षणशास्त्र है। यह

अर्थ रखने पर (प्रादेशिक गुण = व्याकरण-सम्मत विकार) भी दुर्गाचार्य की व्याख्या ठीक ही है। प्रो० मैक्समूलर उक्त वाक्य को पूर्ण मानते हुए कहते हैं कि यास्क गो इत्यादि उदाहरण आख्यातज शब्दों के देते हैं परन्तु यह विचार गलत है। प्रो० रॉथ लिखते हैं—गार्ग्य तथा कुछ वैयाकरण केवल उन्हीं शब्दों को आख्यातज मानते हैं जो स्वर और बनावट से युक्त हैं तथा किसी व्याख्यात्मक धातु (प्रादेशिक गुण) से सम्बद्ध हैं, इसके विरुद्ध भी गो आदि शब्द यदृच्छा से उत्पन्न हैं। डा० गुणे रॉथ के इस विचार से सहमत हैं तथा छूटे हुए शब्दों के लिए एक प्रस्ताव रखते हैं—यास्क इसके बाद गार्ग्य के विचारों का पूर्ण उद्धरण देकर उसका खण्डन करेंगे। १४वें परिच्छेद में उद्धरण देते समय 'स्यातां' के बाद 'सर्वं तत् प्रादेशिकम्' मिलता है, सम्भव है कि यह खंड छूट गया हो। इसके बाद गार्ग्य अपने विरोधी का मत खण्डित करते हैं ॥१२॥

अथापि य एषां न्यायवान् कार्मनामिकः संस्कारः, यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः, तथा एनानि आचक्षीरन्। पुरुषं पुरिशयः इति आचक्षीरन्। अष्टा इति अश्वम्। तर्दनमिति तृणम्। अथापि निष्पन्ने अभिव्याहारे विचारयन्ति—प्रथनात् पृथिवी इति आहुः। क एनाम् अप्रथयिष्यत्? किमाधारः चेति?

पुनः (३) इनमें जो व्याकरण के नियमों से युक्त, किसी [समानार्थक] क्रिया से उत्पन्न, नाम की बनावट (संज्ञा शब्द की रचना) है तथा जिनका अर्थ तुरत मालूम हो जाय—उन्हें (नामों को) लोग उन (धातुओं) के अनुसार ही पुकारते! 'पुरुष' को लोग पुरि-शय कहते! 'अश्व' को अष्टा कहते! 'तृण' को तर्दन कहते!! पुनः (४) किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं—√प्रथ (फैलाना) से पृथिवी बनी। तो इसे किसने फैलाया? और कहां बैठकर?

विशेष—न्याय = व्याकरण के नियम। 'कर्म (क्रिया) से निकला नाम-कर्मनाम, उससे उत्पन्न = कार्मनामिक संस्कार'—दुर्ग। उसी अर्थवाले धातु से बने शब्द की बनावट, जैसे, पुरुष—पुर् में शयन करनेवाला = पुर् + √शी से 'पुरुष' की बनावट। तब तो पुरिशय का भी अर्थ होता! अश्व और अष्टा दोनों √अश् (खाना) से बने हैं। तर्दन और तृण—√तृंद् (तोड़ना) से। आचक्षीरन् = √चक्षिङ् + विधिलिङ् = कहते!

अथ अनन्वितेऽर्थे, अप्रादेशिके विकारे, पदेभ्यः पदेतरार्द्धान् संचस्कार शाकटायनः। एतेः कारितं च यकारादिं च अन्तकरणम्। अस्तेः शुद्धं च सकारादि च। अथापि सत्वपूर्वो भावः इति आहुः। अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशो न उपपद्यते इति। तत् एतत् न उपपद्यते॥ १३॥

(५) अर्थ के असंगत होने पर और बनावट व्याकरण-सम्मत (या अधीनस्थ धातु से सम्बद्ध) न होने पर, शाकटायन, कई [आख्यात-] शब्दों से किसी शब्द के भिन्न-भिन्न खण्डों की बनावट करते हैं। ['सत्य' की बनावट में] √इ (जाना) के प्रेरणार्थक-रूप (णिजन्त) यकार को अन्त में रखा। √अस् (होना) के मूल-रूप के सकार को आदि में रखा। (६) इसके अलावे, कहा गया है कि क्रिया के पहले ही नाम पड़ जाता है। इसलिए बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर नामकरण नहीं होता। इस प्रकार यह [सिद्धान्त कि 'क्रिया से नाम पड़ता है'] उचित नहीं॥ १३॥

विशेष—शाकटायन-नामक, निरुक्त के प्रणेता जब देखते हैं कि शब्द और उसमें वर्तमान धातु, दोनों का अर्थ असंगत है तब एक ही शब्द में कई धातुओं की स्थिति समझते हैं जैसे 'सत्य' में √अस् और √इ। यास्क के व्याकरण-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के लिये, देखिए, भूमिका॥ १३॥

यथो हि नु वै एतम्। तद् यत्र स्वरसंस्कारौ समर्थौ—प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्यातां सर्वं प्रादेशिकम् इति। एवं सति अनुपालम्भ एष भवति।

यह जो कहा सो देखें—जहाँ स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थ सम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार (गुण) से सम्बद्ध हों वे सारे शब्द आख्यात से निकले (प्रादेशिक) हैं। इस प्रकार तो यह [हमारे सिद्धान्त से] उलटा नहीं ही हुआ।

विशेष—'यथो एतत्' का प्रयोग यास्क तब करते हैं जब पूर्वपक्ष का मत स्थापित करते हैं। इसका अर्थ होगा—'इस क्रम से जो कहा कि'; इसके बाद ये पूर्वपक्ष का पूरा वाक्य रखते हैं। इसलिए १२ वें परिच्छेद में निश्चित रूप से यही अंश होगा जिसे लेखक अपनी असावधानी से छोड़ गया है। इस मत से यास्क का कोई विरोध नहीं, क्योंकि जहाँ कारक, पाचक—जैसे शब्दों की ही

व्युत्पत्ति पूर्वपक्षी के मत से सम्भव है, यास्क के मत से सभी शब्द व्युत्पन्न है। कारक, पाचक-जैसे शब्दों को तो ये व्युत्पन्न मानते ही हैं। अतः केवल 'प्रदेश' (व्युत्पन्न होने वाले शब्दों का क्षेत्र) लेकर ही मतभेद है।

यथो एतत्। यः कः च तत्कर्म कुर्यात् सर्वं तत् सत्त्वं तथा आचक्षीरन् इति। पश्यामः समानकर्मणां नामधेयप्रतिलम्भम् एकेषां, न एकेषाम्। यथा तथा परिव्राजकः जीवनः भूमिज इति। एतेन एव उत्तरः प्रत्युक्तः॥

यह जो कहा कि 'जो चीज भी वह काम करती उसे वैसा ही कहते' (परि० १२); [इस सिद्धान्त से] देखते हैं कि कुछ समानार्थक शब्दों का नामकरण होता है, कुछ का नहीं, जैसे—तक्षा (लकड़ी काटनेवाला,-बढ़ई), परिव्राजक (घूमनेवाला, संन्यासी), जीवन (जीनेवाला, ईख का रस), भूमिज (भूमि से उत्पन्न, मङ्गलग्रह)। इसी से दूसरे आक्षेप का समाधान हुआ॥

विशेष—इन वाक्यों में यास्क गार्ग्य के आक्षेपों का उत्तर दे रहे हैं। 'तक्षा' का वास्तविक अर्थ हुआ 'लकड़ी काटनेवाला' पर रूढ अर्थ है—बढ़ई। सभी लकड़ी काटनेवालों को 'तक्षा' नहीं कह सकते। उत्तर = आगे का आक्षेप—देखें परि० १२—जिन-जिन क्रियाओं से कोई···॥

यथो एतत्। यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युस्तथा एनानि आचक्षीरन् इति। सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽपि ऐकपदिकाः। यथा व्रतति, दमूनाः, जाट्यः, आट्णारः, जागरूकः, दर्विहोमी इति।

यह जो कहा कि 'जिनका अर्थ तुरत मालूम हो जाय, उन (नामों को) लोग (धातुओं के) अनुकूल कहते' (परि० १३)—इस तरह के कृदन्त से बने शब्द तो प्रयोग में कम आनेवाले हैं तथा ऐकपदिक-काण्ड में गिनाये गये हैं जैसे—व्रतति, दमूना, जाट्य (जटावाला), आट्णार (घूमनेवाला), जागरूक (जागने वाला), दर्विहोमी (कलछी से होम करनेवाला)।

विशेष—ये उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें ऐकपदिक-काण्ड में गिनाया गया है जहाँ प्रायः सभी शब्द कठिन तथा अनियमित हैं। व्रततिः—वरणाच्च, सयनाच्च, तननाच्च (नि० ६।२८)। दमूनाः—दममनाः वा, दानमनाः वा, दान्तमनाः वा, अपि वा—दम इति गृहनाम, तन्मनाः स्यात् (नि० ४।४)। दुर्ग के अनुसार ये सभी शब्द नियम के अनुकूल निष्पन्न हैं तथा स्पष्ट अर्थ वाले हैं।

यथो एतत् । निष्पन्ने अभिव्याहारे अभिविचारयन्ति इति । भवति हि निष्पन्ने अभिव्याहारे योगपरीष्टिः । प्रथनात् पृथिवी-त्याहुः, कः एनाम् अप्रथयिष्यत् किमाधारश्च इति । अथ वै दर्शनेन पृथुः, अप्रथिता चेत् अपि अन्यैः । अथापि एवं सर्व एव दृष्टप्रवादाः उपालभ्यन्ते ।

यह कहा कि 'किसी शब्द के व्यवहार में चल पड़ने पर लोग उसकी उत्पत्ति पर विचार करते हैं' क्योंकि व्यवहार होने पर ही शब्द के निर्माण की जाँच होती है । √प्रथ् (फैलाना) से पृथिवी बनी तो इसे किसने फैलाया और कहां बैठकर ? देखने में तो यह फैली हुई लगती है न ? भले ही किसी ने इसे नहीं फैलाया हो । इसके अलावे, सभी लोग तो देखकर (दृष्ट) नाम देनेवाले (प्रवाद) पाये जाते हैं ।

विशेष—योगपरीष्टि=शब्द-निर्माण पर विचार । दृष्ट-प्रवाद = वस्तुओं को देखकर नाम देनेवाले लोग । अनुभव के बाद ही नाम दिये जाते हैं ।

यथो एतत् । पदेभ्यः पदेतरार्धान् संचस्कार इति । यः अनन्विते अर्थे संचस्कार स तेन गर्ह्यः । सा एषा पुरुषगर्हा ॥

यह कहा कि 'कई [आख्यात] शब्दों से किसी शब्द के भिन्न-भिन्न खण्डों की बनावट करते हैं । जो असम्बद्ध अर्थ में बनावट करते हैं वे उस तरह की बनावट के द्वारा निन्दनीय हैं । यह [व्युत्पत्ति करनेवाले] पुरुष की निन्दा है' ॥

यथो एतत् । अपरस्मात् भावात् पूर्वस्य प्रदेशः न उपपद्यते इति । पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानाम् अपरस्मात् भावात् नामधेय-प्रतिलम्भमेकेषां न एकेषाम् । यथा बिल्वादः लम्बचूडकः इति । बिल्वं भरणात् वा भेदनात् वा ॥ १४ ॥

यह कहा कि 'बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर पूर्व में [होनेवाले शब्द का] नामकरण नहीं होता' यहाँ देखते हैं कि पूर्व में होनेवाली वस्तुओं का नामकरण बाद में होनेवाली क्रिया के आधार पर कुछ दशाओं में होता है, कुछ में नहीं । जैसे—बिल्वाद, लम्बचूडक । 'बिल्व' √भृ (भरण) या √भिद् (फोड़ना) से बना है ॥ १४ ॥

विशेष—प्रदेश = नामकरण। बिल्वाद = बेल का फल खानेवाला एक पक्षी। लम्बचूडक—यद्यपि इस पक्षी की लम्बी छोटी बहुत बाद में होती है फिर भी इसे लम्बचूडक कहते हैं। यहीं शब्दों का आख्यातजवाद समाप्त हो गया। यास्क का निष्कर्ष है कि सभी शब्द आख्यात से उत्पन्न हैं (देखिये भूमिका) ॥ १४ ॥

पञ्चम-पाद

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थम् अप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानम्। व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। स्वार्थसाधकं च। यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थकं भवति इति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेन उपेक्षितव्यम्।

इस (निरुक्त) के बिना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं होता। अर्थ का ज्ञान नहीं रखनेवाला निश्चित-रूप से स्वर और बनावट का निर्णय नहीं कर सकता। यह (निरुक्त) एक विद्यास्थान है, व्याकरण का पूरक तथा अपने कार्य (वेद-व्याख्या) का भी साधक है। कौत्स कहते हैं कि यदि [निरुक्त] मन्त्र का अर्थबोध कराने के लिए है तो व्यर्थ है, क्योंकि मन्त्र स्वयं अर्थ से रहित हैं। इस [निरुक्त] के द्वारा इसका निर्णय देखें।

विशेष—'अथापि' का प्रयोग बतलाता है कि निरुक्त का कोई अन्य प्रयोजन भी है—वह है 'शब्दों का निर्वचन करना' जिसका वर्णन होने जा रहा है। उद्देश = निर्णय। विद्यास्थान कुल चौदह हैं—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ (या० स्मृ० १।३)

अर्थात् ४ वेद, ६ अङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र। मीमांसा-दर्शन के मन्त्राधिकरण (१।२।३१–१।२।५३) में पूर्वपक्ष से सम्भवतः कौत्स या उनके मतवादी ही बोलते हों। आगे हम उनके मतों की तुलना सूत्रों से करेंगे।

नियतवाचोयुक्तयः, नियतानुपूर्व्याः भवन्ति। अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते। 'उरु प्रथस्व' इति प्रथयति। 'प्रोहाणि' इति प्रोहति। अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति। 'ओषधे त्रायस्व एनम्'। 'स्वधिते मा एनं हिंसीः' इत्याह हिंसन् ॥

(१) निश्चित शब्दों की योजना हुई है (= उनके स्थान पर दूसरे शब्द नहीं रख सकते) और (२) उनका क्रम भी निश्चित है। (३) इसके अलावे ब्राह्मणों के द्वारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चित किये जाते हैं। 'चारों ओर फैलाओ' (मै० सं० १।१।९) तो फैलाता है (मै० सं० ६।१।१)। 'ठेलूँ' तो ठेलता है। (४) इसके अलावे उनके अर्थ असंगत हैं—'हे ओषधि ! इसे बचाओ' (मै० सं० ३।९।२। काठक० २६।३)। मारते हुए कहता है—'हे कुल्हाड़ी, इसे मारो मत' ॥

विशेष—जैमिनि अपने मीमांसा-दर्शन के मन्त्राधिकरण में इन तर्कों को सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं—(१) और (२) के लिए वे 'वाक्य-नियमात्' (१।२।३२), (३) के लिये 'तदर्थशास्त्रात्' (१।२।३१), तथा (४) के लिये 'अचेतने अर्थबन्धनात्' (१।२।३५) सूत्र देते हैं। विशेष विवरण के लिए इन पर शबरभाष्य या सायण की ऋग्वेदभाष्यभूमिका देखें।

अथापि विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति। 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः'+'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्'। 'अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे'+'शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः' इति। अथापि जानन्तं संप्रेष्यति। 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति। अथापि आहुः अदितिः सर्वमिति—'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इति। तदुपरिष्टात् व्याख्यास्यामः। अथापि अविस्पष्टार्थाः भवन्ति। अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति ॥ १५ ॥

(५) इसके अलावे विरोधी अर्थवाले भी हैं—'एक ही रुद्र था दूसरा नहीं' और 'जो असंख्य, हजारों रुद्र पृथ्वी पर हैं…' (मै० सं० २।९।९)। 'हे इन्द्र, तुम शत्रुहीन उत्पन्न हुए हो' (ऋ० १०।१३३।२) और 'इन्द्र ने सैकड़ो शत्रुसेनायें एक साथ जीत ली' (ऋ० १०।१०३।१)। (६) पुनः, जानकार को ही विधि बतलाते हैं—[अध्वर्यु सर्वज्ञ होता को कहता है कि] 'अग्नि के लिए सामिधेनी ऋचायें पढ़ो' (मै० सं० १।४।११)। (७) यह भी कहा है कि अदिति सब कुछ है—'अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है' (ऋ० १।८९।१०)। इसकी व्याख्या बाद में करेंगे (नि० ४।२३)। (८) पुनः, वे (मन्त्र) अस्पष्ट अर्थवाले हैं जैसे—अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका ॥ १५ ॥

विशेष—इन तर्कों के लिये जैमिनि निम्नलिखित सूत्र देते हैं—(५) के लिये 'अर्थविप्रतिषेधात्' (१।२।३६), (६) के लिये 'बुद्धशास्त्रात्' (१।२।३३) (७) के लिये वही 'अर्थविप्र०', (८) के लिये 'अविज्ञेयात्' (१।२।३८)। उत्तरपक्ष अब आरम्भ होगा जिसमें प्रत्येक तर्क काटा जायगा ॥ १५ ॥

अर्थवन्तः शब्दसामान्यात् । 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं, यद्रूपसमृद्धं, यत्कर्म क्रियमाणम् ऋग्यजुः वा अभिवदतीति च ब्राह्मणम्' । 'क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' । यथो एतत् । 'नियतवाचोयुक्तयो, नियतानुपूर्व्याः भवन्ति' इति । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा—इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ इति । यथो एतत् । 'ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते' इति । उदितानुवादः स भवति । यथो एतत् । 'अनुपपन्नार्थाः भवन्ति' इति । आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयेत ॥

[लौकिक और वैदिक वाक्यों में] शब्द की समानता होने के कारण वे (मन्त्र) अर्थयुक्त हैं। 'यज्ञ की पूर्णता यही है कि प्रयोजन बतलाये जाने पर पूर्ण होते हैं तथा किये जाने वाले कर्म का वर्णन ऋग् या यजुः करते हैं'—ऐसा भी ब्राह्मण में कहा है (गोपथ ब्रा० २।२।६ या २।४।२)। [विवाह का प्रयोजन बतलानेवाला मन्त्र हैं—] 'बेटे और पोतों के साथ तुम दोनों खेलते हुए······' (१०।८६।४२)।

(१–२) यह जो कहा कि 'निश्चित शब्दों की योजना हुई और उनका क्रम भी निश्चित है।' ऐसा तो लोक में भी देखते हैं' जैसे–इन्द्राग्नी, पितापुत्रौ।

(३) यह जो कहा कि 'ब्राह्मणों के द्वारा उनके प्रयोजन (रूप) निश्चित होते हैं।' यह कहे हुये कि आवृत्ति है। [तुल० जै० गुणार्थेन पुनः श्रुतिः १।२।४१, परिसंख्या १।२।४२, अर्थवादो वा १।२।४३]।

(४) यह जो कहा कि 'उनके अर्थ असंगत है'। इसमें वेद के वाक्य से अहिंसा का ज्ञान हो सकता है [तुल० अभिधानेऽर्थवादः १।२।४६] ॥

यथो एतत् । 'विप्रतिषिद्धार्थाः भवन्ति' इति । लौकिकेषु अपि एतत् । यथा असपत्नोऽयं ब्राह्मणः । अनमित्रो राजा इति । यथो एतत् । 'जानन्तं संप्रेष्यति' इति । जानन्तम् अभिवादयते।

जानते मधुपर्कं प्राह। यथो एतत्। 'अदितिः सर्वमिति'। लौकिकेषु अपि एतत्। यथा—सर्वरसाः अनुप्राप्ताः पानीयम् इति। यथो एतत्। 'अविस्पष्टार्थाः भवन्ति' इति। नैष स्थाणोः अपराधः यदेनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति ॥ १६ ॥

(५) यह जो कहा कि 'विरोधी अर्थवाले हैं', ऐसा तो लौकिक वाक्यों में भी है जैसे—यह ब्राह्मण शत्रुहीन है, यह राजा शत्रुहीन है। [तुल० जै० गुणादविप्रतिषेधः स्यात् १।२।४७]।

(६) यह कहा कि 'जानकार को ही विधि बतलाते हैं', यह जानकार का अभिवादन है। जाननेवाले के सामने ही (विवाह में) 'मधुपर्क' कहा जाता है। [तु० संप्रैषकर्मणो गर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् १।२।५५]।

(७) यह कहा कि 'अदिति सब कुछ है', ऐसा लौकिक वाक्यों में भी है जैसे—पानी में सब रस प्राप्त है।

(८) यह कहा कि 'अस्पष्ट अर्थवाले हैं'। यह सूखे वृक्ष का दोष नहीं कि उसे अन्धा नहीं देख पाता। यह उस व्यक्ति का ही दोष है। जैसे—मनुष्यों के साधारण कामों में (जानपदी) ज्ञान के कारण मनुष्यों में अन्तर होता है [वैसे ही वेद में भी अर्थज्ञान के विषय में मनुष्यों में भेद होता है, सभी वेद नहीं समझ सकते]। परम्परा से ज्ञान पानेवाले लोगों में तो अधिक विद्यावाला ही प्रशंसनीय होता है। [तु० सतः परमविज्ञानम् १।२।४९] ॥ १६ ॥

विशेष—मधुपर्क = दही और मधु का घोल जिसे पुरोहित, ब्रह्मचारी, राजा आचार्य, ससुर या जामाता को देते हैं। मधुपर्क देनेवाले को 'मधुपर्क' शब्द का उच्चारण तीन बार करना पड़ता है (आश्व० गृह्य० १।२४।७)। पारोवर्य = पर + अवर—आचार्य की परम्परा। दुर्गाचार्य कहते हैं कि कौत्स के सभी तर्कों का उत्तर यास्क ने अच्छी तरह से दिया है। वे कहते हैं—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुदिते च कारणे।
अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्खलु शास्त्रमर्थवत् ॥

षष्ठ-पाद

अथापि इदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' इति। पद्वत् अवसम्। गावः पथ्यदनम्। अवतेः गत्यर्थस्य। असो नामकरणः। तस्मात् न अवगृह्णन्ति। 'अवसायाश्वान्' इति। स्यतिः उपसृष्टो विमोचने। तस्मात् अवगृह्णन्ति ॥

पुनः, इस (निरुक्त) के बिना [सन्धिबद्ध] पदों का विभाग नहीं होता। 'हे रुद्र! पैरवाले भोजन पर कृपा करो' (ऋ० १०।१६९।१)। पैरों से युक्त भोजन = गायें, जो रास्ते का भोजन है। गति-अर्थवाले √अव् से 'अस' प्रत्यय लगा जो संज्ञा बनाता है। इसीलिए [पद-कार] इसका ग्रहण नहीं करते। 'घोड़ों को खोलकर' (ऋ० १।१०४।)। उपसर्ग के साथ (उपसृष्ट) √सो छोड़ने के अर्थ में होता है, इसलिए [पद-विभाग को] ग्रहण करते हैं ॥

विशेष—पहले उदाहरण में 'अवसाय' एक पद है, पद-पाठ करनेवाले यहां पद-विभाग नहीं मानते क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति है √अव् + अस। किन्तु दूसरे उदाहरण में 'अव' और 'साय' अलग पद माने गये हैं। निरुक्त जाननेवाला ही पदों का विभाग कर सकता है।

'दूतो निर्ऋत्या इदमा जगाम' इति। पञ्चम्यर्थप्रेक्षा वा षष्ठ्यर्थप्रेक्षा वा। आःकारान्तम्। 'परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व' इति। चतुर्थ्यर्थप्रेक्षा। ऐकारान्तम्। परः संनिकर्षः संहिता। पदप्रकृतिः संहिता। पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि ॥

'निर्ऋति से, या निर्ऋति का दूत आया' (ऋ० १०।१६५।१)। पंचमी या षष्ठी के अर्थ का निर्देशक 'आः' है (निर्ऋति + आः)। 'पीछे—निर्ऋति को कहो' (ऋ० १०।१६४।१)। चतुर्थी के अर्थ का निर्देशक 'ऐ' है। अत्यन्त समीप हो जाने को संहिता कहते हैं या पदों के स्वाभाविक रूप को संहिता कहते हैं (ऋक्प्राति० २।१)। [वेद की] सभी शाखाओं के प्रातिशाख्य के ऋक् मूल में पद ही है। [पद के बिना ऋ की व्याख्या असम्भव है।]

विशेष—चरण = वेद की शाखायें, उनके विभिन्न संस्करण। पार्षद = प्रातिशाख्य अर्थात् वैदिक पदपाठ का नियम बतलानेवाला ग्रन्थ। 'संहिता' की पहली परिभाषा पाणिनि (१।४।१०९) में भी है जिसे उन्होंने ऋक्प्रातिशाख्य से लिया है ॥

अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशाः भवन्ति। तद् एतेन उपेक्षितव्यम्। ते चेद् ब्रूयुः-'लिङ्गज्ञाः अत्र स्मः' इति। 'इन्द्रं नत्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति' इति। वायुलिङ्गं च इन्द्रलिङ्गं च आग्नेये मन्त्रे। 'अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व' इति। तथा अग्निः मान्यवे मन्त्रे। त्विषितः ज्वलितः। त्विषिरिति अपि अस्य॥ दीप्तिनाम भवति। अथापि ज्ञानप्रशंसा भवति अज्ञाननिन्दा च ॥१७॥

इसके अलावे यज्ञकर्म में देवताओं के विषय में बहुत-सी विधियां (प्रदेश) होती हैं। उन्हें इस (निरक्त) के द्वारा देखें। वे (निरुक्त के ज्ञाता) कहते हैं कि हम इस विषय में (देवताओं के) चिह्न पहचानते हैं। 'तुम्हें बल के कारण देवता लोग इन्द्र-सा या वायु-सा पूजते हैं' (ऋ० ६।४।७)। यहाँ अग्नि के मंत्र में वायु और इन्द्र के चिह्न हैं। 'हे मन्यु (क्रोध-देव), प्रज्वलित होकर अग्नि-सा विजय पाओ' (ऋ० १०।८४।२)—उसी प्रकार मन्यु के मंत्र में अग्नि [का चिह्न है]। त्विषित = ज्वलित। 'त्विषि' भी इसी से होता है जो दीप्ति का पर्याय है।

इसके अलावे ज्ञान की प्रशंसा और अज्ञान की निन्दा होती है ॥ १७ ॥

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

(यः) जो (वेदम्) वेद को (अधीत्य) पढ़कर (अर्थम्) अर्थ (न विजानाति) नहीं जानता, (अयं) वह (स्थाणुः) सूखा वृक्ष (किल) बस (भारहारः) भार ही ढोनेवाला (अभूत्) हुआ। (यः अर्थज्ञः) जो अर्थ जाननेवाला है (सकलम्) समूचे (इत्) ही (भद्रम्) कल्याण को (अश्नुते) पाता है, वह (ज्ञानविधूतपाप्मा) ज्ञान से पापों को धोकर (नाकम्) स्वर्ग (एति) जाता है ॥

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥

(यद्) जिसे (गृहीतम्) पाया = रट लिया, पर (अविज्ञातम्) समझा नहीं, वह केवल (निगदेन) शब्द से (एव) ही (शब्द्यते) ध्वनित होता है। (तत्) वह (शुष्कैधः) सूखी लकड़ी (अनग्नौ इव) जैसे अग्निहीन स्थान में (कर्हिचित्) कभी (न) नहीं (ज्वलति) जलती।

विशेष—जिसे केवल रट लिया गया है उसका फल पाठमात्र में ही है बाद में नहीं इसलिए अर्थज्ञान आवश्यक है।

स्थाणुः तिष्ठतेः। अर्थः अर्तेः। अरणस्थः वा ॥ १८ ॥

स्थाणु √स्था (बैठाना) से अर्थ √ऋ (जाना) से या √अर् + √स्था से बनता है ॥ १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

(उत) और (त्वः) कुछ तो (वाचम्) वाणी को (पश्यन्) देखते हुए भी (न) नहीं (ददर्श) देखते; (उत त्वः) और कुछ (एनाम्) इसे (शृण्वन्) सुनते हुए भी (न शृणोति) नहीं सुनते। (उतो त्वस्मै) और कुछ को तो वह (तन्वम्) शरीर (विसस्रे) खोल देती है, दिखाती है, (उशती) कामना करने वाली (सुवासाः) सुन्दर कपड़े पहने (जाया इव) पत्नी जैसे (पत्ये) पति को [शरीर दिखाती है।] (ऋ० १०।७१।४) ॥

विशेष—इस मन्त्र में कई स्वरभक्तियां हैं—शृणोतिएनाम्, तुअस्मै, तनुअं पढ़े। तभी छन्द की रक्षा सम्भव है। विसस्रे √सृज्—छोड़ देना, खोल देना।

अपि एकः पश्यन् न पश्यति वाचम्। अपि च शृण्वन् न शृणोति एनाम्। इति अविद्वांसम् आह अर्द्धम्। अपि एकस्मै तन्वं विसस्रे इति स्वम् आत्मानं विवृणुते ज्ञानम्। प्रकाशनम् अर्थस्य आह अनया वाचा। उपमा उत्तमया वाचा। जाया इव पत्ये कामयमाना सुवासा ऋतुकालेषु। यथा स एनां पश्यति स शृणोति। इति अर्थज्ञप्रशंसा। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १९ ॥

और कुछ वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते, और इसे सुनते हुए भी नहीं सुनते—इस आधे से मूर्ख के विषय में कहा है। और कुछ के लिये शरीर खोल देती है अर्थात् ज्ञान अपने आप को प्रकाशित कर देता है—इस वाक्य से अर्थ का प्रकाशन बतलाया गया है। अन्तिम वाक्य से उपमा बतलाई गई है। जैसे इच्छा करती हुई सुवसना पत्नी ऋतुकाल में पति को [शरीर खोलती

है]। जैसे वह इसे (पत्नी को) देखता है और सुनता है। यह अर्थ जानने वाले की प्रशंसा है ॥ इसके बाद की ऋचा स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥१९॥

विशेष—यहां पर प्रत्येक पंक्ति के लिये यास्क की टिप्पणी (Comments) ध्यान देने योग्य हैं ॥ १९ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

(उत) और (त्वं) कुछ को (सख्ये) वाणी की मित्रता के विषय में (स्थिरपीतम्) सुनिश्चित ज्ञान वाला (आहुः) कहते हैं, (एवं) उसे (वाजिनेषु) कठिन शब्द के स्थानों में (अपि) भी (न) नहीं (हिन्वन्ति) हरा सकते। (एष) दूसरे ये लोग (अधेन्वा) झूठी गाय की (मायया) माया से (चरति) चलते हैं, ये (अफला) फलरहित (अपुष्पाम्) फूलरहित (वाचं) वाणी को (शुश्रुवान्) सुने हुए होते हैं। (ऋ० १०।७१।५) ॥

विशेष—सभी प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार इस ऋचा में आधा अर्थज्ञ की प्रशंसा करता है, आधा अर्थ न जाननेवाले की निन्दा करता है। परन्तु श्रीराजवाड़े एक सुझाव देते हैं कि पूरी ऋचा में झूठे कवि का वर्णन है। सख्य = कवि का कर्म। स्थिरपीत = जिसका ज्ञान स्थिर है, नई सृष्टि में असमर्थ। वाजिन = कवियों की सभा। कुछ कवि अपने कर्म में स्थिर ज्ञान-वाले हैं, नई कविता की रचना नहीं कर सकते इसलिए सभाओं में लोग उन्हें नहीं भेजते ॥

अपि एकं वाक्सख्ये स्थिरपीतम् आहुः रममाणं विपीतार्थम् । देवसख्ये रमणीये स्थाने इति वा । विज्ञानार्थं यं न आप्नुवन्ति वाग्ज्ञेयेषु बलवत्सु अपि । अधेन्वा हि एष चरति मायया वाक्प्रतिरूपया । न अस्मै कामान् दुग्धे वाक् दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु। यो वाचं श्रुतवान् भवति अफलान् अपुष्पाम् इति। अफला अस्मै अपुष्पा वाक् भवति इति वा । किञ्चित्पुष्पफला इति वा। अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले । देवताध्यात्मे वा ॥

वचन से मित्रता के विषय में (जैसे कवितादि) कुछ लोगों को स्थिरपीत अर्थात् रमण करनेवाला या अर्थ जाननेवाला कहा गया है। अथवा देवता की मित्रता से युक्त रमणीय स्थान (देवलोक) में। अर्थ जाननेवाले की

समानता [दूसरे लोग] वचन के द्वारा ज्ञेय कठिन–[स्थलों] में भी नहीं कर सकते। वह (दूसरा) धेनु-हीन होकर माया से वाणी के भ्रम में चलता है। देवों और मनुष्यों के बीच दुही जानेवाली (दी जानेवाली) कामनाओं को, वाणी, ऐसे व्यक्ति को प्रदान नहीं करती। जो फल और फूल से रहित वाणी को सुने हुआ होता है, या वाणी उसके लिए फल और फूल से रहित हो जाती है। अथवा थोड़ा फूल-फलवाली हो जाती है। वाणी के अर्थ को फूल-फल कहा गया है। यज्ञ और देवता के ज्ञान क्रमशः फूल और फल हैं अथवा देवताज्ञान और आत्मज्ञान ही [फूल-फल हैं]।

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत-धर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तः अवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः। वेदं च वेदाङ्गानि च। बिल्मं = भिल्मम्। भासनमिति वा ॥

ऋषिगण धर्म (वैदिक ज्ञान) का साक्षात्कार किये हुए थे। उन्होंने धर्म का साक्षात्कार न किये हुए दूसरे लोगों को उपदेश द्वारा मंत्र दिये। उपदेश [की रक्षा] में कष्ट पाते हुए अन्य लोगों ने वर्गीकरण के लिये यह ग्रन्थ, वेद और वेदांग बनाये। बिल्म = भिल्म (भेदन) या भासन (चमकना) से ॥

विशेष—डा० बेलवलकर इन पंक्तियों से व्याकरण-शास्त्र की तीन अवस्थाओं का निर्देश करते हैं। देखिये—Systems of Sanskrit Grammar पृष्ठ ६ ('Three Periods of intellectual development'). डा० सरूप यहाँ वेदांग शब्द से यास्क का अभिप्राय ब्राह्मण-ग्रंथ था, ऐसा समझते हैं क्योंकि कतिपय वेदांगों की रचना यास्क के बाद हुई थी। निरुक्त को वेदांग-भिन्न मानना तथा ब्राह्मणों का अनिर्देश इसका सूचक है।

'एतावन्तः समानकर्माणो धातवः' धातुः दधातेः। 'एतावन्ति अस्य सत्त्वस्य नामधेयानि'। 'एतावताम् अर्थानाम् इदम् अभिधानम्'। नैघण्टुकमिदं देवतानाम। प्राधान्येन इदमिति। तत् अन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत्। 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्'। अश्वमिव त्वा बालवन्तम्। बालाः दंशवारणार्थाः भवन्ति। दंशो दशतेः ॥

'इतने धातु समान अर्थवाले हैं'। धातु √धा (धारण) से। 'इतने नाम इस वस्तु के हैं', 'इतनी वस्तुओं का यह नाम है'—यह देवता के नाम से सम्बद्ध नैघण्टुक हैं। यहां [देवता का नाम] प्रधानतया होता है। जब दूसरे देवता वाले मन्त्र में आता है वह भी नैघण्टुक ही है। जैसे—' [हे अग्नि !] तुम्हें

बालवाले घोड़े के समान' (ऋ० १।२७।१)। बाल दंश से बचानेवाले हैं। दंश √दश् (काटना) से ॥

विशेष—यद्यपि नैघण्टुक का लक्षण यास्क देते हैं परन्तु यह कहीं मिलता नहीं, कहीं तो देवता मुख्य रहते हैं, कहीं दूसरे के मन्त्र में स्थान पाते हैं, उपर्युक्त मन्त्र में अग्नि के मन्त्र में 'अश्व' आ गया है। अश्व के मुख्य गुण (केश होना) अग्नि के गुण हो गये हैं ॥

'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः'। मृगः इव भीमः कुचरः गिरिष्ठाः। मृगः मार्ष्टेः गतिकर्मणः। भीमः बिभ्यति अस्मात्। भीष्मः अपि एतस्मादेव। कुचरः इति चरतिकर्म कुत्सितम्। अथ चेत् देवताभिधानं, क अयं न चरति इति। गिरिष्ठाः गिरिस्थायी। गिरिः पर्वतः। समुद्गीर्णो भवति। पर्ववान् पर्वतः। पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेः वा। अर्धमासपर्व देवान् अस्मिन् प्रीणन्ति इति। तत्प्रकृति इतरत् सन्धिसामान्यात्। मेघस्थायी। मेघोऽपि गिरिः एतस्मात् एव ॥

'मृग-सा भयंकर, कुचर और पहाड़ पर बैठनेवाला' (ऋ० १०।१८०। २)। 'मृग' गति अर्थवाले √मार्ज से। 'भीम' = जिससे डरें (√भी), भीष्म भी इसी से। कुचरः = बुरे ढंग से चलना। यदि देवता का अर्थ लें तो 'कहाँ यह नहीं चलता'—[यह निर्वचन होगा]। गिरिष्ठाः = गिरि पर बैठनेवाला। गिरि = पर्वत क्योंकि ऊबड़-खाबड़ (समुद् √गृ) होता है। पर्वत = पर्व (संधि) से युक्त। 'पर्व' √पृ (भरना) या √प्री (प्रसन्न करना) से। अर्धमासपर्व = जिसमें देवताओं को प्रसन्न करें। इसी के आधार पर अन्य (अर्थ) संयोग की समानता के कारण होते हैं। [देवता-पक्ष में]—मेघ पर बैठने वाला; मेघ भी इसी कारण से गिरि कहलाता है।

तद् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतम् इति आचक्षते। तद् उपरिष्टात् व्याख्यास्यामः। नैघण्टुकानि नैगमानि इह इह ॥ २० ॥

जो नाम प्रधान स्तुतिवाले देवताओं के हैं, उसे दैवत कहते हैं। उसकी व्याख्या बाद में करेंगे (नि० ७-१२ अध्याय)। यहाँ पर नैघण्टुक और नैगम के नामों की [व्याख्या करेंगे] ॥ २० ॥

विशेष—अध्याय के अन्त में 'इह' शब्द की द्विरुक्ति हुई ॥ २० ॥

इति निरुक्ते प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम-पाद

अथ निर्वचनम्। तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेन अन्वितौ स्याताम्, तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथ अनन्विते अर्थे, अप्रादेशिके विकारे अर्थनित्यः परीक्षेत केनचित् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽपि अक्षरवर्णसामान्यात् निर्ब्रूयात्। न तु एव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारम् आद्रियेत। विशयवत्यः हि वृत्तयः भवन्ति। यथार्थं विभक्तीः संनमयेत्॥

अब निर्वचन आरम्भ होता है। तो जिन शब्दों में स्वर और बनावट अर्थ से युक्त होकर, अपने अधीनस्थ अर्थ-सम्बन्धी (प्रादेशिक) विकार से सम्बद्ध हों, उनका निर्वचन उसके अनुसार ही करें (१)। किन्तु [शब्द में दिखलाई पड़नेवाले धातु का] अर्थ असंगत होने पर या [शब्द का अर्थ रखनेवाले धातु से उस शब्द की व्युत्पत्ति करने में] विकार (आन्तरिक परिवर्तन) के व्याकरण-सम्मत न होने पर किसी रूप (धातु का या शब्द का) की समानता से अर्थ की सत्ता जाँच लें (२)। इस प्रकार की समानता न मिलने पर किसी स्वर या व्यञ्जन की समानता देखकर निर्वचन करें (३)। किन्तु ऐसा न हो कि निर्वचन ही न करें। ऐसे स्थलों में व्याकरण की व्युत्पत्ति का सहारा न लें क्योंकि रूप (संज्ञा या क्रिया की बनावट) सन्देहात्मक होते हैं। अर्थ के अनुसार विभक्तियों (पदभागों) की कल्पना करनी चाहिए।

विशेष—निर्वचन = व्युत्पत्ति द्वारा अर्थ बतलाना; 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति है √रम् + घञ् (अ), किन्तु निर्वचन है 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्'—इसमें धातु के साथ अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। यास्क निर्वचन करने के लिए तीन नियम बतलाते हैं (१) याग, पाक आदि शब्दों का निर्वचन तो साधारण रीति से ही सम्भव है। (२) कभी-कभी जो धातु शब्द में दिखलाई पड़ता है उसका अर्थ शब्द में नहीं, जैसे 'हस्त' में √हस् (अनन्वित अर्थ)। कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस धातु में उस शब्द का अर्थ है उस धातु से उक्त शब्द की व्युत्पत्ति करने में व्याकरण बाधा पहुँचाता है जैसे 'हस्त' में √हन् (अप्रादेशिक विकार)—ऐसी दशाओं में हम दोनों के रूपों की तुलना करेंगे कि कहीं

समानता है या नहीं जैसे √हन् से निघण्टु बना क्योंकि 'हन्' का कहीं-कहीं 'घ्' भी होता है। (३) यदि ऐसा अवसर भी न मिले तो एकाध अक्षर (स्वर) या वर्ण (व्यंजन) की समानता देखकर भी निर्वचन करें। जैसे 'शृङ्ग' का निर्वचन √शम् (मारना) से केवल 'श' की समानता पर। इन तीन नियमों का पालन यास्क सदा करते हैं। निर्वचन न करना अपनी मूर्खता प्रकट करना है—आखिर निरुक्त है किस लिए ? 'विभक्तीः संनमयेत्' की व्याख्या में दुर्ग, स्कन्द प्रभृति टीकाकार कहते हैं कि ऋचाओं की व्याख्या करने के समय यह ध्यान देना चाहिए कि सुप् विभक्तियों का व्यत्यय भी होता है, अतः अर्थानुसार उनका विपरिणाम करना चाहिए जैसे—हृत्सु शोकैः = हृदयानि शोकैः (निरु० ९।३३)। यदि यह अर्थ सही हो तो भाषा-परिवर्तन का संकेत यास्क-द्वारा किया गया है। स्वामी ब्रह्ममुनि (निरुक्तसम्मर्श, पृ० ६६) ने विभक्ति का अर्थ पद-विभाग माना है। तदनुसार निर्वचन करने का यह प्रकृष्ट सिद्धान्त होता है कि अर्थ देखकर ही पद का प्रकृति-प्रत्यय के रूप में विभाग करना चाहिए। निर्वचन-निरूपण के प्रसंग में यही अर्थ अच्छा है। संनमयेत् = कल्पना करें। निर्वचन करने के ये सामान्य सिद्धान्त हैं। विशेष सिद्धान्त इसके बाद सोदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

प्रत्तम् अवत्तम् इति धात्वादी एव शिष्येते। अथापि अस्तेः निवृत्तिस्थानेषु आदिलोपो भवति—स्तः सन्तीति[1]। अथापि अन्तलोपो भवति[2]—गत्वा गतमिति। अथापि उपधालोपो भवति[3]—जग्मतुः, जग्मुः इति। अथापि उपधाविकारो भवति[4]—राजा दण्डी इति। अथापि वर्णलोपो भवति—'तत्त्वा यामि' इति। अथापि द्विवर्णलोपः—तृचः इति। अथापि आदिविपर्ययो भवति—ज्योतिः, घनः, बिन्दुः, वाट्यः इति। अथापि आद्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोकः, रज्जुः, सिकताः, तर्कुः इति। अथापि अन्तव्यापत्तिः भवति ॥ १ ॥

'प्रत्त' और 'अवत्त' में धातु (√दा) का पहला अक्षर (द्) ही बचता है। गुण और वृद्धि से रहित स्थानों में (Weak terminations) √अस्

१. श्नसोरल्लोपः (पा० ६।४।१११)। ४. सर्वनामस्थाने० (६।४।८)।
२. अनुदात्तोपदेश० (पा० ६।४।३७)। इन्हन्० (६।४।१२)
३. गमहनजन० (पा० ६।४।९८)।

का पहला अक्षर लुप्त हो जाता है—स्तः, सन्ति। कहीं पर अन्तिम अक्षर का लोप होता है—गत्वा, गतम् (√गम्)। कहीं उपधा का लोप होता है—जग्मतुः (गये), जग्मुः (गये बहु०) (√गम् के 'अ' का लोप)। कहीं उपधा में परिवर्तन होता है—(राजन् से) राजा, (दण्डिन् से) दण्डी। कहीं वर्ण का लोप भी होता है—तत्वा यामि (त्वाम् के 'म्' का, या 'त्' का लोप)। दो वर्णों का भी लोप होता है—तृच (त्र्यृच के र् और य् का लोप)। आदि वर्ण का भी परिवर्तन होता है—ज्योतिः (√द्युत्), घनः (√हन्), बिन्दुः (√भिद्) वाट्यः (√भट् भरण-योग्य)। आदि और अन्त—दोनों का भी परिवर्तन (Metathesis) होता है—स्तोकः (√श्चुत्), रज्जुः (√सृज्), सिकताः (√कस्) तर्कुः (कृत्)। कहीं अन्त का भी परिवर्तन होता है ॥१॥

विशेष—प्रत्त = प्र + √दा + क्त = प्रदद्त = प्रद्त = प्रत्तः। देखिये पाणिनि-'दो दद्घोः' (७।४।४६) तथा 'अच उपसर्गात् तः' (७।४।४७)। निवृत्ति-स्थान = जहाँ गुण और वृद्धि न हो, धातु कोई भाग लुप्त हो। आधुनिक भाषा-विज्ञान में इसे Weak Termination कहते हैं। उपधा = अन्तिम से पूर्व-वर्ण (Penultimate) जैसे—गम् में 'अ'। उपधाविकार—राजन् में 'ज' का 'अ' दीर्घ हो जाता है—राजा। वर्णलोप—दुर्ग कहते हैं कि 'याचामि' के 'चा' का लोप हुआ, परन्तु 'चा' में दो वर्ण हैं। निरुक्त के एक प्राचीन टीकाकार महेश्वर कहते हैं कि 'तनित्वा' के 'नि' का लोप हुआ, परन्तु यहाँ भी वही बात है। मेरा विचार है कि या तो 'तत् + त्वा' के एक त् का लोप हुआ (तत्वा) अथवा 'त्वाम्' के 'म्' का। वर्ण का अर्थ ऊपर व्यंजन लिया है, उसका भी निर्वाह हो जाता है। आद्यन्तविपर्यय—श्चुत्-श् + च् + उ + त्-स् क् उ त्-(विपर्यय) स्त् + उक्—स्तुक्-स्तोकः। सृज्-सर्जु-रस्जु-रज्जुः। ये सभी परिवर्तन Sporadic Changes के अन्तर्गत आते हैं (देखिये, भूमिका) ॥ १ ॥

ओघः, मेघः, नाधः, गाधः, वधूः, मधु इति। अथापि वर्णोप-जनः—आस्थत्, द्वारः, भरूजाः इति॥ तद् यत्र स्वरात् अनन्त-रान्तःस्थान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायाम् इतरया उपपिपादयिषेत्। तत्रापि एके अल्पनिष्पत्तयः भवन्ति। तद् यथा एतत्—ऊतिः, मृदुः, पृथुः, पृषतः, कुणारुम् इति॥

जैसे ओघः (वह्), मेघः (√मिह), नाधः (√नह्), गाधः (√गाह्) वधूः (वह), मधु (√मद्)। कहीं वर्ण का आगमन भी

होता है—आस्थत् (√अस् में थ् का आगमन), द्वारः (√वृ), भरूजा (भ्रस्ज्) ।

जहाँ स्वर से अव्यवहित अन्तःस्थ वर्ण (य र ल व) धातु के भीतर रहे, वह दो प्रकृतिवाले शब्दों (सम्प्रसारण) का स्थान है—ऐसा कहते हैं। [ऐसे स्थलों में धातु के दुहरे रूप चलते हैं जैसे यज् और इज्। जब किसी शब्द का निर्वचन करने में] सिद्ध धातु रूप असिद्ध हो जाय, तब उसके दूसरे रूप से उसकी व्युत्पत्ति करें। वहाँ भी कुछ शब्द अत्यन्त अप्रचलित हैं जैसे, ऊति (√अव्) मृदु (√म्रद), पृथुः (√प्रथ्), पृषत् (√प्रुष्), कूणारु (√क्वण्) ॥

विशेष—द्विप्रकृति स्थान = संप्रसारण जिसमें 'य् व् र् ल्' का 'इ उ ऋ लृ' हो जाता है। जब धातु में स्वर के अनन्तर कोई अन्तःस्थ वर्ण रहे तो उसका दो प्रकार का रूप हो जाता है—√यज् से यष्टा, यष्टुम् तथा √इज् से इष्टः, इष्टिः। √यज् में य् (अन्तःस्थ) और अ (स्वर) के बीच में कोई व्यवधान नहीं। यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है क्योंकि याच्, यम्, रम् आदि सम्प्रसारण की प्रक्रिया से रहित धातुओं में भी यह हो जायगा। उपपिपादयिषेत्—सन् प्रत्यय व्यर्थ है परन्तु यह उस युग का व्यवहार रहा होगा ॥

अथापि भाषिकेभ्यः धातुभ्यः नैगमाः कृतः भाष्यन्ते। दमूनाः क्षेत्रसाधाः इति। अथापि नैगमेभ्यः भाषिकाः। उष्णं घृतमिति। अथापि प्रकृतयः एव एकेषु भाष्यन्ते, विकृतयः एकेषु। शवतिः गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। कम्बोजाः कम्बलभोजाः। कमनीयभोजाः वा। कम्बलः कमनीयो भवति। विकारम् अस्य आर्येषु भाषन्ते। शवः इति। दातिः लवनार्थे प्राच्येषु। दात्रम् उदीच्येषु। एवम् एकपदानि निर्ब्रूयात्।

कभी-कभी संस्कृत (भाषा) के धातुओं से वैदिक कृदन्त निष्पन्न होते हैं जैसे—दमूना (√दम्), क्षेत्रसाधा (√साध्)। कभी वैदिक (धातुओं) से संस्कृत के कृदन्त बनते हैं जैसे—उष्ण (√उष् = जलाना), घृत (√घृ = नाश, चमक)। इसके अलावे प्रकृति को एक स्थान में बोलते हैं, विकृति को दूसरे स्थान में। गति अर्थवाला √शव् कम्बोज-देश में बोला जाता है। कम्बोज = कम्बल का उपभोग करनेवाले, कमनीय द्रव्यों का उपभोग करनेवाले। कम्बल कमनीय (सुन्दर) होता है। इससे बने शब्द को (विकृति) आर्यदेश में बोलते हैं—शव (मृत देह)। उसी प्रकार √दा = काटना, प्राच्यदेश में और 'दात्र' को उदीच्य-देश में बोलते हैं। इस प्रकार एक पदवाले शब्दों का निर्वचन करें ॥

विशेष—यह स्थल यास्क के भाषावैज्ञानिक रूप का सफल परिचय देता है। निर्वचन के प्रसंग में वे इस तथ्य पर ध्यान देने की बात कहते हैं कि देश और काल के अनुसार आख्यात तथा नाम के प्रयोगस्थल भिन्न-भिन्न हैं। यह संभव है कि संस्कृत में आख्यात का प्रयोग होता है और वैदिक भाषा में उससे बने हुए शब्द का। वैदिक भाषा में वह धातु अप्रयुक्त है तो संस्कृत भाषा में उससे संबद्ध शब्द नहीं मिलता। यह कालगत प्रयोग-भेद है। इसी प्रकार देशगत भेद भी है। नाम-पद का प्रयोग जिस क्षेत्रविशेष में होता है उसमें सम्बद्ध क्रिया का प्रयोग नहीं भी हो सकता है, प्रत्युत वह दूसरे क्षेत्र में प्रयुक्त होती है जहाँ उससे संवद्ध नाम-पद को लोग जानते भी नहीं। अतः, यास्क के अनुसार भाषाशास्त्रीय अध्ययन के लिए भाषाप्रयोग के विराट् परिवेश का ज्ञान आवश्यक है जिसमें देश और काल की सीमाएँ कुछ भी महत्त्व नहीं रखतीं।

अथ तद्धितसमासेषु एकपर्वसु च अनेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वम्, अपरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्। दण्ड्यः पुरुषः। दण्डमर्हति इति वा। दण्डेन संपद्यते इति वा। दण्डो ददतेः धारयतिकर्मणः। 'अक्रूरो ददते मणिम्' इति अभिभाषन्ते। दमनात् इति औपमन्यवः। 'दण्डमस्य आकर्षत' इति गर्हायाम्।

एक या अनेक सन्धि (पर्व) वाले तद्धित या समास में पहले पूर्ववाले (=तद्धित या समास) का खण्ड करें, बाद में उनका पृथक् खण्डों का निर्वचन करें। जैसे—(तद्धित)—दण्ड्य पुरुष = दण्ड के योग्य, या दण्ड से युक्त। 'दण्ड' √दद् = धारण करना, से बना है। लोग बोलते भी हैं—अक्रूर मणि धारण करता है। औपमन्यव के मत से √दम् (दबाना) से बना है। निन्दा में कहते हैं—'इसे दण्ड दो' (दम् > दण्ड = जो दमन के लिए प्रयुक्त हो)।

कक्ष्या रज्जुः अश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः। क्सः इति नामकरणः। ख्यातेः वा। अनर्थकः अभ्यासः। किम् अस्मिन् ख्यानमिति? कषतेः वा। तत्सामान्यात् मनुष्यकक्षः। बाहुमूल-सामान्यात् अश्वस्य ॥ २ ॥

कक्ष्या = घोड़े की रस्सी, क्योंकि काँख में लगी रहती है। 'कक्ष' √गाह् से बना, 'क्स' नाम बनानेवाला प्रत्यय है। अथवा √ख्या से बना है जिसमें द्वित्व (अभ्यास) निरर्थक है (ख्याख्या—कख्या—कक्ष्या)। या 'इसमें क्या कहना?' से बना हो [किम् ख्यानम् > क ख्या > क क्ष्या]। या √कष् (खुजलाना)

से। इसी की समानता से मनुष्य की काँख होती है। बाहुओं के मूल की समानता के कारण अश्व का [भी कक्ष होता है—उसमें रहने वाली 'कक्ष्या']॥ २॥

राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। राजा राजतेः। पुरुषः पुरिषादः, पुरिशयः, पूरयतेः वा। 'पूरयति अन्तः' इति अन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। 'यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥' इत्यपि निगमो भवति ॥

राजा का पुरुष—राजपुरुष। राजा √राज् (शोभना) से, 'पुरुष' = पुर (शरीर या बुद्धि) में बैठनेवाला, पुर में शयन करने वाला; या पूरय् (पूरा करना) से बना है। जब व्यक्ति को लक्ष्य करके कहा जाता है तब कहते हैं 'जो भीतर को भर देता है'। "जिससे ऊँचा या नीचा कुछ नहीं है, जिससे छोटा या बड़ा कुछ नहीं है। स्वर्ग में जो वृक्ष के समान स्थिर होकर अकेला ठहरा है, उसी पुरुष के द्वारा यह समूचा (विश्व) भरा हुआ है।" (श्वेता० उप० ३।९)—यह उदाहरण भी है। [यहाँ पुरुष आत्मा का पर्याय है।]

विश्वकद्राकर्षः। वि इति, चकद्र इति श्वगतौ भाष्यते। द्राति इति गतिकुत्सना। कद्राति इति द्रातिकुत्सना। 'चकद्राति' कद्रातीति सतः अनर्थकोऽभ्यासः। तदस्मिन् अस्तीति विश्वकद्रः। [विश्वकद्रमाकर्षति इति विश्वकद्राकर्षः।] कल्याणवर्णरूपः। कल्याणवर्णस्य इवास्य रूपम्। कल्याणं कमनीयं भवति। वर्णो वृणोतेः। रूपं रोचतेः ॥

'विश्चकद्राकर्ष' [का निर्वचन]—वि, 'श्चकद्र' का प्रयोग कुत्ते की गति के अर्थ में होता है। 'द्राति' = गति की निन्दा, 'कद्राति' = 'द्राति' की निन्दा। 'कद्राति' से निरर्थक द्वित्व (अभ्यास) करके 'चकद्राति' बना। वह (अत्यन्त कुत्सित गति) जिसमें है वह—विश्चकद्र। [उसे आकृष्ट करनेवाला विश्चकद्राकर्ष = नगररक्षक। नगर में जो बुरे ढंग से घूमते रहते हैं उन आवारों को पकड़ने वाला।] कल्याण-वर्णरूप—कल्याणवर्ण के समान जिसका रूप हो। कल्याण = कमनीय (सुन्दर)। 'वर्ण' √वृ (चुनना) से और 'रूप' √रुच् (अच्छा लगना) से।

विशेष—यास्क ने एक आदर्श रखा कि तद्धित और समास का किस प्रकार निर्वचन करें। तद्धितान्त के नमूने हैं—'दण्ड्य' और 'कक्ष्या'। समास के नमूनों में 'राजपुरुष' दो पदों का, 'कल्याणवर्णरूप' तीन पदों का, 'विश्चकद्राकर्ष' तद्धित

और समास दोनों का उदाहरण है। दुर्गाचार्य के अनुसार वि और चकद्र दोनों कुत्ते की गति बतलाते हैं। वैदिक भाषा में कई शब्दों के आदि में स (श) कार था जो बाद में लुप्त हो गया, इसके उदाहरण कुछ शब्दों में मिलते हैं। 'श्चकद्र' वैसा ही शब्द है, श्चन्द्र (=चमकना, तुल० हरि-श्चन्द्र), स्पश्‌ (=देखना, तुल० स्पश=चर, Eng. Spy=गुप्तचर)—बाद में ये चकद्र, चन्द्र, पश्‌ हो गये। ये भी Sporadic changes के उदाहरण हैं।

एवं तद्धितसमासान् निर्ब्रूयात्। नैकपदानि निर्ब्रूयात्। न अवैयाकरणाय। न अनुपसन्नाय। अनिदंविदे वा। नित्यं हि अविज्ञातुः विज्ञाने असूया। उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात्। यो वा अलं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविने, तपस्विने वा ॥ ३ ॥

इस प्रकार तद्धित और समास का निर्वचन करें। अकेले पदों का (बिना प्रकरण जाने हुए) निर्वचन करें। व्याकरण न जाननेवाले के सामने, शिष्य बनकर न आनेवाले के सामने और इसे (निरुक्त) न जाननेवाले के सामने भी [निर्वचन] न करें, क्योंकि अज्ञानी पुरुष विज्ञान में सदा दोष खोजता है। शिष्य बनकर आनेवाले के सामने निर्वचन करें, या जो जानने में समर्थ हो, मेधावी हो, या तपस्वी हो ॥ ३ ॥

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ इति।

एक बार विद्या ब्राह्मण से बोली—'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि (धन) हूँ; दोष खोजनेवाले, टेढ़े व्यक्ति या असंयमी को मुझे न दो, जिससे मैं बलवती बनूं। जो सत्य (अवितथ) के द्वारा, [दुःख को] दुःख नहीं समझते हुए, अमृत दान करते हुए, दोनों कान खोलते हैं, उन्हें माता-पिता समझे, उनसे कभी द्वेष न करें। जो ब्राह्मण पढ़ाये जाने के बाद मन, वचन या कर्म से गुरु का आदर नहीं करते; जिस प्रकार वे लोग गुरु के द्वारा माननीय

नहीं, सुना हुआ ज्ञान भी उन्हें नहीं मानता है (=वे ज्ञान नहीं पाते)। जिसे तुम पवित्र, प्रमाद न करनेवाला, मेधावी और ब्रह्मचर्य से युक्त समझो (विद्याः), जो कभी तुमसे द्वेष न करे, हे ब्रह्मन्! ऐसे निधि-पालक को ही मुझे दो।' [इन श्लोकों में निरुक्त पढ़ने के अधिकारी का निरूपण है।]

निधिः शेवधिरिति ॥ ४ ॥

निधि = शेवधि ॥ ४ ॥

विशेष—इन श्लोकों का स्थान 'संहितोपनिषद् ब्राह्मण(३)' में हैं। मनु ने इसी की छाया ली है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ (मनु० २।११४)

पुनः, य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयः तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥ (वहीं, २।११५)

ये श्लोक अल्प-परिवर्तन के साथ वसिष्ठधर्मस्मृति (२।८-१०) में भी हैं ॥४॥

द्वितीय पाद

अथातोऽनुक्रमिष्यामः। गौः इति पृथिव्याः नामधेयम्। यत् दूरं गता भवति। यत् च अस्यां भूतानि गच्छन्ति। गातेः वा। ओकारो नामकरणः। अथापि पशुनाम इह भवति। एतस्मादेव। अथापि अस्यां तद्धितेन कृत्स्नवत् निगमा भवन्ति। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः। मत्सरः सोमः। मन्दतेः तृप्तिकर्मणः। मत्सरः इति लोभनाम। अभिमत्तः एनेन धनं भवति। पयः पिबतेः वा, प्यायतेः वा। क्षीरं क्षरतेः, घसेः वा—ईरो नामकरणः। उशीरम् इति यथा ॥

अब हम क्रमशः निर्वचन करेंगे। (१) गो—पृथिवी का पर्याय है क्योंकि दूर तक गई (फैली, √गम्) है। अथवा इसमें सभी जीव जाते (रहते) हैं। या √गा (जाना) से, 'ओ' नाम बनानेवाला प्रत्यय लगा है। इसके अलावे यह (गो-शब्द) पशु का पर्याय है, वह भी इसी (धातु) से बना है। पुनः इसी (गो) के (= पशु के नामवाले गो-शब्द के) तद्धितार्थक प्रयोग भी होते हैं जैसे—'गो (—दुग्ध) से सोम को मिला दे' (ऋ० ९।४६।४) यहाँ दूध का अर्थ है। मत्सर = सोम तृप्ति अर्थवाले √मन्द् से बना है। 'मत्सर' लोभ का पर्याय है। इसी (लोभ) से लोग धन के प्रति मतवाले हुए रहते हैं।

(√मद्)। 'पय'√पा, या√प्या (पीना) से। 'क्षीर'√क्षर् (बहना) या√घस् (खाना) से; 'ईर' नाम बनानेवाला प्रत्यय है, जिस प्रकार 'उशीर' (खस) बनता है॥

विशेष—वस्तुतः निरुक्त यहीं से आरम्भ होता है क्योंकि निघण्टु के शब्दों की व्याख्या यहीं से आरम्भ होती है। यास्क निर्वचन की धुन में इतने मतवाले हो जाते हैं कि विषय-वस्तु से बहुत दूर भटक जाते हैं। गो का निर्वचन करते हुए—'मत्सर' का दो तरह से निर्वचन, 'पय' 'क्षीर'—जैसे शब्दों का निर्वचन करना निश्चय ही विषयान्तर है। किन्तु यदि वे ऐसा नहीं करते तो बहुत कम शब्दों का ही निर्वचन हम जान पाते॥

'अं॒शुं दु॒हन्तो॒ अध्या॑सते॒ गवि' इत्यधिषवणचर्मणः। अंशुः शम् अष्टमात्रः भवति। अननाय शं भवतीति वा। चर्म चरतेः वा। उच्चृतं भवतीति वा। अथापि चर्म च श्लेष्मा च। 'गोभि॒ः संन॑द्धो असि वी॒ळय॑स्व'—इति रथस्तुतौ। अथापि स्नाव च श्लेष्मा च। गोभि॒ः संन॑द्धा पतति॒ प्रसू॑ता'—इति इषु स्तुतौ। ज्या अपि गौः उच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेत् न गव्या—गमयति इषून् इति॥ ५॥

'सोम को निचोड़ते हुए गो (-चर्म) पर बैठे' (ऋ० १०।९४।९)—यहाँ (सोम) चुआनेवाले चमड़े का (अर्थ है)। अंशु—व्याप्त होते ही (अष्ट मात्र) सुखद होता है (√अश्+शम्), या जीवन के लिए सुखद है (√अन्+शम्)। 'चर्म'√चर् (चलना) या उत्-पूर्वक√चृत् (काटना) से बना। [गो-शब्द से] चमड़े और चर्बी का भी [बोध होता है]। जैसे—'गो [के चमड़े और चर्बी] से दृढ़ हो गये हो, अभेद्य बनो' (ऋ० ६।४७।२६)—यह रथ का वर्णन है। [गो-शब्द से] ताँत और चर्बी का भी [बोध होता हैं] जैसे—'गो [के ताँत और चर्बी] से दृढ़ होकर छोड़ते ही उड़ता है' (ऋ० ६।७५।११)—वह बाण का वर्णन है। धनुष की रस्सी को भी 'गो' कहते हैं। यदि यह गो के ताँत से बनी है तो तद्धितार्थक समझें [गो = गो के ताँत से बनी रस्सी]। यदि गो के ताँत से बनी (गव्या) नहीं तो [इस 'गो' का निर्वचन होगा—] जो बाणों को प्रेरित करे॥ ५॥

'वृ॒क्षेवृ॑क्षे॒ निय॑ता मीमय॒द्गौस्तत॒ो वय॒ः प्र प॑तान् पू॒रुषाद॑ः।'

(वृक्षे वृक्षे) धनुष-धनुष में (नियता) बंधी हुई (गौः) रस्सी

(मीमयत्) शब्द करती है (ततः) तब (पूरुषादः) मनुष्यों को खाने वाले (वयः) पक्षी (प्रपतान्) उड़ते हैं—(लेट् लकार) (ऋ० १०।२७।२२)।

विशेष—इस मंत्र में इन्द्र के ऐश्वर्य का वर्णन है। प्रत्येक धनुष में लगी हुई डोरी टंकार करती है तब मनुष्यभक्षी पक्षी उड़कर संसार को आक्रान्त करते हैं। धनुष से छूटने वाले बाण ही पक्षी के रूप में हैं। इनसे पूरा संसार थर्रा उठता है। रक्षा के लिए राजा इन्द्र का यज्ञ होता है। प्रजाओं को विपत्ति से बचाने वाले वही हैं। शत्रुओं के धनुष से छूटे बाण हमारा संहार न करें—यह प्रार्थना है।

वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि। वृक्षो व्रश्चनात्। नियता मीमयत् गौः। शब्दं करोति। मीमयतिः शब्दकर्मा। ततो वयः प्रपतन्ति पुरुषान् अदनाय। विः इति शकुनिनाम। वेतेः गतिकर्मणः। अथापि इषुनाम इह भवति। एतस्मादेव ॥

वृक्षे वृक्षे = हरेक धनुष में। 'वृक्ष' √व्रश्च् (छेदना) से। बंधकर गो (धनुष की डोरी) मीमयत् = शब्द करती है। √मि = आवाज करना। तब पक्षिगण (वयः) मनुष्यों को खाने के लिए उड़ते हैं। 'वि' पक्षी का पर्याय है। √वी = जाना, से। इसके अतिरिक्त यहां (गोशब्द) 'बाण' का पर्याय है। इसी धातु से बना है ॥

आदित्योऽपि गौः उच्यते। 'उताद: परुषे गवि'। पर्ववति। भास्वति इति औपमन्यवः। अथापि अस्य एको रश्मिः चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। तद् एतेन उपेक्षितव्यम्। आदित्यतः अस्य दीप्तिः भवतीति। 'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः' इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौः उच्यते। 'अत्राह गोरमन्वत' इति। तदु-परिष्टात् व्याख्यास्यामः। सर्वेऽपि रश्मयः गाव उच्यन्ते ॥ ६ ॥

आदित्य भी 'गो' कहलाता है जैसे—'वह उस चमकीले मण्डल में' (ऋ० ६।५६।३)। [परुष] 'सन्धियुक्त' या औपमन्यव के विचार से 'चमकीला'। उसकी एक किरण चन्द्रमा की ओर चमकती है, उसे देखें। आदित्य से ही उसकी दीप्ति होती है। 'सुखद, सूर्यकिरण गन्धर्व चन्द्रमा है' (यजु० वा० सं० १०।४०)—यह उदाहरण भी है। वह (चन्द्रमा) भी गो कहलाता है जैसे—'चन्द्रमा से समझा' (ऋ० १।८४।१५)—इसकी व्याख्या बाद में करेंगे (निरु० ४।२५)। सभी किरणें 'गौ' कहलाती हैं ॥ ६ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥

(वां) तुम दोनों के (ता = तानि) उन (वास्तूनि) घरों पर (गमध्यै) जाना (उश्मसि) हम चाहते हैं, (यत्र) जहाँ (भूरिशृङ्गाः) बहुत कान्ति-वाली तथा (अयासः) गतिशील (गावः) किरणें हैं। (अत्र अह) यहाँ (उरुगायस्य) विशाल गतिवाले (वृष्णः) वृषभ = विष्णु का (तत्) वह (परमं) सुन्दर (पदम्) स्थान (भूरि) अच्छी तरह (अवभाति) चमकता है (ऋ० १।१५४।६)।

तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय। यत्र गावः भूरिशृङ्गाः बहुशृङ्गाः भूरि इति बहुनो नामधेयम्। प्रभवति इति सतः। शृङ्गं श्रयतेः वा, शृणातेः वाः, शम्नातेः वा, शरणाय उद्गतमिति वा। शिरसो निर्गतम् इति वा। अयासः = अयनाः। तत्र तद् उरुगायस्य विष्णोः महागतेः परमं पदं पराध्यर्थस्थम् अवभाति भूरि। पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्यात् इतराणि पदानि। एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहाः विद्यन्ते। तानि चेत् समानकर्माणि समाननिर्वचनानि। नाना कर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि। यथार्थं निर्वक्तव्यानि ॥

तुम दोनों के उन निवास-स्थानों को जाने की इच्छा [हम] करते हैं, जहाँ किरणें अत्यन्त कान्तियुक्त हैं। भूरि = बहुत, जो प्रभूत हो (√भू)। 'शृङ्ग' √श्रि (ठहरना) √शृ (मारना) या √शम् (मारना) से बना है। अथवा शरण (रक्षा) के लिए निकला हो (√शृ + √गम्), या सिर से निकला हो। अयासः = गतिशील (√इ)। वहाँ उरुगाय = विशाल गतिवाले, विष्णु का, परम = सबसे ऊँचा, पद अच्छी तरह सबों पर चमकता है। 'पाद' √पद् (जाना) से, उसीसे 'पद' भी बना है। पशु के पाद (पैर) के आधार पर 'भाग' (टुकड़ा) अर्थवाला 'पाद' होता है। 'भाग' अर्थवाले पाद से अन्य अर्थवाले 'पद' भी बनते हैं।

इसी प्रकार दूसरी वस्तुओं के भी सन्देह हैं; यदि उनके अर्थ समान हैं तो निर्वचन भी समान होंगे। भिन्नार्थक होने पर निर्वचन भी भिन्न होंगे। अर्थ के अनुसार ही निर्वचन करें ॥

विशेष—किसी चौपाये पशु के चरणों के आधार पर 'पाद' शब्द का अर्थ प्रभाग (चतुर्थांश, ¼) होता है जैसे पलंग के, रुपये के या अध्याय के पाद। पाद अर्थात् टुकड़े के सादृश्य पर ही नामाख्यात आदि पद को भी वैसा कहा जाता है। इस प्रकार सादृश्य का योगदान अर्थ के निर्धारण में रहता है। निर्वचन का अपना नियम यास्क बतलाते हैं कि समानार्थक पदों का समान निर्वचन होगा किन्तु एक ही पद यदि भिन्नार्थक हो तो निर्वचन भी पृथक्-पृथक् होंगे। अर्थपरिवर्तन का तथ्य जान कर भी यास्क उसका तिरस्कार कर देते हैं तथा उसी पद का पृथक् निर्वचन करने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

इति इमानि एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि अनुक्रान्तानि। तत्र निर्ऋतिः निरमणात्। ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः इतरा। सा पृथिव्या सन्दिह्यते। तयोः विभागः। तस्याः एषा भवति ॥ ७ ॥

पृथिवी के ये इक्कीस नाम क्रमशः वर्णित हैं। (२) उनमें 'निर्ऋति' नि√रम् (रमण करना) से बना है। यदि 'दुःख (कृच्छ्र) का आगमन (आपत्ति)' अर्थ हो तो √ऋ से बना है। इस (अर्थ) का पृथिवी से सन्देह हो जाता है। इन दोनों (अर्थों) का विभाग करें, उस (निर्ऋति) की यह (ऋचा) है।

य ईं॑ च॒कार॒ न सो अ॒स्य वे॑द॒ य ईं॑ द॒दर्श॒ हिरु॒गिन्नु तस्मा॑त्।
स मा॒तुर्योना॒ परि॑वीतो अ॒न्तर्ब॑हुप्र॒जा निर्ऋ॑ति॒मा वि॑वेश ॥

(यः) जो (ईम्) इसे (चकार) उत्पन्न करता है, (सः) वह (अस्य) इसे (न वेद) नहीं जानता; (यः) जो (ईम्) इसे (ददर्श) देखता है, (तस्मात्) उससे (हिरुक्) छिपा हुआ (इत् नु) ही है। (सः) वह (मातुः) माता की, उत्पन्न करने वाले की (योनौ) योनि या गर्भ में (अन्तः) भीतर से (परिवीतः) घिरा हुआ है, (बहुप्रजाः) बहुत सन्तानों से युक्त होकर (निर्ऋतिम्) दुःख या पृथ्वी में (आ विवेश) प्रवेश करता है ॥ (ऋ० १।१६४।३२)।

विशेष—गेल्डनर का मत है कि इस ऋचा में 'प्राणवायु' का वर्णन हैं, रॉथ तथा हॉग के अनुसार मेघ के गर्जन का वर्णन, डयूसन और हेनरी के अनुसार सूर्य का वर्णन, और दुर्गाचार्य बहु-सन्तान का वर्णन समझते हैं। यास्क मेघ का ही अर्थ लेते हैं।

बहुप्रजाः कृच्छ्रम् आपद्यते इति परिव्राजकाः। वर्षकर्म इति नैरुक्ताः। य ईं चकार इति। करोति-किरती सन्दिग्धौ वर्ष-

कर्मणा । न सोऽस्य वेद मध्यमः । स एवास्य वेद मध्यमो, यो ददर्श आदित्योपहितम् । स मातुः योनौ । माता = अन्तरिक्षम् । निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि । योनिः = अन्तरिक्षम् । महान् अवयवः, परिवीतः वायुना । अयमपीतरो योनिः एतस्मादेव । परियुतो भवति । बहुप्रजाः भूमिमापद्यते वर्षकर्मणा ॥

बहुत सन्तानवाले दुःख में गिरते हैं—यह परिव्राजकों (एक सम्प्रदाय) का कथन है । निरुक्तकार कहते हैं कि वर्षा का अर्थ है । जो इसे (वर्षा को) करता है—वर्षा के अर्थ में ['चकार' क्रिया से] √कृ (करना) तथा √कॄ (बिखेरना) का सन्देह हो जाता है । वह मध्यम [मेघ] इसे नहीं जानता है, जो सूर्य के द्वारा छिपाये गये को देखता है । वह माता की योनि में—माता = अन्तरिक्ष, क्योंकि इसमें जीवों का निर्माण होता है । योनि = अन्तरिक्ष क्योंकि [वह विश्व का] एक बड़ा अवयव (खण्ड, √यु) है, वायु से घिरा है । यह दूसरा योनि = शब्द भी इसी से बना है क्योंकि (स्नायु तथा मांस से) घिरा हुआ होता है । बहुत सन्तानों से युक्त (जलबिन्दु) वर्षा के रूप में भूमि पर गिरते हैं ॥

शाकपूणिः संकल्पयांचक्रे सर्वा देवता जानामि इति । तस्मै देवता उभयलिङ्गा प्रादुर्बभूव । तां न जज्ञे । तां पप्रच्छ । विविदिषाणि त्वा इति । सा अस्मै एतामृचम् आदिदेश । एषा मद्देवतेति ॥ ८ ॥

शाकपूणि ने गर्व किया कि मैं सभी [मन्त्र के] देवताओं को जानता हूँ । उनके लिए दो चिह्न वाले देवता उत्पन्न हुए । उनको वे न जान सके तो उनसे पूछा—मैं आपको जानना चाहता हूँ । उन्होंने यह ऋचा कही कि इसका देवता मैं हूँ ॥ ८ ॥

अ॒यं स शि॑ङ्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॑श्रि॒ता ।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॒कार॒ मर्त्यं॒ वि॒द्युद्भव॑न्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत ॥

(अयं स) वही (शिङ्क्ते) आवाज करता है (येन) जिसके द्वारा (अभिऽवृता) ढँके जाने पर (ध्वसनौ) वर्षा करनेवाले मेघ पर (अधिश्रिता) बैठी हुई (गौः) अन्तरिक्ष की वाणी (मायुं) घोर शब्द (मिमाति) करती है । (सा) उसने (चित्तिभिः) गर्जनरूपी कर्म से (मर्त्यं हि) मनुष्य को

(निचकार) झुका दिया, (विद्युत्) बिजली (भवन्ती) होकर (वव्रिम्) अपने रूप को (प्रति औहत) खींच लिया है ॥ (ऋ० १।१६४।२९) ।

अयं स शब्दायते येन गौः अभिप्रवृत्ता, मिमाति मायुम् = शब्दं करोति। मायुमिव आदित्यमिति वा। वाक् एषा माध्यमिका। ध्वंसने मेघे अधिश्रिता। सा चित्तिभिः = कर्मभिः नीचैः निकरोति मर्त्यम्। विद्युद्भवन्ती प्रत्यूहते वव्रिम्। वव्रिः इति रूपनाम। वृणोतीति सतः। वर्षेण प्रच्छाद्य पृथिवीं पुनरादत्ते ॥९॥

वही आवाज करता है जिसके द्वारा ध्वनि प्रेरित हुई और मायुं मिमाति = आवाज करती है या मायु के समान=आदित्य के समान। यह मध्यस्थानवाली ध्वनि है जो ध्वंसन अर्थात् मेघ पर चढ़ी हुई है। वह, चित्तिभिः = कर्मों से, मनुष्य को नीचे कर देती है; बिजली बनकर वव्रि को खींच लेती है। वव्रि = रूप। √वृ (ढँकना) से। वर्षा से पृथ्वी को ढँक कर पुनः (वर्षा को) लेती है ॥ ९ ॥

तृतीय-पाद

हिरण्यनामानि उत्तराणि पञ्चदश। 'हिरण्यं' कस्मात्? ह्रियते आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनात् जनमिति वा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवति इति वा, हर्यतेः वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः ॥

इसके बाद के पन्द्रह नाम हिरण्य के हैं। (३) 'हिरण्य' कैसे? गढ़े जाने पर ले जाते हैं (√हृ + √यम्), या एक आदमी से दूसरे आदमी तक ले जाते हैं, या हित कर तथा रमणीय होता है (√धा + √रम्), या हृदय के लिए रमणकारी है, या 'इच्छा' अर्थवाले √हर्य् से बना है ॥

विशेष—हिरण्य अत्यन्त प्राचीन शब्द है जिसका संबन्ध 'हरि' शब्द से है। अन्य भारोपीय भाषाओं में यह वर्ण का बोधक है तथा र् के स्थान में ल् मिलता है। तुलनीय—जर्मन gelb (पीला); लातिन helvus (पीला); प्रा० बुलगारी zelunu (हरा); अंग्रेजी Yellow (पीला)।

अन्तरिक्षनामानि उत्तराणि षोडश। 'अन्तरिक्षं' कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरा इमे इति वा, शरीरेषु अन्तः अक्षयमिति वा। तत्र समुद्रः इत्येतत् पार्थिवेन समुद्रेण सन्दिह्यते। समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः, समभिद्रवन्ति

एनम् आपः, संमोदन्ते अस्मिन् भूतानि, समुद्को भवति, समुनत्तीति वा ॥ ६ ॥

इसके बाद के सोलह नाम अन्तरिक्ष के हैं। (४) 'अन्तरिक्ष' कैसे ? बीच में (अन्तरा) तथा पृथ्वी के पास (क्षा + अन्त) है, या दोनों (स्वर्ग और पृथिवी) के बीच में हैं, या शरीर के बीच में हैं और अक्षय हैं। इन (नामों) में समुद्र भी है जिसका भ्रम पार्थिव समुद्र (सागर) से हो जाता है। (५) 'समुद्र' कैसे ? इससे जल निकलता है (सम् उत् √द्रु), या जल इसी में जाता है (सम् अभि √द्रु), या इसमें जीव मोद मानते हैं (√मुद्), या जलयुक्त है, या भिंगा देता है (√उन्द्)।

तयोः विभागः। तत्र इतिहासमाचक्षते। देवापिश्च आर्ष्टिषेणः शंतनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शंतनुः कनीयान् अभिषेचयांचक्रे। देवापिः तपः प्रतिपेदे। ततः शंतनोः राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुः ब्राह्मणाः–'अधर्मः त्वयाऽऽचरितः, ज्येष्ठं भ्रातरम् अन्तरित्य अभिषेचितम्। तस्मात् ते देवो न वर्षति' इति। स शंतनुः देवापिं शिशिक्ष राज्येन। तमुवाच देवापिः—'पुरोहितः ते असानि, याजयानि च त्वा' इति। तस्य एतत् वर्षकामसूक्तम्। तस्य एषा भवति ॥ १० ॥

[समुद्र के] इन दोनों (अर्थों) का विभाग करें। इसमें एक इतिहास कहते हैं—कुरुवंश में ऋष्टिषेण के दो पुत्र देवापि और शन्तनु हुए। छोटे भाई शन्तनु ने अपना अभिषेक करा लिया और देवापि तपस्या करने लगा। इससे शन्तनु के राज्य में बारह वर्षों तक पानी नहीं बरसा। ब्राह्मणों ने उससे कहा—'तुमने अधर्म किया है, बड़े भाई को छोड़ कर तुमने अभिषेक करा लिया। इसीसे तुम्हारे यहाँ पानी नहीं बरसता।' शन्तनु ने देवापि को राज्य लेने को कहा। देवापि ने उत्तर दिया—'मैं तुम्हारा पुरोहित रहूँगा और तुम्हें यज्ञ कराऊँगा'। उसी के विषय में वह वर्षकाम-सूक्त है। उसकी यह (ऋचा) है॥

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि॥

(आर्ष्टिषेणः) ऋष्टिषेण के पुत्र, (ऋषिः) ऋषि (देवापिः) देवापि, जो (देवसुमतिं) देवताओं की भक्ति (चिकित्वान्) जाननेवाले थे, (होत्रम्) होता के स्थान पर (निषीदन्) बैठे। (सः) उन्होंने (उत्तरस्मात्) ऊपर

से (अधरं) नीचे की ओर (समुद्रम्) समुद्र को, अर्थात् (दिव्याः) स्वर्ग के ओर (वर्ष्याः) वर्षा वाले (अपः) जल को (अभि असृजत्) छोड़ा ॥ (ऋ० १०।९८।५)।

आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणस्य पुत्रः, इषितसेनस्य इति वा। सेना सेश्वरा, समानगतिः वा। पुत्रः पुरु त्रायते, निपरणाद्वा। 'पुत्' नरकम्, ततः त्रायते इति वा। होत्रम् ऋषिः निषीदन्। ऋषिः दर्शनात्, 'स्तोमान् ददर्श' इति औपमन्यवः। 'तद् यद् एनान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभु अभ्यानर्षत्, तद् ऋषीणाम् ऋषित्वम्' इति विज्ञायते। देवापिः देवानाम् आप्त्या, स्तुत्या च प्रदानेन च। देवसुमतिं = देवानां कल्याणीं मतिम्। चिकित्वान् = चेतनावान्। स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्। उत्तरः उद्धततरो भवति। अधरः अधः अरः। अधः = न धावति, इति ऊर्ध्वगतिः प्रतिषिद्धा। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ११ ॥

आर्ष्टिषेण = ऋष्टिषेण का पुत्र, या इषितसेन (सेना भेजनेवाले) का। सेना = स्वामी (इन) से युक्त या समान गति (इन) वाली। पुत्रः सब जगह बचाने वाला (पुरु√त्रा), या पिण्डदान करने से (नि√पृ)। 'पुत्' नरक है, उससे बचाने वाला। होता के स्थान पर ऋषि बैठे। ऋषि'√दृश् (देखना) से। औपमन्यव के मत से 'स्तोमों को देखने वाला'। ऋषियों का ऋषित्व इसी में है कि तपस्या करते समय इनके पास स्वयं उत्पन्न होने वाला ब्रह्म (वेद) आया'—यह मालूम होता है (तै० आ० २।९)। देवापि— देवताओं को प्राप्त होने के कारण, स्तुति और दान के कारण। देवसुमतिं = देवताओं की कल्याणकारिणी बुद्धि को। चिकित्वान् = ज्ञान से युक्त। उसने ऊपर से नीचे की ओर समुद्र को। उत्तर = उद्धततर (उच्चतर); अधर = नीचे (अधः) जाने वाला (अर)। अधः = जो न दौड़े, इस प्रकार ऊपर की गति का निषेध होता है। उसके बाद की ऋचा स्पष्टतर उदाहरण के लिए है ॥

यद्देवापिः शंतनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

(यत्) जब (होत्राय) होता के स्थान के लिए (वृतः) चुने जाने पर (पुरोहितः) पुरोहित (देवापिः) देवापि ने (शंतनवे) शंतनुपर (कृपयन्) कृपा करके (अदीधेत्) ध्यान किया, तब (रराणः) दानी (बृहस्पतिः)

बृहस्पति ने [देवापि को देखकर] (अस्मै) उसे (देवश्रुतं) देवताओं के सुनने योग्य और (वृष्टिवनिं) वर्षा की याचना करने वाली (वाचम्) स्तुति (अयच्छत्) प्रदान की। (ऋ० १०।९८।७)॥

शंतनुः। शं तनो! अस्तु इति वा, शमस्मै तन्वाः अस्तु इति वा। पुरोहितः। पुरः एनं दधति। होत्राय वृतः। कृपायमाणः। अन्वध्यायत्। देवश्रुतम्—देवा एवं शृण्वन्ति। वृष्टिवनिं = वृष्टियाचिनम्। रराणः—रातिः अभ्यस्तः। बृहस्पतिः ब्रह्मा आसीत्। सोऽस्मै वाचमयच्छत्। 'बृहत्' उपव्याख्यातम्॥१२॥

शंतनु—हे शरीर, कल्याण हो, या उसके शरीर को कल्याण मिले। पुरोहित—जिसे आगे रखते हैं। होता के कर्म के लिए चुने जाने पर, कृपा करते हुए, ध्यान करने लगे। देवश्रुतम् = देवता इसे सुनते हैं, वृष्टिवनिं = वर्षा माँगने वाले को। रराणः—√रा (देना) का अभ्यास (द्वित्व) हो गया है। बृहस्पति ब्रह्मा थे। उन्होंने उसे (देवापि को) स्तुति प्रदान की। 'बृहत्' की व्याख्या हो चुकी है (निरु० १।७)॥ १२॥

विशेष—वैदिक भाषा का 'शंतनु' शब्द महाभारत में 'शांतनु' हो गया क्योंकि तब लोग 'शंतनु' का अर्थ नहीं समझने लगे और 'शांतनु' को अपेक्षाकृत शुद्ध शब्द समझा गया। इसे भाषा-विज्ञान में Folk etymology (लोक-निरुक्ति) कहते हैं। रराणः = रा + कानच् (दानशील)॥ १२॥

चतुर्थ पाद

साधारणानि उत्तराणि षट् दिवश्च आदित्यस्य च। यानि त्वस्य प्राधान्येन, उपरिष्टात् तानि व्याख्यास्यामः। आदित्यः कस्मात्? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भासा इति वा। 'अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं तु अस्य एतद् आर्चाभ्याम्नाये। सूक्तभाक्–'सूर्यमादितेयम्'॥

इसके बाद के छः नाम दिव् और आदित्य के लिए समान हैं, किन्तु जो प्रधान रूप से इन (आदित्य) के हैं उनकी व्याख्या बाद में करेंगे (निरु० १२।१२-१८)। (६) 'आदित्य' कैसे? रसों को लाता है (आ√दा), ज्योतिः-पुंजों का प्रकाश लाता है, या प्रकाश से आदीप्त है। या अदिति का पुत्र है।

ऋचाओं के पूरे संग्रह (ऋग्वेद) में इसका प्रयोग बहुत कम है। केवल एक सूक्त में—'सूर्य को जो अदिति का पुत्र है' (ऋ० १०।८८।११)॥

एवमन्यासाम् अपि देवतानाम् आदित्यप्रवादाः स्तुतयो भवन्ति। तद् यथा एतत् मित्रस्य, वरुणस्य, अर्यम्णः, दक्षस्य, भगस्य, अंशस्य इति। अथापि मित्रावरुणयोः—'आदित्या दानुनस्पती'। दानपती। अथापि मित्रस्य एकस्य।

'प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।' इत्यपि निगमो भवति। अथापि वरुणस्य एकस्य—'अथा वयमादित्य व्रते तव'। व्रतमिति कर्मनाम। निवृत्तिकर्म वारयति इति सतः। इदमपि इतरत् व्रतमेतस्मादेव। वृणोति इति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते—यद् आवृणोति शरीरम्॥ १३॥

इसी प्रकार दूसरे देवताओं की भी स्तुतियाँ आदित्य के नाम से होती हैं जैसे—मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग और अंश की। मित्रावरुण की भी होती है जैसे—'दोनों आदित्य दान के अधिकारी हैं' (ऋ० २।४१।६)—दोनों दान के स्वामी (हैं)। अकेले मित्र की भी [स्तुति होती है]—'हे मित्र, वह मनुष्य अन्नयुक्त हो जाय, हे आदित्य! जो तुम्हें व्रत के द्वारा पूर्ण करे।' (ऋ० ३।५९।२)—यह उदाहरण है। अकेले वरुण की भी—'हे आदित्य तुम्हारे व्रत में अब हम....' (ऋ० १।२४।१५)। व्रत = कर्म, निषिद्ध कर्म से वारण करनेवाला। यह दूसरा व्रत भी इसीसे होता है—√वृ (ढँकना) से। अन्न भी व्रत कहलाता है क्योंकि शरीर को ढँके रखता है॥ १३॥

स्वर् आदित्यो भवति। सु अरणः। सु ईरणः। स्वृतो रसान्, स्वृतो भासं ज्योतिषाम्, स्वृतो भासा इति वा। एतेन द्यौः व्याख्याता॥ पृश्निः आदित्यो भवति। प्राश्नुते एनं वर्णः इति नैरुक्ताः। संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषाम्, संस्पृष्टो भासा इति वा। अथ द्यौः। संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च॥ नाकः आदित्यो भवति। नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः। 'कम्' इति सुखनाम। तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। 'न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम्'। न वा अमुं लोकं जग्मुषे किंचन असुखम्। पुण्यकृतो हि एव तत्र गच्छन्ति॥

आदित्य को (७) स्वर् कहते हैं। सु √अर् (जाना) से, या सु √ईर् (नाश) से। यह रस लेने को ठीक से जाता है, ज्योतिःपुंजों के प्रकाश तक जाता है, या प्रकाश द्वारा पाया गया (सु √ऋ)। इसीसे द्यौ के सम्बन्ध की भी व्याख्या हो जाती है।

आदित्य को (८) पृश्नि भी कहते हैं। रंग इसे पकड़ लेता है—यह निरुक्तकारों का मत है। रसों का स्पर्श करनेवाला, ज्योतिःपुञ्जों के प्रकाश का स्पर्श करनेवाला, या (स्वयं ही) प्रकाश द्वारा स्पृष्ट (छुआ गया)। द्यौ के सम्बन्ध में, ज्योति से या पुण्य करने वालों से संस्पृष्ट।

आदित्य को (९) नाक भी कहते हैं। प्रकाश को ले जानेवाला है (√नी), या ज्योतिःपुञ्जों को उत्पन्न करनेवाला (प्र √नी)। द्यौ के सम्बन्ध में—'क' = सुख, इसके निषेध (दुःख) का उलटा। 'उस लोक तक जाने वाले को कुछ भी दुःख (अक, असुख) नहीं' (काठक सं० २१।२)। पुण्य-करनेवाले ही वहाँ जाते हैं॥

गौः आदित्यो भवति। गमयति रसान्, गच्छति अन्तरिक्षे। अथ द्यौः—यत् पृथिव्या अधि दूरंगता भवति। यच्च अस्यां ज्योतींषि गच्छन्ति॥ विष्टप् आदित्यो भवति। आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्, आविष्टो भासा इति वा। अथ द्यौः। आविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च॥ नभः आदित्यो भवति। नेता भासाम्, ज्योतिषां प्रणयः। अपि वा, 'भनः' एव स्याद् विपरीतः। न 'न भाति' इति वा। एतेन द्यौः व्याख्याता॥ १४॥

आदित्य को (१०) गौ कहते हैं। रस का गमन कराता है, अन्तरिक्ष में जाता है (√गम्)। द्यौ के सम्बन्ध में—जो पृथ्वी के ऊपर बहुत दूर तक गया है और जिसमें ज्योतिःपुञ्ज जाते हैं।

आदित्य को (११) विष्टप् कहते हैं। रसों में घुसा हुआ है (√विश्), ज्योतिःपुञ्जों के प्रकाश में घुसा हुआ है, या प्रकाश द्वारा (स्वयं ही) आविष्ट (व्याप्त) है। द्यौ के सम्बन्ध में—ज्योतिःपुञ्जों और पुण्य करनेवालों के द्वारा आविष्ट (घिरा)।

आदित्य को (१२) नभ भी कहते हैं प्रकाश को ले जानेवाला (√नी), ज्योतिःपुञ्जों को उत्पन्न करनेवाला। अथवा 'भन' (चमकना) ही उलट गया है, या 'नहीं भाता है'—ऐसा नहीं है। इसीसे द्यौ की व्याख्या हो गई॥ १४॥

पञ्चम पाद

रश्मिनामानि उत्तराणि पञ्चदश। रश्मिः यमनात्। तेषामा-दितः साधारणानि पञ्च अश्वरश्मिभिः॥ दिङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ। दिशः कस्मात्? दिशतेः, आसदनात्, अपि वा अभ्यशनात्। तत्र 'काष्ठाः' इति एतद् अनेकस्य अपि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठाः दिशो भवन्ति। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठाः उपदिशो भवन्ति–इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। आदित्योऽपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा भवति। आज्यन्तोऽपि काष्ठा उच्यते। क्रान्त्वा स्थितो भवति। आपोऽपि काष्ठाः उच्यन्ते। क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। इति स्थावराणाम्॥ १५॥

इसके बाद के पन्द्रह नाम रश्मि के हैं। (१३) रश्मि √यम् (नियंत्रण) से। इनमें प्रथम पाँच नाम घोड़े की लगाम के लिये भी समान हैं।

इसके बाद के आठ नाम दिशाओं के हैं। (१४) दिशा कैसे? √दिश् (दिखाना) से, या आ √सद् (निकट बैठना) से, या अभि √अश् (व्याप्त) से। उन (नामों) में 'काष्ठा' भी है जो अनेक वस्तुओं का नाम है। (१५) 'काष्ठा' दिशा को कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होती है (√क्रम् + √स्था)। 'काष्ठा' उपदिशाओं को भी कहते हैं क्योंकि [वे] एक दूसरे को छूकर (क्रान्त्वा) स्थिर होती हैं। 'काष्ठा' आदित्य को भी कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होता है। 'काष्ठा' बाण की नोक (आजि + अन्त) को भी कहते हैं क्योंकि चलकर स्थिर होती है। 'काष्ठा' जल को भी कहते हैं क्योंकि [जलाशय में] जाकर स्थिर होता है। यह स्थावर (जल) के विषय में हुआ॥ १५॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः॥

(अतिष्ठन्तीनाम्) कभी न ठहरनेवाले और (अनिवेशनानाम्) कभी न रुकने वाले (काष्ठानां) जल के (मध्ये) बीच में (शरीरं) शरीर (निहितं) छिपा था। (आपः) जल (वृत्रस्य) वृत्र के (निण्यं) गुप्त स्थान पर (विचरन्ति) घूमते हैं; (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र के द्वारा विनाश किया जानेवाला

वृत्र (दीर्घं) घोर (तमः) अन्धकार में (आशयत्) सोया था। (ऋ० १।३२।१०)॥

अतिष्ठन्तीनाम् अनिविशमानानाम् इति अस्थावराणाम्। काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। मेघः शरीरम्। शरीरं शृणातेः, शम्नातेः वा। वृत्रस्य निण्यं = निर्णामम्। विचरन्ति = विजानन्ति आप इति। दीर्घं द्राघतेः। तमः तनोतेः। आशयत् आशेतेः। इन्द्रशत्रुः—इन्द्रोऽस्य शमयिता वा, शातयिता वा। तस्मात् इन्द्रशत्रुः॥

न ठहरनेवाले और न बैठनेवाले—यह अस्थावर (जल) के विषय में। जल के बीच में रखे हुए शरीर को। 'शरीर' = मेघ। शरीर √शृ (फाड़ना), या √शम् (मारना) से। वृत्र के निण्य को = झुकने के स्थान को जल, विचरन्ति = जानते हैं। दीर्घं √द्राघ् (योग्य होना) से, तम् √तन् (विस्तार) से, आशयत् = सोया (√शी)। इन्द्रशत्रुः = इन्द्र जिसका शमन करनेवाला या विनाशक है। इससे 'इन्द्रशत्रु' बना (√शम् या √शद्)॥

तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणः वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। अहिवत् तु खलु मन्त्रवर्णाः, ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयांचकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिरे आपः। तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति॥ १६॥

यह वृत्र कौन है? निरुक्तकारों के मत से 'मेघ' है। जल और प्रकाश का मिश्रण होने पर वर्षा होती है, ऐसा होने पर रूपक के द्वारा युद्ध का वर्णन होता है। किन्तु मन्त्रों के वर्णनों तथा ब्राह्मण की कथाओं में तो उसे साँप माना गया है। [उसने] शरीर के फैलाव से जल-प्रवाह रोक लिया। उसके मारे जाने पर जल प्रवाहित हुए। उसका वर्णन (उल्लेख) करनेवाली यह ऋचा है॥ १६॥

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिनेव गावः।
अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार॥

(पणिना) पणि के द्वारा (गावः) गौओं (इव) के समान (दासपत्नीः) दास की पत्नियों के रूप में (अहिगोपाः) साँप के द्वारा छिपाये गये (आपः)

जल (निरुद्धाः) रुके हुए (अतिष्ठन्) स्थित थे। (अपां) जल का (बिलं) स्रोत (यद्) जो (अपिहितं) छिपा हुआ (आसीत्) था, (तत्) उसे (वृत्रं) वृत्र को (जघन्वान्) मारनेवाले ने (अप ववार) मुक्त कर दिया। (ऋ० १।३२।११)॥

दासपत्नीः = दासाधिपत्न्यः। दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि। अहिगोपाः अतिष्ठन् = अहिना गुप्ताः। अहिः अयनात्। एति अन्तरिक्षे। अयमपि इतरोऽहिः एतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः आहन्तीति। निरुद्धा आपः पणिनेव गावः। पणिः वणिक् भवति। पणिः पणनात्। वणिक् पण्यं नेनेक्ति। अपां बिलमपिहितं यदासीत्। बिलं भरं भवति। बिभर्तेः। वृत्रं जघ्निवान् अपववार तत्। वृत्रो वृणोतेः वा। वर्ततेः वा, वर्धतेः वा। 'यद् अवृणोत् तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते। 'यद् अवर्तत तत् वृत्रस्य वृत्रत्वम्' इति विज्ञायते॥ १७॥

दासपत्नी = दासों की रक्षा करने वाली। 'दास' √दस् से क्योंकि वह कामों को समाप्त करता है (उप √दस्)। अहिगोपाः = अहि के द्वारा गुप्त। 'अहि' √इ (जाना) से, क्योंकि अन्तरिक्ष में जाता है। यह दूसरा 'अहि' (साँप) भी इसीसे बना है या आ + √हन् (मारना) से उपसर्ग को ह्रस्व करके बना है। पणि द्वारा गौओं के समान जल रुके हुए थे। पणि = वणिक् √पण् (व्यवहार) से। बनिया बिक्री की चीजों को (पण्य) साफ करके रखता है (√णिज्)। जल का जो छेद रुका हुआ था। बिल = भर (जल से भरा), √भृ (भरना) से। वृत्र को मारनेवाले ने उसे खोल दिया। 'वृत्र' √वृ (ढंकना) से, √वृत् (वर्तमान) से, या √वृध् (बढ़ना) से। 'वृत्र की विशेषता यही है कि उसने ढंक दिया'—यह मालूम होता है। 'वह वर्तमान था वह भी वृत्र की विशेषता है'—ऐसा मालूम होता है॥ १७॥

विशेष—'बिल' की व्युत्पत्ति √भृ से यास्क करते हैं। √भृ के दो अर्थ हैं—(१) धारण करना जो जुहोत्यादि गण का है—बिभर्त्ति, (२) भरण करना जो भ्वादिगण का है—भरति। यास्क 'भरण अर्थ वाले √भृ से ही 'बिल' की व्युत्पत्ति करते हैं तथापि इसका रूप 'बिभर्ति' देते हैं। सम्भवतः यह तत्कालीन प्रयोग हो। वृत्र के निर्वचन में दुर्गाचार्य का पाठ है—'यदवर्तयत् (उसने लगाया), कहीं-कहीं 'यदवर्धयत्' (उसने बढ़ाया)—यह पाठ भी है॥ १७॥

षष्ठ पाद

रात्रिनामानि उत्तराणि त्रयोविंशतिः। रात्रिः कस्मात्? प्ररमयति भूतानि नक्तंचारीणि। उपरमयति इतराणि = ध्रुवीकरोति। रातेः वा स्यात् दानकर्मणः। प्रदीयन्ते अस्याम् अवश्यायाः॥ उषोनामानि उत्तराणि षोडश। उषाः कस्मात्? उच्छति इति सत्याः। रात्रेः अपरः कालः। तस्याः एषा भवति ॥ १८ ॥

इसके वाद के तेईस नाम रात्रि के हैं। (१६) 'रात्रि' कैसे? रात में चलनेवाले जीवों को प्रसन्न करती है (प्र√रम्)। दूसरे [जीवों] को स्थिर करती है (उप√रम्) = ध्रुव बनाती है। या √रा = देना, से बना है क्योंकि इसमें ओस दी जाती है।

इसके वाद के सोलह नाम उषा के हैं। (१७) 'उषा' कैसे? चूंकि भगाती है (√उच्छ्)—'रात का पिछला पहर'। उसकी यह (ऋचा) है ॥ १८ ॥

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा।
यथा प्रसूता सवितुः सवायं एवा रात्र्युषसे योनिमारैक्॥

(ज्योतिषां) सभी प्रकाशों में (श्रेष्ठं) श्रेष्ठ (इदं) यह (ज्योतिः) प्रकाश (आ अगात्) आया, (चित्रः) बहुरंगी, (प्रकेतः) चमकीला और (बिभ्वा) सर्वत्र फैला [प्रकाश] (अजनिष्ट) निकला। (यथा) जिस प्रकार (सवितुः) सविता को (सवाय) उत्पन्न करने के लिए [उषा] (प्रसूता) उत्पन्न हुई (एवं) उसी प्रकार (रात्री) रात्रि ने (उससे) उषा के लिए (योनिम्) स्थान (आरैक्) खाली किया = रात्रि उषा को उत्पन्न करती है। (ऋ० १।११३।१७ सामवेद २।१०९९)।

विशेष—एव-'एवम्' का मलोप। वैदिक-भाषा में मलोप के बहुत उदाहरण हैं। सम्भवतः भारोपीय मूल भाषा (Indo.European proto·type) में ये 'म' न रहे हों। तुल० तुभ्य (म्), त्वा (म्)। एव का छान्दस—दीर्घ—एवा। आरैक् = √रिच् (रिक्त) से।

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत्। चित्रम्। प्रकेतनं = प्रज्ञाततमम्। अजनिष्ट। विभूततमम्। यथा प्रसूता सवितुः। प्रसवाय रात्रिः आदित्यस्य। एवं रात्री उषसे योनिम् अरिचत् स्थानम्। स्त्रीयोनि.अभियुतः एनां गर्भः। तस्याः एषापरा भवति॥

ज्योतियों में श्रेष्ठ यह ज्योति आई। सुन्दर, प्रकेतन = सबसे अधिक ज्ञात,

और सबसे अधिक व्याप्त, उत्पन्न हुई है। जैसे रात्रि सविता के प्रसव के लिये उत्पन्न हुई है = आदित्य को [जन्म देने के लिए]। उसी प्रकार उषा ने रात्रि के लिए योनि = स्थान खाली किया। स्त्रीयोनि = जिसमें गर्भ मिलता है (अभि√यु)। उसकी यह दूसरी (= ऋचा) है ॥ १९ ॥

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥

(रुशद्वत्सा) चमकीले पुत्र वाली, (रुशती) स्वयं चमकीली (श्वेत्या) उजली [उषा] (आगात्) आई, (कृष्णा) काली (रात) ने (अस्याः) अपने (सदनानि) स्थानों को (उ) सचमुच (आरैक्) खाली कर दिया। (समानबन्धू) एक तरह का परिवार वाले, (अमृते) अमर (अनूची) एक दूसरे के पीछे चलने वाले, (द्यावा) दोनों दिन [और रात] (वर्णं) रंग को (आमिनाने) बदलते हुए (चरतः) चलते हैं (ऋ० १।११३।२)।

रुशद्वत्सा = सूर्यवत्सा। रुशत् इति वर्णनाम, रोचतेः ज्वलतिकर्मणः। सूर्यम् अस्याः वत्समाह। साहचर्यात्, रसहरणात् वा। रुशती श्वेत्या आगात्। श्वेत्या श्वेततेः। अरिचत् कृष्णा सदनानि अस्याः। कृष्णवर्णा रात्रिः। कृष्णं कृष्यतेः, निकृष्टो वर्णः। अथ एने संस्तौति—समानबन्धू = समानबन्धने। अमृते = अमरणधर्माणौ। अनूची अनूच्यौ इतरेतरमभिप्रेत्य। द्यावा वर्णं चरतः। ते एव, द्यावौ। द्योतनात्। अपि वा द्यावा चरतः = तया सह चरत इति स्यात्। आमिनाने = अन्योन्यस्य अध्यात्मं कुर्वाणे ॥

रुशद्वत्सा = सूर्य-रूपी पुत्रवाली। रुशत् = रंग, 'जलना' अर्थवाले √ रुच् से। सूर्य को इसका पुत्र कहा गया है—साथ-साथ चलने के कारण या रस-हरण करने के कारण। चमकती हुई उजले रंगवाली आई। श्वेत्या—√श्वित् (जलना) से। काले रंगवाली ने अपने स्थान खाली कर दिये = काले रंगवाली रात ने। कृष्ण = √कृष् (खींचना) से, निकृष्ट वर्ण। अब इन दोनों की स्तुति करता है। समानबन्धू = एक तरह का बन्धन (परिवार) वाले। अमृते = नहीं मरने का धर्मवाले। अनूची = एक दूसरे के पीछे जानेवाली। दोनो द्यौ (स्वर्ग) प्रकाश पर चलते हैं। वे दोनों (उषा-रात्रि) ही द्यौ हैं, प्रकाशित होने के कारण (√द्युत्)। अथवा, द्यावा चरतः = द्यौ के साथ चलते

हैं—यह भी हो सकता है। आमिनाने=एक दूसरे की आत्मा (शरीर) में निवास करते हुए॥

अहर्नामानि उत्तराणि द्वादश। अहः कस्मात्? उपाहरन्ति अस्मिन् कर्माणि। तस्यैष निपातो भवति—वैश्वानरीयायामृचि॥

इसके बाद के बारह नाम 'अहः' (दिन) के हैं। (१८) 'अहः' कैसे? इसमें कामों को पूरा करते हैं (उप आ √हृ)। वैश्वानरीय ऋचा में उसका यह प्रयोग हुआ है॥ २०॥

अह॑श्च कृ॒ष्णमह॒रर्जु॑नं च॒ वि व॑र्तेते॒ रज॑सी वे॒द्याभिः॑।
वै॒श्वा॒न॒रो जाय॑मानो॒ न राजावा॑तिर॒ज्ज्योति॑षा॒ग्निस्तमां॑सि॥

(कृष्णं) काला (अर्जुनं च) और उजला (अहः) दिन [=दिन-रात] (वेद्याभिः) अखंड नियम से (रजसी) दोनों संसार में (विवर्तेते) विकल्प से आते हैं। (जायमानः) बढ़नेवाले (राजा) राजा (न) के समान (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम के (अग्निः) अग्नि ने (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (तमांसि) अन्धकार को (अव अतिरत्) भगा दिया। (ऋ० ६।९।१)॥

अहश्च कृष्णं = रात्रिः। शुक्लं च अहः अर्जुनम्। विवर्तेते रजसी। वेद्याभिः = वेदितव्याभिः प्रवृत्तिभिः। वैश्वानरः जायमान इव उद्यन् आदित्यः। सर्वेषां राजा। अवाहन् अग्निः ज्योतिषा तमांसि।

काला दिन=रात्रि। अर्जुन=उजला दिन। दोनों रंगवाले काल[1] विकल्प से चलते हैं। वेद्याभिः=जानने योग्य प्रवृत्तियों (कर्मों) के द्वारा। उत्पन्न होते हुए के समान वैश्वानर=उगते हुए सूर्य ने। सभी ज्योतिः पुंजों के राजा अग्नि ने प्रकाश द्वारा अन्धकार को हटा दिया।

मेघनामानि उत्तराणि त्रिंशत्। मेघः कस्मात्? मेहतीति सतः। आ 'उपर उपल' इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपरः उपलः मेघो भवति। उपरमन्ते अस्मिन् अभ्राणि। उपरता आप इति वा। तेषाम् एषा भवति॥ २१॥

इसके बाद के तीस नाम मेघ के हैं। (१९) मेघ कैसे? √मिह (सींचना)

---

१. दुर्ग के अनुसार, रजसी=रञ्जके। दिन विश्व को प्रकाश से रंगता है, रात अन्धकार से रँगती है।

से। उपर और उपल तक [गिनाये गये नाम] पर्वत के लिए भी समान हैं। उपर या उपल मेघ को कहते हैं, जिसमें बादल गतिहीन हो जाते हैं (उप√रम्), या [जिसमें] जल निष्क्रिय होता है (उप√रम्)। उसकी यह (ऋचा) है ॥ २१ ॥

दे॒वानां॒ माने॑ प्रथ॒मा अ॑तिष्ठन्कृ॒न्तत्रा॑देषा॒मुप॑रा॒ उदा॑यन् ।
त्रय॑स्तपन्ति पृथि॒वीम॑नू॒पा द्वा बृबू॑कं वहतः॒ पुरी॑षम् ॥

(देवानां) देवताओं के (माने) बनने के समय (प्रथमा) सबसे पहले (अतिष्ठन्) बन गये, (एषां) इनके (कृन्तत्रात्) छेद से (उपराः) जल (उद् आयन्) निकल आये। (त्रयः) तीनों मिलकर (अनूपाः) अपने-अपने नियम से चलने वाले (पृथिवीम्) पृथ्वी को (तपन्ति) गर्म करते हैं, और (द्वा) दो तो (पुरीषम्) प्रसन्न करने वाला (बृबूकं) जल (वहतः) लाते हैं। (ऋ० १०।२७।२३)।

देवानां निर्माणे प्रथमा अतिष्ठन्—माध्यमिका देवगणाः। प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति। विकर्तनेन मेघानाम्, उदकं जायते। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपाः। पर्जन्यो वायुः आदित्यः, शीतोष्णवर्षैः ओषधीः पाचयन्ति। अनूपाः—अनुवपन्ति लोकान् स्वेन स्वेन कर्मणा। अयमपि इतरः अनूपः एतस्मादेव। अनूप्यते उदकेन। अपि वा, 'अन्वाप्' इति स्यात्। यथा प्राक् इति। तस्य अनूपः इति स्यात्। यथा प्राचीनम् इति। द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम्। वाय्वादित्यौ उदकम्। बृबूकम् इति उदकनाम। ब्रवीतेः वा शब्दकर्मणः। भ्रंशतेः वा। पुरीषं पृणातेः वा पूरयतेः वा ॥ २२ ॥

देवताओं के निर्माण के समय मध्यस्थान वाले देवता (मेघ) पहले बने। प्रथम = मुख्य, प्रकृष्टतम (प्रतम)। इन मेघों के कटने से (कृन्तत्रात् √कृत्) जल उत्पन्न होता है। तीन अनूप मिलकर पृथ्वी को गर्म करते हैं = पर्जन्य वर्षा से, वायु शीत से और आदित्य गर्मी से पौधों को पकाते हैं। ये अनूप हैं क्योंकि संसार को अपने-अपने कर्म से अनुगृहीत करते हैं (अनु√वप्)। यह दूसरा अनूप (= पानी से भरा क्षेत्र, दियारा) भी इसी से बना है क्योंकि पानी से अनुगृहीत रहता है। अथवा अन्वाप् (जल से घिरा) हो जैसे प्राक्-

शब्द-बनता है। उसीसे 'प्राचीन' शब्द की तरह अनूप हो गया। दो प्रसन्न करने वाले बृबूक लाते हैं—वायु और सूर्य जल को। 'बृबूक' जल का पर्याय है। √ब्रू = बोलना, या √भ्रंश् (गिराना) से। पुरीष√पृ या √पूरय् (भरना) से बना है ॥ २२ ॥

विशेष—'अनूप' शब्द की व्युत्पत्ति में यास्क की कल्पना विचित्र है। वे सादृश्य (Analogy) का आश्रय लेते हैं। जैसे, प्राक् : प्राचीनः=अन्वाप् : अनूप। परन्तु सादृश्य ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ अन्वाप् से अनूप बनते समय आ का उ हो जाता है प्राक् से प्राचीन वनने में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके बदले में उन्हें अन्वक् से अनूची का उदाहरण देना चाहिए था। अनूपम् = जलप्रायस्थान (अमर० २।१।१०) पाणिनि के सूत्रों के अनुसार (६।३।९७–९८) अप् का द्वि, अन्तः, प्रति और सम् के बाद ईप् आदेश होता है, किन्तु अनु के बाद ऊप्। बृबूक = जल, गड्डा आदि (मो० वि०) ॥ २२ ॥

सप्तम-पाद

वाङ्नामानि उत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक् कस्मात्? वचेः। तत्र सरस्वती इत्येतस्य नदीवत् देवतावत् निगमा भवन्ति। तद् यद् देवतावद्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथ एतन्नदीवत् ॥ २३ ॥

इसके बाद के सत्तावन नाम वाक् के हैं। (२०) वाक् कैसे? √वच् (बोलना) से। उन (नामों) में 'सरस्वती' का नदी और देवता के भी अर्थ में प्रयोग हुआ है। देवता वाले अर्थ की व्याख्या बाद में करेंगे (११।२६)। यहाँ नदी के अर्थ में।

**इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥**

(इयं) यह नदी (बिसखा) कमल की डंडी तोड़ने वाले (इव) के समान (शुष्मेभिः) अपने बल के द्वारा तथा (तविषेभिः) बलशाली (ऊर्मिभिः) लहरों के द्वारा (गिरीणां) पहाड़ों की (सानु) चोटी को (अरुजत्) तोड़ती है। (अवसे) रक्षा के लिए (सुवृक्तिभिः) अच्छी तरह से बनाई गई (धीतिभिः) स्तुतियों द्वारा (पारावतघ्नीं) दोनों किनारों को तोड़ने वाली, या बहुत दूर के स्थानों को भी नष्ट करने वाली (सरस्वतीम्) सरस्वती नदी की (आ विवासेम) पूजा करें। (ऋ० ६।६१।२)।

इयं शुष्मैः शोषणैः। शुष्ममिति बलनाम। शोषयतीति सतः। विसं विस्यतेः भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणः वा। सानु समुच्छ्रितं भवति। समुन्नुन्नमिति वा। महद्भिः ऊर्मिभिः पारावतघ्नीं = पारावारघातिनीम्। पारं परं भवति। अवारम् अवरम्। अवनाय सुप्रवृत्ताभिः स्तुतिभिः सरस्वतीं कर्मभिः परिचरेम।

यह शुष्म = शोषक (बल) के द्वारा। शुष्म = बल, क्योंकि [शत्रुओं को] सुखाता है (√शुष्)। बिस √बिस् = भेद करना, बढ़ाना से। सानु ऊँचा (सम् उत् √श्रि) या प्रेरित (सम् उत् √नुद्) होता है। बड़ी लहरों से। पारावतघ्नी = आर-पार को तोड़ने वाली। पार = दूसरा, अवार=अवर (नीचे)। रक्षा के लिए, अच्छी तरह बनाई गई स्तुतियों से सरस्वती की सेवा (हम) कर्म से करें।

उदकनामानि उत्तराणि एकशतम्। उदकं कस्मात्? उनत्तीति सतः। नदीनामानि उत्तराणि सप्तत्रिंशत्। नद्यः कस्मात्? नदनाः भवन्ति = शब्दवत्यः। बहुलम् आसां नैघण्टुकं वृत्तम्। आश्चर्यम् इव प्राधान्येन। तत्रेतिहासम् आचक्षते—'विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव।' विश्वामित्रः सर्वमित्रः। सर्वं संसृतम्। सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः, पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवो वा, अमिश्रीभावगतिः वा। 'स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः संभेदम् आययौ। अनुययुरितरे। स विश्वामित्रः नदीः तुष्टाव—गाधा भवत इति।' अपि द्विवत्, अपि बहुवत्। तद्यत् द्विवत्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथ एतद् बहुवत्॥ २४॥

इसके बाद के एक सौ नाम उदक के हैं। (२१) 'उदक' कैसे? √उन्द (भिगाना) से।

इसके बाद के सैंतीस नाम नदी के हैं। (२२) नदी कैसे? नाद करने वाली = शब्दयुक्त। बहुत जगह इनका अप्रधान स्थान है। प्रधानता देनेवाले स्थान तो आश्चर्य के समान (कम) हैं। यहाँ एक इतिहास कहते हैं—विश्वामित्र ऋषि सुदास् पैजवन के पुरोहित बने। विश्वामित्र = सबके मित्र, सर्व=

संसृत (व्याप्त, √सृ)। सुदाः = कल्याणदाता। पैजवन = पिजवन के पुत्र। फिर, पिजवन = स्पर्धनीय वेग (जव) वाले, या जिसकी गति किसी से न मिले। तो वे (विश्वामित्र) धन लेकर विपाश और शुतुद्री के संगम पर आये दूसरे लोग उनके पीछे-पीछे गये, विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति की—'अल्प-जल वाली हो जाओ।' द्विवचन में और बहुवचन में भी [स्तुति की]। द्विवचन वाले की व्याख्या बाद में होगी (९।३९)। यहाँ बहुवचन वाले की ॥ २४ ॥

रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः ॥

(ऋतावरीः) हे सदा बहने वाली! (मे) मेरे (सोम्याय) सोम से पूर्ण (वचसे) वचन सुनने के लिए (एवैः) अपनी गतियों से (मुहूर्त्तम्) क्षण भर (उपरमध्वम्) रुक जाओ। (बृहती) बड़ी (मनीषा) लालसा से (अवस्युः) सहायता का इच्छुक मैं (कुशिकस्य) कुशिक राजा का (सूनुः) पुत्र (सिन्धुं) सिन्धु को (अच्छ) ही (प्र अह्वे) बुलाता हूँ।

(ऋ० ३।३३।५)।

उपरमध्वं मे वचसे। सोम्याय = सोमसंपादिने। ऋतावरीः। ऋतवत्यः ऋतमिति उदकनाम। प्रत्यृतं भवति। मुहूर्तम्। एवैः=अयनैः, अवनैः वा? मुहूर्तः=मुहुः ऋतुः, ऋतुः अर्तेः गतिकर्मणः। मुहुः=मूढ इव कालः, यावत् अभीक्ष्णं चेति। अभीक्ष्णम् अभिक्षणं भवति। क्षणः क्षणोतेः, प्रक्ष्णुतः कालः। कालः कालयतेः गतिकर्मणः। प्राभिह्वयामि सिन्धुम्। बृहत्या= महत्या। मनीषया = मनसः ईषया, स्तुत्या, प्रज्ञया वा। अवनाय। कुशिकस्य सूनुः। कुशिको राजा बभूव। क्रोशतेः शब्दकर्मणः, क्रंशतेः वा स्यात् प्रकाशयति कर्मणः, साधु विक्रोशयिता अर्थानामिति वा। नद्यः प्रत्यूचुः ॥ २५ ॥

मेरे वचन के लिए रुक जाओ। सोम्य = सोम देने वाले (वचन)। ऋतावरी = ऋत से युक्त। ऋत = जल, क्योंकि (देशों की) ओर जाता है। मुहूर्त्त भर। एवैः = गतियों से (√इ) या सहायताओं से (√अव)। मुहूर्त = शीघ्र (मुहुः) ऋतु (काल)। 'ऋतु' √ऋ = जाना से। मुहुः = मूढ के समान समय (शीघ्र), 'अभीक्ष्ण'—जैसा। अभीक्ष्ण = अभिक्षण (क्षण की ओर)। क्षण √क्षण् (मारना) से = अच्छी तरह तेज किया हुआ समय

(प्र √क्ष्णु) । 'काल' √कालय् = जाना, से। सिन्धु को बुलाता हूँ। [बृहती =] बृहत्या=बड़ी, मनीषा (मनीषया) मन की ईषा (गति) से = स्तुति या बुद्धि से। रक्षा के लिए। कुशिक का पुत्र। 'कुशिक' राजा थे। √क्रुश (चिल्लाना) से या 'प्रकाशन' अर्थ वाले √क्रंश् से। घन का सम्यक् वचन देने वाला।

नदियों ने उत्तर दिया॥ २५॥

इन्द्रो॑ अ॒स्माँ अ॑रद॒द्वज्र॑बाहु॒रपा॑ह॒न्वृ॒त्रं प॑रि॒धिं न॒दीना॑म्।
दे॒वो॑ऽनयत्सवि॒ता सु॑पा॒णिस्तस्य॑ व॒यं प्र॑स॒वे या॑म उ॒र्वीः॥

(वज्रबाहुः) बाहुओं में वज्र धारण करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र ने (नदीनाम्) नदियों को (परिधिं) घेरने वाले (वृत्रं) वृत्र को (अपाहन्) मारा और (अस्मान्) हमें (अरदत्) खोदा। (सुपाणिः) सुन्दर हाथों वाले (सविता) सविता (देवः) देवता [हमें] (अनयत्) लाये (वयं) हम लोग (तस्य) उनके (प्रसवे) उत्पन्न की हुई (उर्वीः) चारों तरफ (यामः) जाती हैं। (३।३३।६)।

इन्द्रः अस्मान् अरदत् वज्रबाहुः। रदतिः खनतिकर्मा। अपाहन् वृत्रं परिधिं नदीनाम्—इति व्याख्यातम्। देवोऽनयत् सविता। सुपाणिः=कल्याणपाणिः। पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः। प्रगृह्य पाणी देवान् पूजयन्ति। तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः। उर्व्यः ऊर्णोतेः। वृणोतेः इति और्णवाभः। प्रत्याख्याय अन्ततः आशुश्रुवुः॥ २६॥

वज्रबाहु इन्द्र ने हमें खोदा। रद्=खोदना। नदियों को चारों ओर से रोकने वाले (परिधि) वृत्र को मारा—यह स्पष्ट है। सविता (प्रसव करने वाले—इन्द्र) देव लाये। सुपाणि = कल्याणकर हाथों वाले। 'पाणि' √पणाय्=पूजा करना, से। हाथ जोड़ कर ही देवताओं की पूजा करते हैं। उनके प्रसव में (आदेश से) हम चारों ओर (घेर कर) जाती हैं। 'उर्वी' √ऊर्णु (घेरना) से; और्णवाभ के मत से √वृ (ढँकना) से। [नदियों ने] अस्वीकार करके अन्त में वचन दिया॥ २६॥

आ ते॑ कारो शृणवामा॒ वचां॑सि य॒याथ॑ दू॒रादन॑सा॒ रथे॑न।
नि ते॑ नंसै पी॒प्याने॑व॒ योषा॒ मर्या॑येव क॒न्या॑ शश्व॒चै ते॑॥

(कारो) हे गायक! (ते) तुम्हारे (वचांसि) वचनों को (आशृणवाम)

हम सुनेंगी। (अनसा) गाड़ी से और (रथेन) रथ से (दूरात्) दूर से (ययाथ) आये हो। (ते) तुम्हारे प्रति (पीप्याना) दूध पिलानेवाली (योषा इव) स्त्री के समान, मैं (नि नंसै) झुकती हूँ। (मर्याय) मनुष्य के प्रति (कन्या इव) कन्या-जैसी में (ते) तुम्हारा (शश्वचै) आलिङ्गन करती हूँ। (ऋ० ३।३३।१०)॥

विशेष—'ययाथ' के अर्थ के विषय में विभिन्न मत हैं। यास्क और दुर्ग 'जाओ' अर्थ लेते हैं—गाड़ी से जाओ=पार करो। फिर 'दूरात्' से अलग वाक्य की कल्पना भी करते हैं—क्योंकि दूर से आये हो। यह विचित्र मालूम पड़ता है। सायण 'ययाथ'=यतः दूरात् आगतः असि। गेल्डनर ने 'आ' उपसर्ग को 'ययाथ' के साथ मानकर 'आये हो' अर्थ किया है। 'शश्वचै' के अर्थ में यास्क 'परिष्वजनाय' लिखते हैं किन्तु 'नंसै' और 'शश्वचै' दोनों व्याकरण की दृष्टि से समादर हैं, दोनों ही क्रिया हैं। अर्थ होगा—मैं 'झुकती हूँ', 'आलिंगन करती हूँ', अतः इसे तुमुन्नर्थक (Infinitive) मानना भ्रम है॥

आश्रृणवाम ते कारो वचनानि। याहि, दूरात्, अनसा रथेन च। निनमाम ते पाययमाना इव योषा पुत्रम्। मर्याय इव कन्या परिष्वजनाय। निनमै इति वा॥

गायक! हम तुम्हारे वचन पूरा करेंगी। शकट और रथ से तुम जाओ, क्योंकि दूर से [आये हो—दुर्ग, सायण] (दूध) पिलानेवाली स्त्री जैसे पुत्र के प्रति [झुकती है], वैसे ही (हम) तुम्हारे प्रति झुकती हैं। मनुष्य के प्रति कन्या जैसे आलिगन के लिए [झुकती है]। 'झुकती हूँ'—भी सम्भव है (एकवचन में)॥

अश्वनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः। तेषामष्टा उत्तराणि बहुवत्। अश्वः कस्मात्? अश्नुते अध्वानम्। महाशनो भवति इति वा। तत्र दधिक्राः इत्येतत् 'दधत् क्रामति' इति वा, दधत् क्रन्दतीति वा। दधत् आकारी भवति इति वा। तस्य अश्ववद् देवतावच्च निगमाः भवन्ति। तद् यद् देवतावद्, उपरिष्टात् तद् व्याख्यास्यामः। अथ एतद् अश्ववत्॥ २७॥

इसके बाद के छब्बीस नाम अश्व के हैं, जिनमें पिछले आठ नाम बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। (२३) 'अश्व' कैसे? रास्ते को तय करता है (अध्व + √अश्) या अधिक भोजन (? गति) वाला। उन (नामों) में 'दधिक्रा' भी

है—धारण करके चलता है या धारण करके हिनहिनाता है। या धारण करने पर अच्छे आकार का (सुन्दर) लगता है। इसका अश्व और देवता—दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। जो देवता अर्थवाला है उसकी व्याख्या बाद में करेंगे (१०।३१)। यह 'अश्व' अर्थवाला है ॥ ८७ ॥

उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि।
क्रतुं दधिक्रा अनु सन्तवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥

(उत) और (स्यः) वह (वाजी) घोड़ा (ग्रीवायां) गरदन में, (अपिकक्षे) कांख में और (आसनि) मुंह में (बद्धः) बंध जाने पर (क्षिपणिं) कोड़े के प्रहार से (तुरण्यति) तेज दौड़ता है; (दधिक्राः) घोड़ा (क्रतुं) अपनी शक्ति का (अनु-संतवीत्वत्) संग्रह करता हुआ (पथाम्) रास्तों के (अङ्कांसि) मोड़ों को (अनु आपनीफणत्) तेंजी से पार करता है। (ऋ० ४।४०।४) ॥

अपि स वाजी वेजनवान् क्षेपणम् अनु तूर्णमश्नुते अध्वानम्। ग्रीवायां बद्धः। ग्रीवा गिरतेः वा, गृणातेः वा, गृह्णातेः वा। 'अपिकक्षे' 'आसनि' इति व्याख्यातम्। क्रतुं दधिक्राः। कर्म वा प्रज्ञां वा। अनु संतवीत्वत्—तनोतेः पूर्वया प्रकृत्या निगमः। पथामङ्कांसि = पथां कुटिलानि। पन्थाः पततेः वा, पद्यतेः वा पन्थतेः वा। अङ्कः अञ्चतेः। आपनीफणत् इति फणतेः चर्करीतवृत्तम्

और वह वाजी = वेगवान्। क्षेपण (कोड़े) के बाद, शीघ्र ही रास्ता तय करता है। गरदन में बंधा हुआ; ग्रीवा √गृ (निकालना) से, या √गृ (आवाज करना) से, या √ग्रह (पकड़ना) से। कक्ष और आस्य में—इन (दोनों शब्दों) की व्याख्या हो चुकी है। क्रतु = कर्म या बुद्धि को, घोड़ा, पूर्णतः चलाये जाता है (उछलता है)—√तन् की पूर्व प्रकृति (अक्षर–त) से बना है। पथाम् अङ्कांसि = रास्तों के मोड़ों को। पथ √पत्, √पद् या √पथ् (जाना) से। अंक √अञ्च् (झुकाना) से। आपनीफणत् = (खूब जाता है)—यह √फण् का चर्करीत (यङन्त) रूप है ॥

विशेष—क्षेपण = कोड़ा, √क्षिप् (फेंकना), इसलिए गेल्डनर अनुवाद करते हैं—'कोड़ा उठाते ही'। अनु संतवीत्वत्—यङन्तरूप √तु = बढ़ाता है। पूर्वा प्रकृति = धातु की मूल अवस्था; पहला अक्षर। अनु आपनीफणत्—√फण

(जाना) का यङ् में (लुङ्) । यङ् को यास्क चर्करीत कहते हैं । दुर्ग धातु की छः अवस्थायें दिखलाते हैं—

प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च ।
ण्यन्तः ण्यन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते ॥

दश उत्तराणि आदिष्टोपयोजनानि—इति आचक्षते साहचर्यज्ञानाय । ज्वलतिकर्माणः उत्तरे धातवः एकादश । तावन्ति एव उत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि ॥ २८ ॥

इसके बाद के दस नामों में साहचर्य-ज्ञान के लिए उनके उपयोग का भी कथन हुआ है । उसके बाद के ग्यारह धातु 'जलना' अर्थवाले हैं । उसके बाद के उतने ही नाम 'ज्वलन' के हैं ॥ २८ ॥

॥ इति निरुक्ते द्वितीयोऽध्यायः ॥



तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

कर्मनामान्युत्तराणि षड्विंशतिः (निघ० २।१)। कर्म कस्मात् ? क्रियते इति सतः। अपत्यनामान्युत्तराणि पञ्चदश (निघ० २।२) अपत्यं कस्मात् ? अपततं भवति। नानेन पतति इति वा। तद् यथा 'जनयितुः प्रजा' एवमर्थीये ऋच उदाहरिष्यामः ॥ १ ॥

इसके बाद के छब्बीस नाम कर्म के हैं। कर्म कैसे ? जो किया जाय (√कृ)। बाद के पन्द्रह नाम अपत्य के हैं। अपत्य कैसे ? [पिता से] अलग होकर फैलता है (√तन्), अथवा इसके कारण [पिता नरक में] नहीं पड़ता है (√पत्)। तो जिससे 'सन्तान, जन्म देने वाले (पिता) की' [यह सिद्ध हो], ऐसे अर्थवाली दो ऋचाओं का उदाहरण देंगे ॥ १ ॥

विशेष—दुर्गाचार्य कहते हैं कि ज्वलन (द्वितीय अध्याय) के नामों के बाद कर्म के नाम इसलिए आए हैं कि अग्नि (ज्वलन) में हमारे सभी कर्म निष्पन्न होते हैं, जैसे यज्ञ आदि। कर्म के बाद ही अपत्य आता है क्योंकि सभी कर्मों में मुख्य है पुत्रोत्पादन। दुर्ग की कल्पना बड़ी ही मनोरञ्जक है। एवमर्थीये = इस अर्थवाली (द्वि० व०)—यह 'ऋचौ' (द्वि० व०) का विशेषण है।

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥

(अरणस्य) दूसरे परिवार की (रेक्णः) सम्पत्ति (परिषद्यं हि) त्याग देने के योग्य है, [हम लोग] (नित्यस्य) चिरस्थायी (रायः) धन के (पतयः) स्वामी (स्याम) बनें। (अन्यजातम्) दूसरे का जन्मा हुआ पुत्र (शेषः न) पुत्र नहीं है, वह तो (अचेतानस्य) अज्ञानी के लिए वैसा (अस्ति) होता है, (अग्ने) हे अग्ने ! (पथः) हमारे मार्ग को (मा वि दुक्षः) दूषित मत करो (ऋ० ७।४।७)।

विशेष—दुर्ग के अनुसार इन ऋचाओं में वसिष्ठ और अग्नि का संवाद वर्णित है। वसिष्ठ ने अग्नि से पुत्र माँगा क्योंकि वसिष्ठ के सभी पुत्र मारे गये थे। अग्नि ने उत्तर दिया कि खरीदा हुआ, कृत्रिम या दत्तक पुत्र ले लो।

वसिष्ठ ने उक्त ऋचा में इन पुत्रों की निरर्थकता दिखाकर औरस पुत्र को ही पुत्र बतलाया और कहा कि हे अग्ने ! मेरे मार्ग को दूषित मत करो।

परिहर्त्तव्यं हि नोपसर्त्तव्यम्। अरणस्य रेक्णः। अरणः अपार्णो भवति। रेक्णः इति धननाम—रिच्यते प्रयतः। 'नित्यस्य रायः पतयः स्याम'। पित्र्यस्येव धनस्य। 'न शेषो अग्ने अन्य-जातमस्ति'। शेषः इत्यपत्यनाम—शिष्यते प्रयतः। अचेतय-मानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति। मा नः पथो विदूदुषः इति। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—॥ २ ॥

परिहार करना चाहिये अर्थात् पास नहीं जाना चाहिए। अपरिचित का धन। अरण = ऋण (जलदानसम्बन्ध) से रहित [= दूसरे वंश में उत्पन्न]। रेक्ण = धन क्योंकि मरने के समय लोग इसे छोड़ जाते हैं (√रिच्)। हम लोग नित्य (स्थायी) सम्पत्ति के स्वामी बनें, जिस प्रकार पैतृक-सम्पत्ति के [स्वामी बनते हैं]। हे अग्नि ! दूसरे का जन्मा हुआ पुत्र नहीं है। शेष = अपत्य (सन्तान) क्योंकि मरनेवालों की यह [सम्पत्ति] यहीं छूट जाती है। वह (अपत्य) केवल अज्ञानियों या पागलों का ही होता है (ये लोग ही दत्तक आदि पुत्र को अपत्य समझते हैं)। हमारे मार्ग को दूषित मत करो। इसके बाद की [ऋचा] और अधिक स्पष्ट व्याख्या के लिए है ॥ २ ॥

न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥

(अरणः) दूसरे परिवारवाला (सुशेवः) सुखदायक होने पर भी (अन्योदर्यः) दूसरे के पेट से उत्पन्न होने के कारण (न हि ग्रभाय) नहीं ग्रहण करना चाहिये; ऐसा (मनसा) मन में भी नहीं (मन्तवै उ) सोचना चाहिये। (अध) क्योंकि (स इत्) वह (पुनः) फिर (ओकः चित्) अपने घर को ही (एति) लौट जाता है; (नः) हमारे पास (वाजी) वीर, (अभी-षाट्) शत्रुओं का दमन करनेवाला, (नव्यः) नवीन [पुत्र] (आ एतु) आये (ऋ० ७।४।८)।

न हि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽपि अन्योदर्यः। मनसाऽपि न मन्तव्यः—'ममायम्' इति। अथ स ओकः पुनरेव तदेति यतः आगतो भवति। ओकः इति निवासनामोच्यते। एतु नो वाजी

वेजनवान्। अभिषहमानः सपत्नान्। नवजातः। स एव पुत्र इति ॥ अथैतां दुहितृदायाद्य उदाहरन्ति। पुत्रदायाद्य इत्येके ॥३॥

दूसरे के पेट से उत्पन्न, दूसरे कुलवाला अच्छा सुख देने पर भी ग्रहण न करें। मन में भी नहीं समझें कि यह मेरा है। (क्योंकि) बाद में वह उसी घर में लौट जाता है जिससे आता है। 'ओक' निवास का पर्याय है। वीर या वेगवान् हमारे पास आये। शत्रुओं का दमन करनेवाला, नया उत्पन्न। वही (वास्तविक) पुत्र है।

अब आगे की ऋचा को (कुछ लोग) पुत्री का उत्तराधिकार दिखाने के अर्थ में लेते हैं, कुछ लोग पुत्र का उत्तराधिकार दिखलाने में ॥ ३ ॥

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥[1]

(ऋतस्य) यज्ञ के (दीधितिं) विधान को (सपर्यन्) आदर-भाव से देखते हुए (विद्वान्) ज्ञानी, (वह्निः) वहन करनेवाला, पति (शासत्) घोषित करता है कि वह (दुहितुः) पुत्री से (नप्त्यं) नाती या दौहित्र (गात्) पायेगा; (यत्र) जहाँ (पिता) पिता (दुहितुः सेकम्) पुत्री के लिए पति (ऋञ्जन्) खोजता है वहाँ (शग्म्येन मनसा) शान्त मन से (संदधन्वे) अपने को रखता है। (ऋ० ३।३१।१ और ऐ० ब्रा० ६।१८।२)।

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्। दुहिता दुर्हिता, दूरे हिता, दोग्धेर्वा। नप्तारमुपागमत् दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान्। प्रजननयज्ञस्य, रेतसो वा, अङ्गादङ्गात्सम्भूतस्य, हृदयादधिजातस्य, मातरि प्रत्यृतस्य, विधानं पूजयन्। अविशेषेण मिथुनाः पुत्राः दायादाः इति ॥

वहन करनेवाला (पति) सन्तानोचित कर्म के लिए पुत्री का पुत्र होना स्वीकार करता है (=पुत्री को पुत्र का अधिकार प्राप्त है कि वह सन्तान का काम करे)। दुहिता = जिसका हित करना कठिन है, जो दूर पर ही हितकर होती है या दूहती रहती है (√दुह्)। उसने नाती पाया है अर्थात् दुहिता का पुत्र (दौहित्र) भी पौत्र ही है। वह ज्ञानी है। प्रजनन-रूपी यज्ञ के या प्रत्येक अंग से उत्पन्न, हृदय से निकले हुए और माता में प्रविष्ट हुए रेतस्

---

१. इस मंत्र के उत्तरार्ध की व्याख्या यास्क ने इसी अध्याय के पंचम खंड के अन्त में की है।

(वीर्य) के विधान को सम्मानभाव से देखते हुए [वह स्वीकार करता है] । विना भेद-भाव के दोनों सन्तानों (पुत्र और पुत्री) को उत्तराधिकार प्राप्त है।

विशेष—दुर्ग ने और यास्क ने भी ऋचा के पूर्वार्ध की ही व्याख्या की है। इसमें पुत्री का अधिकार पुत्र-सा दिखलाया गया है। दुहिता का निर्वचन बड़ा मनोरञ्जक है—दुर्हिता = जिसकी भलाई करना या जिसे प्रसन्न करना कठिन है। कितनी भी भलाई की जाय इन्हें प्रसन्न करना कठिन है। दूरे हिता = पिता से दूर रहने पर ही पिता का कल्याण है। दुह् = पिता से बराबर धन दूहती रहती हैं। ऐतरेय ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने उद्धरण दिया है—

सम्भवे स्वजनदुःखकारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥

वस्तुतः दुहिता का सम्बन्ध बहुत प्राचीन भाषाओं से है—ग्रीक Thugather, अवेस्ता dugheter और dugedar, जर्मन Tochter, पुरानी अंग्रेजी (O. E.) dohtor, अंग्रेजी daughter. प्राचीन भाषाओं में ह्, घ् और ग् का परिवर्तन बहुत सामान्य था।

तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्—

अङ्गा॑दङ्गा॒त्सम्भ॑वसि॒ हृद॑या॒दधि॑जायसे।
आ॒त्मा वै पु॒त्रना॑मासि॒ स जी॑व श॒रदः॑ श॒तम् ॥ इति।
अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां, विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

इसी (बात) को ऋचा और श्लोक में कहा है—तुम प्रत्येक अंग से उत्पन्न होते हो तथा हृदय से निकले हुए हो; तुम पुत्र नाम की हमारी (अपनी) आत्मा ही हो, तो एक सौ शरद्-ऋतुओं (वर्षों) तक जीवित रहो (कौषी० आ० ४।११ तथा शत० ब्रा० १४।९।८।२६)। 'दोनों ही सन्तानों (पुत्र और पुत्री) का, बिना भेद-भाव के, धर्म के अनुसार, उत्तराधिकार होता है'—ऐसा स्वायंभुव (अपने-आप उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा के पुत्र) मनु ने सृष्टि (विसर्ग) के आरम्भ में कहा था (मनुस्मृति ६।१३३, १३९)।

विशेष—यद्यपि दुर्गाचार्य ने 'मिथुन' का अर्थ युग्म = पुत्र-पुत्री किया है किन्तु प्रथम ऋचा में पुत्र की प्रधानता प्रदर्शित किये जाने के कारण प्रतीत होता है कि 'मिथुन' का अर्थ 'जुड़वाँ (twin) पुत्र' होगा जिसमें दोनों को समान अधिकार दिया जाता है। राजवाड़े का यह सुझाव उचित नहीं जंचता क्योंकि यास्क ने पुत्र-पुत्री दोनों के उत्तराधिकार के प्रसंग में इसका उद्धरण दिया है।

पुत्री के अधिकार-निषेध के लिए तो बाद में 'न दुहितर इत्येके' दिया ही है। इन दोनों उद्धरणों में पहला तो ऋचा है, दूसरा श्लोक।

न दुहितर इत्येके। 'तस्मात्पुमान् दायादः अदायादा स्त्री' इति विज्ञायते। 'तस्मात् स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्' इति च। स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गाः विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपी-त्येके, शौनःशेपे दर्शनात्। अभ्रातृमतीवादः इत्यपरम्।

(अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः)।
'अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः ॥'

अभ्रातृका इव योषाः तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मानः। इति अभ्रातृकायाः अनिर्वाहः औपमिकः। तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ४ ॥

कुछ लोगों के अनुसार पुत्री को [उत्तराधिकार] नहीं मिलता। 'इसलिए पुरुष उत्तराधिकारी है, स्त्री उत्तराधिकारिणी नहीं' (मैत्रा० सं० ४।६।४)—यह मालूम होता है। और यह भी कि 'उत्पन्न होते ही स्त्री को तिरस्कृत करते (दूर फेंक देते) हैं, पुरुष को नहीं' (वहीं)। स्त्रियों का ही दान, विक्रय और परित्याग होता है, पुरुषों का नहीं। कुछ लोगों के अनुसार पुरुषों का भी [दान-आदि] होता है क्योंकि शुनःशेप की कथा में देखते हैं। कुछ लोगों के अनुसार यह (स्त्री का उत्तराधिकार-सिद्धान्त) भाई से रहित स्त्रियों के लिए है। (लाल वस्त्र पहनने वाली सब स्त्रियाँ नाडियों के समान जाती हैं); अपने मार्ग के रुक जाने पर वे भाई से रहित स्त्रियों के समान रहती हैं (अथर्व सं० १।१७।१)। वे सन्तानोत्पादन तथा पिण्डदान के मार्ग के रुक जाने पर, भाई से रहित स्त्रियों के समान, रहते हैं। इस तरह उपमा के द्वारा व्यक्त किया है कि भ्रातृहीन (स्त्री) से विवाह न करें। इसके बाद की ऋचा इसे अधिक स्पष्ट करती है ॥ ४ ॥

विशेष—'उत्पन्न होते ही स्त्री को फेंक देते हैं'—इस वाक्य की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने स्त्री-पुरुष को मिट्टी का तथा काठ का पात्र माना है। हवन में मिट्टी के पात्र को फेंक देते हैं किन्तु काठ के पात्र को फेंकते नहीं उससे हवन करते हैं। स्त्रियों का दान तथा विक्रय वैवाहिक शुल्क लेकर होता है। इस प्रसंग में सुभद्राहरण नामक ग्रंथ का उद्धरण दिया गया है—

विक्रयं चाप्यपत्यस्य मतिमान् कोऽनुमंस्यते।
स्वल्पो वापि बहुर्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥

अतिसर्ग = परित्याग (अतिना हि परित्याग उदा दानं सृजेमंतम्)। शुनःशेप की कथा ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई है।* भ्रातृरहित स्त्रियों के विषय में यास्क का कहना है कि इन्हें धनाधिकार अवश्य है परन्तु इनसे विवाह करना निषिद्ध है क्योंकि इनकी तुलना उन व्यक्तियों से की गई है जिनका मार्ग सन्तान तथा पिण्डदान के विषय में बिलकुल रुका हुआ है ॥ ४ ॥

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥

(अभ्राता इव) जैसे भाई से रहित स्त्री (पुंसः) मनुष्य की (प्रतीची) ओर (एति) जाती है, (धनानां सनये) धन की प्राप्ति के लिए (गर्तारुक् इव) गर्त = सभाभवन के खम्भे पर, रंगमंच पर चढ़ने वाली—नृत्य करनेवाली स्त्री के समान, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए और (पत्ये उशती) पति की कामना करने वाली (जाया इव) पत्नी के समान तथा (हस्रा इव) हँसने वाली स्त्री के समान (उषाः) ऊषा (अप्सः) अपने रूप को, छाती को (निरिणीते) फैलाती है (ऋ० १।१२४।७)

अभ्रातृकेव पुंसः पितृन् एति अभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय, न पतिम्। गर्तारोहिणी इव धनलाभाय दाक्षिणाजी। गर्त्तः सभास्थाणुः। गृणातेः। सत्यसंगरो भवति। तं तत्र या

---

*पुत्रहीन हरिश्चन्द्र ने नारद के परामर्श से वरुण की उपासना द्वारा पुत्र पाया जिसका नाम रोहित था। वरुण ने पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार रोहित की बलि माँगी परन्तु हरिश्चन्द्र 'बच्चा है' 'दाँत उगने दीजिये' 'कवच धारण करने दें' आदि बहानों से टालते गये। अन्त में रोहित वन में चला गया और हरिश्चन्द्र को जलोदर-रोग हो गया। इन्द्र की प्रेरणा से ६ वर्ष तक रोहित वन में घूमता रहा। अन्त में एक भूखे ब्राह्मण अजीगर्त के तीन पुत्रों में बिचले शुनःशेप को १०० गायों के बदले खरीद लाया और उससे वरुण को बलि देने के लिए घर आकर यज्ञ करने लगा। यज्ञ में शुनःशेप को बाँधने और मारने के लिए भी अजीगर्त ने एक-एक सौ गायें पाईं। शुनःशेप देवताओं की स्तुति करके छूट गया। उस दिन के यज्ञ का ऋषि बना तथा सोम चुआने की नई विधि का उसने आविष्कार भी किया। अजीगर्त की लाख चेष्टा पर भी विश्वामित्र ने उसे अपना पुत्र बना लिया। विश्वामित्र के विरोध करने वाले पुत्र म्लेच्छ, आन्ध्र आदि हुए (ऐ० ब्रा० ७।३)।

अपुत्रा, या अपतिका सा आरोहति । तां तत्राक्षैः आघ्नन्ति । सा रिक्थं लभते ॥

सन्तानोत्पत्ति या पिण्डदान के लिए, भाई से रहित स्त्री जैसे पुरुषों के पास अर्थात् पितृवंश की ओर जाती है, पति की ओर नहीं । दक्षिण–देश में उत्पन्न तथा धनप्राप्ति के लिए गर्त (सभाभवन के खम्भे) पर चढ़ने वाली स्त्री के समान । गर्त= 'सभाभवन का स्तम्भ' √गॄ (बुलाना) से । इस (स्थान) में किये गये व्यवहार सच्चे होते हैं । जो पुत्रहीन या पतिहीन होती है वह उस (खम्भे) पर चढ़ती है, उसे लोग पासों से (dice) मारते हैं और वह जीविकार्थ धन पाती है ।

विशेष—भाई से रहित स्त्री पति का कल्याण नहीं करती, अपने पितृवंश में ही लौट जाती है । दुर्ग के अनुसार दक्षिण में प्रथा है कि द्यूत-स्थान में पुत्रहीन या पतिहीन स्त्री जाती है । (अपना रूप संवार कर) वह खम्भे पर चढ़ती है, उसे लक्ष्य कर लोग पासे फेंकते हैं तथा उसे कुछ पैसे मिल जाते हैं । इस खम्भे के अधीन किये गये व्यवहार सच्चे होते हैं—ऐसा कोई नहीं कहता की पासा यहाँ गिरा, यहाँ नहीं । दाक्षिणाजी–दक्षिण से दाक्षिणा, उनमें उत्पन्न–दाक्षिणाजा । यही शब्द सायण ने लिया है ।' [1]

श्मशानसञ्चयोऽपि गर्त उच्यते । गुरतेः । अपगूर्णो भवति । श्मशानं-श्मशयनम् । श्म शरीरम् । शरीरं शृणातेः । शम्नातेः वा । श्मश्रु लोम । श्मनि श्रितं भवति । लोम लुनातेः वा । लीयतेः वा । 'नोपरस्याविष्कुर्यात् । यदुपरस्याविष्कुर्यात् गर्तेष्ठाः स्यात् प्रमायुको यजमानः'—इत्यपि निगमो भवति । रथोऽपि गर्तः उच्यते । गृणातेः स्तुतिकर्मणः । स्तुततमं यानम् । 'आ रोहथो वरुण मित्र गर्त्तम्'—इत्यपि निगमो भवति ॥

श्मशान के समूह को भी गर्त कहते हैं, √गुर (तैयार होना) से, क्योंकि [यहाँ के निवासी मृत पुरुषों के स्वागत में] तैयार रहते हैं । श्मशान = श्म (शरीर) का शयन (शान्ति) स्थान । श्म = शरीर । 'शरीर' √शॄ (जलाना)

---

१. आजिः = अभियोगः । दक्षिणश्चासौ आजिश्च दक्षिणाजिः । तेन प्रवर्तते इति, सोऽस्याः सोढो वा दाक्षिणाजी (दक्षिणपक्षाजिमती) अभियोगे वादिनी—ब्रह्ममुनिः (नि. सं., पृ० १३५) ।

या √शम् (नष्ट करना) से (देखिये, निरुक्त २।१६)। श्मश्रु = रोम क्योंकि श्म (शरीर) में आश्रित होता है। लोम—√लू (काटना) या √ली (सटा होना) से। (गर्त का अर्थ 'श्मशान' है) इसका उदाहरण यह है—'यज्ञस्तम्भ के निचले भाग को खोलना नहीं चाहिये; वह प्रमादी यजमान जो यज्ञस्तम्भ के निचले भाग (उपर) को खोले वह श्मशानस्थ (गर्त्तेस्था) बनेगा (मै. सं. ३।९।४, काठक सं० २६।६)।' रथ को भी गर्त कहते हैं, √गृ = 'स्तुति करना' से। यह ऐसी गाड़ी है जिसकी स्तुति सबसे अधिक हुई है। इसका वैदिक-उदाहरण है—'हे वरुण और मित्र! गर्त (रथ) पर आप दोनों चढ़ें।' (ऋ० ५।६२।८)॥

विशेष—यास्क की निर्वचन-प्रियता तथा विषयान्तर-गमन-प्रवृत्ति यहाँ पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। इसी के फलस्वरूप—गर्त्त, श्मशान, शरीर श्मश्रु, लोम—जैसे शब्दों की व्याख्या हो गई है। दुर्ग इसे 'प्रसक्तानुप्रसक्त' (सम्बद्ध शब्दों से सम्बद्ध) कहते हैं।

जायेव पत्ये कामयमाना सुवासाः ऋतुकालेषु। उषाः हसनेव दन्तान् विवृणुते रूपाणि। इति चतस्रः उपमाः। 'नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्। तोकं ह्यस्य तद् भवति' इति अभ्रातृकायाः उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः, पितुश्च पुत्रभावः। पिता यत्र दुहितुः अप्रत्तायाः रेतःसेकं प्रार्जयति सन्दधात्यात्मानं संगमेन मनसेति॥ अथैतां जाम्याः रिक्थप्रतिषेधे उदाहरन्ति। ज्येष्ठं पुत्रिकायाः इत्येके॥ ५॥

ऋतुकाल आने पर जैसे सुन्दर वस्त्र धारण करने वाली, पति की कामना करती हुई पत्नी [अपने रूप को फैलाती है]। हँसती हुई (नारी) जैसे दाँत [की छटा] दिखाती है वैसे ही उषा अपने रूप को खोलती है। इस प्रकार चार उपमायें हैं।

'भाई से रहित स्त्री से विवाह न करे, क्योंकि उससे उत्पन्न पुत्र उस [स्त्री के पिता] से सम्बन्ध रखता है'—इस प्रकार भ्रातृहीन स्त्री से विवाह का निषेध तथा पिता का [अपनी पुत्री को] पुत्र समझना सुस्पष्ट है।* पिता जब अपनी अविवाहित लड़की का पति (रेतस् का सिंचन करने वाला) चुनता है तो अपनी आत्मा को वह शान्त (सगम, शम्य) मन से धारण

---

* तुलना करें—मनु० ३।११, याज्ञवल्क्य० १।५३

करता है (अर्थात् वह पुत्रहीनता के कष्ट से मुक्त हो जाता है क्योंकि पुत्री का पुत्र तो उसी के वंश का होगा)।

अब कुछ लोग निम्नलिखित ऋचा को पुत्री के उत्तराधिकार-निषेध के रूप में रखते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नियुक्त की गई पुत्री को [धन का] बड़ा भाग मिले ॥ ५ ॥

न जामये तान्वो रिक्थमारैक्चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥

(तान्वः) शरीर से उत्पन्न अपने पुत्र ने (जामये) अपनी बहन को (रिक्थम्) उत्तराधिकार-धन (न) नहीं (आरैक्) दिया; उसने उसके (गर्भम्) गर्भ को (सनितुः) उसके पति के (निधानम्) भाण्डार-गृह के रूप में (चकार) बना दिया है। (यदी) जब (मातरः) मातायें (वह्निम्) सन्तान को (जनयन्त) उत्पन्न करती हैं तब उन (सुकृतोः) पुण्यकर्ताओं में (अन्यः) एक तो (कर्त्ता) काम करने वाला [होता है और] (अन्यः) एक (ऋन्धन्) लाभ उठाने वाला [होता है] (ऋ० ३।३१।२)।

विशेष—इस मंत्र में पुत्री का अधिकार-निषेध दिखलाया है अर्थात् पुत्री को पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं मिलता यदि अपने शरीर का उत्पन्न पुत्र भी हो। यद्यपि मातायें दोनों तरह की सन्तान को समान-रूप से उत्पन्न करती हैं तथापि उनमें एक वंशकर्त्ता (पुत्र) होता है, दूसरी पुत्री को सज-सजा कर (ऋन्धन्) दूसरे के यहाँ भेज देते हैं। गेल्डनर ने 'सनिता' का अर्थ विजेता (पाणिग्रहण करने वाला) लिया है।

न जामये भगिन्यै। जामिः—अन्येऽस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम्। जमतेः वा स्याद् गतिकर्मणः। निर्गमनप्राया भवति। तान्वः = आत्मजः पुत्रः। रिक्थं प्रारिचत् = प्रादात्। चकार एनां गर्भनिधानीं सनितुः हस्तग्राहस्य। यदिह मातरः अजनयन्त वह्निं = पुत्रम्। अवह्निं च स्त्रियम्। अन्यतरः सन्तानकर्त्ता भवति पुमान् दायादः। अन्यतरः अर्धयित्वा जामिः प्रदीयते परस्मै ॥ ६ ॥

जामि अर्थात् बहन के लिए नहीं। जामि = जिसमें दूसरे लोग 'जा' अर्थात् संतान उत्पन्न करें। या 'जाना' अर्थ वाले √जम् से। उसे प्रायः [पति के यहाँ] बाहर ही जाना पड़ता है। तान्व = अपना पुत्र। (उसने) धन को

छोड़ा या दिया। उस (वहन) को सनिता अर्थात् पाणिग्रहण करने वाले (पति) के द्वारा गर्भ धारण करने योग्य बनाया (अर्थात् उसका पालन-पोषण किया)। जब माताओं ने वह्नि अर्थात् पुत्र को और अवह्नि अर्थात् पुत्री को उत्पन्न किया, उनमें एक उत्तराधिकारी पुरुष-संतान अपनी सन्तानों को बढ़ाने वाली है, दूसरी स्त्री-संतान (जामि) पालन-पोषण करके दूसरे को दे दी जाती है॥ ६॥

द्वितीय पाद

मनुष्यनामानि उत्तराणि पञ्चविंशतिः (निघ० २।३)। मनुष्याः कस्मात्? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे। मनोः अपत्यम्, मनुषो वा। तत्र 'पञ्चजनाः' (२।३।२३) इत्येतस्य निगमा भवन्ति॥ ७॥

इसके बाद के पच्चीस नाम 'मनुष्य' के हैं 'मनुष्य' कैसे बना? चूँकि वे समझ कर (√मन्) कामों से सम्बन्ध करते हैं (√षिवु)। बुद्धिमान् (स्रष्टा) के द्वारा ये बनाये गये हैं। पुनः, 'मनस्यति' का प्रयोग बुद्धिमान् होने के अर्थ में ही होता है। मनु का या मनुस् का पुत्र। उन (नामों) में 'पञ्चजनाः' शब्द के वैदिक उद्धरण हैं॥ ७॥

तद॒द्य वा॒चः प्र॑थ॒मं म॑सीय॒ येना॒सु॑राँ अ॒भि दे॒वा अस॑ाम।
ऊर्जा॑द उ॒त य॑ज्ञियास॒ः पञ्च॑जना॒ मम॑ हो॒त्रं जु॑षध्वम्॥

(तत्) तो (अद्य) आज (प्रथमं) पहले (वाचः) वचन को (मंसीय) सोच लूँ (येन) जिस वचन से (देवाः) हम देवता लोग (असुरान्) असुरों को (अभि असाम) पराजित कर लेंगे। (ऊर्जादः) हे यज्ञ के अन्न खानेवाले (उत) और (यज्ञियासः) यज्ञ करने वाले पवित्र (पञ्चजनाः) मनुष्यों! (मम) मेरे (होत्रं) यज्ञ की (जुषध्वम्) सेवा करो (ऋ० १०।५३।४)।

तदद्य वाचः परमं मंसीय, येन असुरान् अभिभवेम देवाः। असुराः = असुरताः स्थानेषु, अस्ताः स्थानेभ्यः इति वा। अपि वा, 'असुः' इति प्राणनाम। अस्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। 'सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्'—इति विज्ञायते। ऊर्जाद उत यज्ञियासः।

अन्नादाश्च यज्ञियाश्च। ऊर्क् इति अन्ननाम, ऊर्जयति इति सतः। पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा॥

[मैं] आज उस वचन (सामर्थ्य) को सबसे बड़ा समझता हूँ, जिससे हम देवता असुरों को परास्त करें। असुर = जो किसी जगह ठीक से न ठहरे (अ-सु √रम्) या सभी जगहों से भगाये जाते हैं (√अस्)। अथवा 'असु' प्राण का पर्यायवाची है जो शरीर में डाला गया हो। उस (प्राण) से युक्त [असुर हैं]। 'देवताओं का सुरत्व इसी में है कि [ब्रह्मा ने] देवों को अच्छी चीज (सु) से उत्पन्न किया, राक्षस लोग असुर हुए √क्योंकि इन्हें खराब चीजों (अ-सु) से उत्पन्न किया'—यह मालूम होता है।* यज्ञान्न खाने वाले और पवित्र—अर्थात् अन्नभक्षक और यज्ञकर्त्ता (पवित्र)। 'ऊर्ज् = अन्न का एक नाम है क्योंकि यह बल प्रदान करता है। पक जाने पर काटने के योग्य होता है (√पच् + √व्रश्च्)॥

विशेष—'असुर' के विषय में की गई कल्पनायें सारी निरर्थक हैं क्योंकि यह प्राचीन शब्द है 'असुर' देवता के अर्थ में भी आया है। वस्तुतः उसका प्राचीन-अर्थ वही था। तुलना करें अवेस्ता—Ahura Mazda = परमेश्वर। पुनः, अपने निरुक्त (२।१) में कहे गये निर्वचन-सिद्धान्त 'केनचिद् वृत्तिसामान्येन' का प्रयोग यास्क यहाँ ऊर्क् शब्द की व्युत्पति में करने लगे हैं। √पच् का एक रूप है 'पक्व' जिसमें क् आया है तथा √व्रश्च् से र् लिया बस ऊर्क् शब्द बन गया॥

पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसि इत्येके। चत्वारो वर्णाः, निषादः पञ्चमः इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्? निषदनो भवति। निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। 'यत्पाञ्चजन्यया विशा'। पञ्चजनीनया विशा। पञ्च पृक्ता संख्या—स्त्रीपुंनपुंसकेषु अविशिष्टा॥

हे पाँच जनों! मेरे यज्ञ की सेवा करो। कुछ लोगों के अनुसार गन्धर्व, पितृगण, देवता, असुर और राक्षस। औपमन्यव के अनुसार, चारों वर्ण और पाँचवाँ निषाद। निषाद कैसे बना? प्राणियों के वध से जीता है या निरुक्तकारों के अनुसार उसमें पाप टिका रहता है। पाँच जनों की जाति के द्वारा जब....' (ऋ० ८।६३।७)। पाँच जनों से युक्त जाति (विश्) द्वारा। 'पञ्च'

* तुलना करें—तैत्तिरीयब्राह्मण—२।३।८।२।

पृक्त (संयुक्त या स्थिर) संख्या है क्योंकि स्त्रीलिंग, पुंल्लिग तथा नपुंसकलिंग में एक समान ही रहती है ॥

बाहुनामानि उत्तराणि द्वादश (निघ० २।४)। बाहू कस्मात् ? प्रबाधते आभ्यां कर्माणि । अङ्गुलिनामानि उत्तराणि द्वाविंशतिः (निघ० २।५)। अङ्गुलयः कस्मात् ? अग्रगामिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रगालिन्यो भवन्ति इति वा, अग्रकारिण्यो भवन्ति इति वा, अङ्कनाः भवन्ति इति वा, अञ्जनाः भवन्ति इति वा । अपि वा अभ्यञ्चनादेव स्युः । तासामेषा भवति ॥८॥

बाद के बारह नाम 'बाहु' के हैं । 'बाहु' कैसे ? इनसे (कोई आदमी) काम करता है । बाद के बाईस नाम 'अंगुलि' के हैं । 'अँगुलियाँ' कैसे ? चूँकि ये आगे जाने वाली हैं, या आगे [जल] गिराने वाली हैं, या आगे काम करने वाली हैं, या वे चिह्न देती हैं, या मुड़ती हैं (√अञ्ज्), या शोभा बढ़ाने के कारण हों (√अञ्च्) । उनकी यह [ऋचा] है ॥ ८ ॥

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ।
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ॥

(दशावनिभ्यः) दस रक्षकों वाले, (दशकक्ष्येभ्यः) दस कमरबन्दों वाले, (दशयोक्त्रेभ्यः) दस जोतने की रस्सियों वाले, (दशयोजनेभ्यः) दस बन्धनों वाले, (दशाभीशुभ्यः) दस लगामों वाले (दश युक्ताः) जोते जाने पर दस तथा (दश धुरः) दस धुरियों को, रथचक्र के मध्यभाग को—(वहद्भ्यः) धारण करने वाले (अजरेभ्यः) अमर व्यक्तियों की (अर्चत) अर्चना करो (ऋ० १०।९४।७) ॥

विशेष—उपर्युक्त मन्त्र में रथ के विभिन्न अंगों के नाम आये हैं जो निघण्टु के अनुसार अँगुलियों के पर्याय हैं । सम्भव है, दशम मण्डल की नैसर्गिक शैली में संकलित किया गया यह मंत्र भी रहस्यात्मक हो—रथ की कल्पना (Imagery) देकर ईश्वर के विभिन्न कर्मों का निदर्शन हो ।

अवनयः अङ्गुलयः भवन्ति—अवन्ति कर्माणि । कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि । योक्त्राणि योजनानि इति व्याख्यातम् । अभीशवः = अभ्यश्नुवते कर्माणि । दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः ।

धूः धूर्वतेः वधकर्मणः। इयमपि इतरा धूः एतस्मादेव। विहन्ति वहम्, धारयतेः वा॥

अवनि का अर्थ है अंगुलियाँ क्योंकि ये काम कराती हैं (√अव्)। कक्ष्यायें (कमरबन्द, या अंगुली) कामों को प्रकाशित करती हैं (√काश्)। 'योक्त्र' का अभिप्राय 'बन्धन' रखा गया है। अभीशु=काम समाप्त करते हैं। जोतने पर दस, तथा दस धुरियों को धारण करने वालों को...। 'धूः' वधार्थक √धूर्व् से ; यह दूसरे अर्थवाला 'धूः' (जोतने का डण्डा) इसी धातु से बना है क्योंकि [वहन करने वाले प्राणी के] कन्धे को कष्ट देता है (√हन्) या [घोड़े या बैल को] धारण करता है (√धृ)॥

कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश (निघ० २।६)। अन्ननामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिः (निघ० २।७)। अन्नं कस्मात्? आनतं भूतेभ्यः। अत्तेर्वा। अत्तिकर्माणः उत्तरे धातवो दश (निघ० २।८)। बलनामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिः (निघ० २।९)। बलं कस्मात्? भरं भवति, बिभर्तेः। धननामानि उत्तराणि अष्टाविंशतिरेव (निघ० २।१०)। धनं कस्मात्? धिनोति इति सतः। गोनामानि उत्तराणि नव (निघ० २।११)। क्रुध्यतिकर्माणः उत्तरे धातवो दश (निघ० २।१२)। क्रोधनामान्युत्तराणि एकादश (निघ० २।१३)। गतिकर्माणः उत्तरे धातवो द्वाविंशं शतम् (निघ० २।१४)। क्षिप्रनामानि उत्तराणि षड्विंशतिः (निघ० २।१५)। क्षिप्रं कस्मात्? संक्षिप्तो विकर्षः। अन्तिकनामानि उत्तराणि एकादश (निघ० २।१६)। अन्तिकं कस्मात्? आनीतं भवति। संग्रामनामानि उत्तराणि षट्चत्वारिंशत् (निघ० २।१७)। संग्रामः कस्मात्? सङ्गमनाद् वा, सङ्गरणाद् वा। सङ्गतौ ग्रामौ इति वा। तत्र 'खले' (३८तमः) इत्येतस्य निगमाः भवन्ति॥९॥

बाद के अठारह धातु 'इच्छा' अर्थ वाले हैं। उसके बाद अठाईस अन्न के पर्याय हैं। अन्न कैसे? जीवों के पास लाया गया है (√नम्) या √अद् (खाना) से। बाद के दस धातु 'भोजन' अर्थ वाले हैं। बाद के अठाईस नाम

बल के हैं। बल कैसे ? यह भरण-पोषण करता है √भृ (धारण करना) से। बाद के अठाईस नाम धन के हैं। धन कैसे ? यह प्रसन्न करता है (√धि)। बाद के नौ नाम गौ के हैं। 'क्रोध' अर्थ वाले बाद के दस धातु हैं। बाद के ग्यारह नाम क्रोध के हैं। बाद के एक सौ बीस धातु गत्यर्थक हैं। बाद के छब्बीस नाम 'शीघ्रता' (क्षिप्र) के हैं। क्षिप्र कैसे ? चूँकि बीच का अवकाश (प्रकर्ष) छोटा होता है। बाद वाले ग्यारह नाम निकट के हैं। अन्तिक कैसे ? चूँकि यह पास में लाया हुआ होता है। बाद के छियालिस नाम संग्राम के हैं। संग्राम कैसे ? एक साथ जाने से या एक साथ पुकारने से (√गॄ), या एक साथ दो गाँव आते हैं। उन (नामों) में 'खले' के वैदिक उद्धरण हैं ॥ ९ ॥

विशेष—यास्क की तत्परता इन पंक्तियों में स्पष्ट है। केवल नाम गिनाते चले जा रहे हैं मानों कोई वैयाकरण तद्धित पढ़ा रहे हों। १२ सूचियों में (२।६–२।१७) केवल दो चार नामों की ही व्याख्या उन्हें अच्छी लगी। न जाने 'खले' शब्द का कहाँ से थोड़ा पुण्य निकल आया कि इस पर वैदिक उद्धरण ढूंढ़ा गया ॥ ९ ॥

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥

(एकः) मैं अकेले ही (इदम् एकम्) इस एक शत्रु पर (अभि अस्मि) विजय पाता हूँ, (निःषाट्) अपराजेय होकर (द्वा) दो शत्रुओं को भी (अभि) हराता हूँ। (त्रयः) तीन भी (किमु) क्या (करन्ति) कर सकते हैं ? (खले) संग्राम या खलिहान में (पर्षान् न) पुआल के समान (भूरि) अच्छी तरह (प्रति हन्मि) दबाता हूँ। (अनिन्द्राः) इन्द्र से रहित (शत्रवः) शत्रुगण (किं) क्या (मा निन्दन्ति) मेरी निन्दा कर सकते हैं ? (ऋ० १०।४८।७) ॥

अभिभवामि इदमेकम् एकः। अस्मि निःषहमाणः सपत्नान्। अभिभवामि द्वौ। किं मां त्रयः कुर्वन्ति ?

अकेले ही मैं इस एक (शत्रु) को परास्त करता हूँ। सभी शत्रुओं को दबाने वाला हूँ। दो को भी हराता हूँ। तीन भी मेरा क्या कर सकते हैं ?

एकः इता संख्या। द्वौ द्रुततरा संख्या। त्रयः तीर्णतमा संख्या। चत्वारः चलिततमा संख्या। अष्टौ अश्नोतेः। नव न वननीया, न अवाप्ता वा। दश दस्ता, दृष्टार्था वा। विंशतिः द्विर्दशतः। शतं दश दशतः। सहस्रं सहस्वत्। अयुतं प्रयुतं नियुतं तत्तद् अभ्यस्तम्। अर्बुदः मेघो भवति। अरणम् अम्बु,

तद्ः । अम्बुमद् भवति इति वा । अम्बुमद् भाति वा । स यथा महान् बहुः भवति वर्षन् तदिवार्बुदम् ॥

एक = गई हुई संख्या (√इ)। दो = दूर तक दौड़ने वाली संख्या (√द्रु)। त्रि = सबसे अधिक पार जाने वाली संख्या (√तॄ)। चतुः = सबसे अधिक चलने वाली संख्या। अष्ट = व्याप्त करने (√अश्) से। नव = जो पाने योग्य न हो (न√वन्) या पायी हुई न हो। दश—क्षीण (√दस) या जिसका प्रयोजन [कई संख्याओं में] देखा जाय। विंशति = दो बार दश होने से। शत—दस बार दश होने से। सहस्र—बल से युक्त (संख्या)। अयुत (दस हजार), प्रयुत (एक लाख), नियुत (दस लाख)—एक के बाद एक, उसी (दस) की आवृत्ति (गुणा) करने पर बनता है। 'अर्बुद' मेघ है। अरण = जल, उसे देनेवाला। अथवा जल (अम्बु) से युक्त होने के कारण। या जल के समान प्रतीत होता है। वह (मेघ) जैसे वर्षा करने के समय बड़ा समूह बन जाता है वैसे ही अर्बुद (एक करोड़) की संख्या भी ॥

विशेष—इन संख्याओं पर यास्क ने व्यर्थ अपनी कल्पनाशक्ति का दुरुपयोग किया जिसके कारण वे हास्यास्पद हो जाते हैं। वस्तुतः भारत-यूरोपीय सभी भाषाओं में कम से कम दस तक की संख्यायें इसी रूप में हैं! हाँ, अपनी ध्वनि सबों की है—

संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन	ऐं० सै०	अंग्रेजी
एक	अएव	eis	unus	ān	one
द्वि	द्व	duo	duo	twā (tu)	two
त्रि	थ्रि	treis	tres	threō	three
चतुर्	चथ्रु	tettares	qoattuor	feoer	four
पञ्चन्	पंचन्	penta	quinque	fif	five
षट्	क्ष्वश्	hex	sex	six	six
सप्तन्	हप्तन्	hepta	septem	seofn	seven
अष्टन्	अश्तन्	okto	octo	eahta	eight
नवन्	नवन्	ennea	novem	nigon	nine
दशन्	दसन्	deka	decem	tyn	ten

'सहस्र' की व्युत्पत्ति यास्क ने बिलकुल ठीक की है (देखिये भूमिका)। इन संख्याओं का उल्लेख निम्नलिखित उद्धरणों में देखें—

एका च दश च। दश च शतं च। शतं च सहस्रं च। सहस्रं चायुतं च। अयुतं च प्रयुतं च। प्रयुतं च नियुतं च। नियुतं चार्बुदं च। अर्बुदं च समुद्रश्च। मध्यं च अन्तश्च परार्धश्च।

(काठक सं० १७।१०)

एका च शतं च सहस्रं च अयुतं च नियुतं च प्रयुतं च अर्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं च अन्तश्च परार्धश्च (तै० सं० ४।४।११)

इस प्रकार बहुत प्राचीन-काल से ही भारत में संख्या (विशेषतया दाशमिक-प्रणाली) का प्रचलन था क्योंकि ये संख्यायें एक दूसरी से दशगुणी हैं॥

'खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि'। खले इव पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि। खलः इति संग्रामनाम। खलतेः वा स्खलतेः वा। अयमपीतरः खलः एतस्मादेव। समास्कन्नः भवति। 'किं मां निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः'। ये इन्द्रं न विदुः। इन्द्रो हि अहमस्मि, अनिन्द्राः इतरे इति वा॥

खलिहान में पुआल के समान अच्छी तरह दबाता हूँ। खल = संग्राम, या खलिहान √खल् (गिरना) से या √स्खल् (मारना) से। यह दूसरे अर्थवाला 'खल' (चौखट) भी इसी से बना है क्योंकि [बिखरे अन्नों से] भरा हुआ होता है। क्या इन्द्ररहित शत्रु मेरी निन्दा कर सकते हैं? [इन्द्ररहित =] जो इन्द्र को नहीं जानते। अथवा, मैं इन्द्र हूँ और दूसरे अनिन्द्र हैं—यह अर्थ भी हो सकता है॥

विशेष—ऋचा की व्याख्या के बीच में संख्या की विवेचना कर देने से व्याख्याक्रम छूटकर यहाँ चला आया है।

व्याप्तिकर्माणः उत्तरे धातवो दश (निघ० २।१८)। तत्र द्वे नामनी। आक्षाणः आश्नुवानः। आपानः आप्नुवानः। वधकर्माणः उत्तरे धातवः त्रयस्त्रिंशत् (निघ० २।१९)। तत्र 'वियातः' इत्येतद् वियातयते इति वा, वियातय इति वा। 'आखण्डल प्रहूयसे'। आखण्डयितः। 'तडित्' इति अन्तिकवधयोः संसृष्टकर्म, ताडयतीति सतः॥ १०॥

बाद के दस धातु 'व्याप्त करना' अर्थ वाले हैं। इनमें दो नाम (संज्ञा, क्रिया नहीं) हैं—आक्षाण—व्याप्त करने वाला। आपान—पीने वाला। बाद

के तेंतीस धातु वधार्थक हैं। उनमें 'वियातः' या तो 'वह दबाता है' इससे, या 'दबाओ' (लोट्) इससे बना है। 'हे टुकड़ा करने वाले! तुम्हें बुलाया जाता है' (ऋ० ८।१७।१२, साम० २।७६, अथर्व० २०।५।६)। हे खण्ड (टुकड़ा) करने वाले। 'तडित्' निकट और वध का सम्मिलित अर्थ रखता है, क्योंकि यह मारता है ॥ १० ॥

त्वया॑ व॒यं सु॑वृ॒धा॑ ब्रह्मणस्पते स्पा॒र्हा॑ वसु॑ मनु॒ष्या द॑दीमहि।
या नो॑ दू॒रे त॒ळितो॒ या अरा॑तयो॒ऽभि सन्ति॑ ज॒म्भया॒ ता अ॑न॒प्नसः॑ ॥

(ब्रह्मणस्पते) हे स्तुतियों के स्वामी! (त्वया सुवृधा) आप-जैसे प्रगति प्रदान करने वाले के द्वारा (वयं मनुष्याः) हम मानवगण (स्पार्हा) स्पृहा या इच्छा करने के योग्य (वसु) धनों को (ददीमहि) पायें; (या अरातयः) जो शत्रु या कृपण लोग (नो दूरे) हमसे दूर (या तडितः) और जो निकट (अभिसन्ति) हैं (ता अनप्नसः) उन रूपहीन = न देखने योग्य [शत्रुओं को] (जम्भय) चबाओ। (ऋ० २।२३।९) ॥

त्वया वयं सुवर्धयित्रा ब्रह्मणस्पते! स्पृहणीयानि वसूनि मनुष्येभ्यः आददीमहि। याश्च दूरे तडितो याश्च अन्तिके। अरातयः = अदानकर्माणो वा, अदानप्रज्ञाः वा। जम्भय ताः अनप्नसः। अप्नः इति रूपनाम। आप्नोति इति सतः। विद्युत् तडिद् भवतीति शाकपूणिः। सा हि अवताडयति। दूराच्च दृश्यते। अपि तु इदम् अन्तिकनाम एवाभिप्रेतं स्यात्। 'दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे'। दूरेऽपि सन् अन्तिके इव सन् दृश्यसे इति ॥

हे स्तुतियों के स्वामी! आप—जैसे वृद्धि देनेवाले के द्वारा, हम स्पर्द्धा के योग्य धन मनुष्यों से पायें। जो शत्रु दूर हैं जो और निकट हैं। अराति—दानियों को दान से रोकनेवाले, या (स्वयं) दान देने की बुद्धि न रखने वाले। इन्हें चबाकर रूपरहित कर दो। 'अप्नस्' रूप का पर्याय है, क्योंकि यह पाता है (√आप् = किसी पर ठहरना)। बिजली को भी तडित् कहते हैं—ऐसा शाकपूणि का मत है, क्योंकि यह चीरती है और दूर से ही दिखलाई पड़ती है। अथवा यह 'निकट' के ही पर्यायरूप में इष्ट हो। 'दूर होने पर भी मानों निकट के समान चमकते हो' (ऋ० १।९४।७) अर्थात् दूर हो, फिर निकट होने के समान दिखलाई पड़ते हो ॥

वज्रनामानि उत्तराणि अष्टादश (निघ० २।२०)। वज्रः कस्मात् ? वर्जयतीति सतः। तत्र कुत्सः इत्येतत् कृन्तते। ऋषिः कुत्सो भवति—कर्त्ता स्तोमानामिति औपमन्यवः। अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति। तत्सखः इन्द्रः शुष्णं जघानेति। ऐश्वर्यकर्माणः उत्तरे धातवश्चत्वारः (निघ० २।२१) ईश्वरनामानि उत्तराणि चत्वारि (निघ० २।२२)। तत्र इन इत्येतत् सनितः ऐश्वर्येण इति वा, सनितम् अनेन ऐश्वर्यम् इति वा ॥ ११ ॥

इसके बाद अठारह वज्र के नाम हैं। वज्र कैसे ? चूँकि यह [प्राणियों को जीवन से] अलग करता है (√वृज्)। उन नामों में 'कुत्स' √कृत् (काटना) से बना है। 'कुत्स' एक ऋषि का भी नाम है, स्तोत्रों का कर्ता (बनाने वाला)—ऐसा औपमन्यव कहते हैं। इसमें भी इनका 'वध' अर्थ ही होता है क्योंकि उनके मित्र इन्द्र सूखा (अकाल, अनावृष्टि) का नाश करते हैं। बाद के चार धातु ऐश्वर्य (उन्नति) अर्थ वाले हैं। उसके बाद चार ईश्वर (अधिकारी) के नाम हैं। उन (नामों) में 'इन' [का अर्थ है] जो उन्नति से भरा हो या जिसने [दूसरे में] उन्नति भर दी है ॥ ११ ॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥

(यत्र) जहाँ (सुपर्णा) सुन्दर पङ्खवाले (अनिमेषम्) बिना रुके हुए—पलक बिना गिराये (विदथा) स्तुति के द्वारा (अमृतस्य भागम्) जल या अमृत के हिस्से को (अभि स्वरन्ति) बुलाते हैं; (इनः) जो स्वामी (विश्वस्य भुवनस्य) समूचे संसार का (गोपाः) रक्षक है, (सः) वह (धीरः) बुद्धिमान् (पाकम्) परिपक्व होने के लिए (अत्र) यहाँ (मा) मेरे पास (आविवेश) पहुँचा है। (ऋ० १।१६४।२१)

यत्र सुपतनाः आदित्यरश्मयः अमृतस्य भागम् उदकस्य, अनिमिषन्तो वेदनेन अभिस्वरन्ति इति वा; अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायिता—आदित्यः। स मा धीरः पाकमत्रा विवेश इति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। 'विपक्वप्रज्ञः आदित्यः' इत्युपनिषद्वर्णो भवति—इत्यधिदैवतम्।

जहाँ सुन्दर ढंग से गिरने (आने) वाली सूर्य की किरणें, अमृत अर्थात् जल के भाग को, बिना पलक गिराये हुए (निरलस-भाव से) ज्ञान के द्वारा, पुकारते हैं या उसके पास जाते हैं। ईश्वर (स्वामी) जो सभी जीवों का रक्षक—आदित्य है। वह बुद्धिमान् तथा अपक्व यहाँ मेरे पास पहुंचा है। धीर = बुद्धिमान्। पाक = अभी जो पकने वाला है। आदित्य को परिपक्व बुद्धि वाला, उपनिषदों के वर्णन में कहा गया है—यह देवता से सम्बन्ध रखनेवाला (अर्थ) हुआ।

अथाध्यात्मम्। यत्र सुपतनानि इन्द्रियाणि, अमृतस्य भागं ज्ञानस्य, अनिमिषन्ति वेदनेन अभिस्वरन्तीति वा, अभिद्रवन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषाम् इन्द्रियाणां गोपायिता आत्मा। स मा धीरः पाकमत्रा विवेश इति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञः आत्मा। इत्यात्मगतिमाचष्टे॥ १२॥

अब आध्यात्मिक (आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला) अर्थ लें—जहाँ आसानी से आगे बढ़ने वाली इन्द्रियाँ, अमृत अर्थात् ज्ञान के भाग को, निरन्तर, चेतना के द्वारा पुकारती हैं या पास जाती हैं। ईश्वर जो सभी इन्द्रियों का रक्षक आत्मा है; वह बुद्धिमान्, अपक्व यहाँ मेरे पास आया है। धीर = बुद्धिमान्। पाक = जो अभी पकने वाला हो। आत्मा परिपक्व बुद्धि वाली है—यह आत्मा की गति (स्वरूप) का उल्लेख है॥ १२॥

विशेष—वेदों के विभिन्न अर्थों के सम्प्रदाय उस समय भी चल पड़े थे। यास्क की दृष्टि इनसे वंचित नहीं थी। इसीलिए आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों अर्थ ही यास्क ने लिये हैं।

तृतीय-पाद

बहुनामानि उत्तराणि द्वादश (३।१)। बहु कस्मात्? प्रभवतीति सतः। ह्रस्वनामानि उत्तराणि एकादश (३।२)। ह्रस्वो ह्रसतेः। महन्नामानि उत्तराणि पञ्चविंशतिः (३।३)। महान् कस्मात्? मानेन अन्यान् जहाति इति शाकपूणिः। मंहनीयो भवतीति वा। तत्र 'ववक्षिथ' 'विवक्षसे' इत्येते—वक्तेर्वा, वहतेर्वा साभ्यासात्। गृहनामानि उत्तराणि द्वाविंशतिः (३।४)।

गृहाः कस्मात् ? गृह्णन्ति इति सताम्। परिचरणकर्माणः उत्तरे धातवो दश (३।५)। सुखनामानि उत्तराणि विंशतिः (३।६)। सुखं कस्मात् ? सु हितं खेभ्यः। खं पुनः खनतेः। रूपनामानि उत्तराणि षोडश (३।७)। रूपं रोचतेः ॥

इसके बाद बारह 'बहु' के पर्याय हैं। 'बहु' कैसे ? चूँकि अधिक परिमाण में उत्पन्न होता है। बाद के बाहर नाम 'ह्रस्व' के हैं। ह्रस्व √ह्रस् (घटना) से। बाद के पचीस पर्याय 'महत्' (बड़ा) के हैं। 'महान्' कैसे ? शाकपूणि कहते हैं कि जो अभिमान के कारण दूसरों को छोड़ देता है। (मान + √हा)। या आदरणीय होता है (√मंह्)। उनमें 'ववक्षिथ' और 'विवक्षसे' ये दो शब्द हैं जो √वच् (बोलना) या √वह (ढोना) से अभ्यास (द्वित्व) करके बने हैं। बाद के बाईस नाम 'गृह' के हैं। 'गृह' कैसे ? चूँकि ये सबों को पकड़ते हैं। बाद के दस धातु 'सेवा' (परिचर्या) वाले हैं। बाद के बीस सुख के पर्याय हैं। 'सुख' कैसे ? चूँकि इन्द्रियों के लिए (ख) लाभदायक है। 'ख' तो √खन् (खोदना) से बना है। रूप के सोलह पर्याय बाद में हैं। 'रूप' √रुच् (चमकना) से।

प्रशस्यनामानि उत्तराणि दश (३।८)। प्रज्ञानामानि उत्तराणि एकादश (३।९) सत्यनामानि उत्तराणि षट् (३।१०)। सत्यं कस्मात् ? सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवति इति वा। अष्टौ उत्तराणि पदानि (३।११) पश्यति कर्माणो धातवः, चायतिप्रभृतीनि च नामानि आमिश्राणि। नवोत्तराणि पदानि (३।१२) सर्वपदसमाम्नानाय। अथातः उपमाः। 'यत् अतत् तत्सदृशम्' इति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ॥ १३ ॥

बाद के दस 'प्रशंसनीय' के पर्याय हैं। बाद के ग्यारह पर्याय बुद्धि के हैं। बाद के छह पर्याय सत्य के हैं। 'सत्य' कैसे ? यह अच्छे लोगों में फैलता है या अच्छे लोगों से उत्पन्न होता है। बाद के आठ पद 'देखना' अर्थवाले धातु हैं और 'चायति' आदि (धातु) नाम (संज्ञा) में मिले हुए हैं। बाद के नौ पद सभी प्रकार के पदों के संकलन के लिए हैं।

अब इसलिए उपमायें [कही जाती हैं]। गार्ग्य का कहना है कि जब [एक वस्तु] दूसरी वस्तु से भिन्न हो किन्तु थोड़ा सादृश्य रहे [तब उपमा होती है]। तब, इनका यह काम है कि किसी बड़े गुण के द्वारा या प्रसिद्ध गुण के द्वारा किसी छोटी या अप्रसिद्ध वस्तु की उपमा दी जाय। इसके अलावे छोटी वस्तु के द्वारा भी बड़ी वस्तु की [उपमा दी जाती है] ॥ १३ ॥

विशेष—अलङ्कारों के इतिहास के अध्ययन में यह स्थल बहुत सहायक है। यास्क ने उपमा की बिलकुल ठीक परिभाषा उद्धृत की है। उपमा में दो भिन्न पदार्थों की तुलना किसी एक समान गुण को ही लेकर की जाती है। तुलना करें—

(१) साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः (साहित्यदर्पण १०)।

(२) A simile consists in giving formal expression to the *likeness* said to exist between two *different* objects or events. (J. C. Neisfield. *English Grammar*, P. 393), इस प्रकार उपमा की परिभाषा प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों में समान आधार पर ही दी गई है ॥ १३ ॥

तनूत्यजे॑व तस्क॑रा वनर्गू र॑शनाभि॑र्द॒शभि॑र॒भ्य॑धीताम् ।

(वनर्गू) वन जानेवाले तथा (तनूत्यजा) शरीर की बाजी लगाने वाले (तस्करा इव) दो चोरों के समान (दशभिः) दस (रशनाभिः) रस्सियों या अँगुलियों से (अभ्यधीताम्) सुरक्षित किया है (ऋ० १०।४।६) ॥

तनूत्यक् = तनूत्यक्ता। वनर्गू = वनगामिनौ। अग्निमन्थनौ बाहू तस्काराभ्याम् उपमिमीते। तस्करः—तत्करोति यत्पापक-मिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात्। सन्ततकर्मा भवति। अहो-रात्रकर्मा वा। 'रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्'। अभ्यधातााम्। ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः ॥ १४ ॥

तनूत्यक् = शरीर को छोड़ने वाले (प्राणों की बाजी लगाने वाले)। वनर्गू = वन जाने वाले। ऐसे तस्करों से अग्निमन्थन करनेवाले बाहु की तुलना की गई है। तस्कर, जो पाप है उसे ही करता है - यह निरुक्तकारों का कथन है। या √तन् (फैलना) से बना हो क्योंकि इसके काम कई तरह के होते हैं या दिन-रात दोनों ही समय काम करता है। दस अंगुलियों से सुरक्षित किया है—[सुरक्षापूर्ण स्थान में] रख दिया है। इस तरह अधिक गुण का कथन है ॥ १४ ॥

विशेष—इस में अधिक गुणवाले की उपमा छोटी चीज से दी गई है। अग्नि उत्पन्न करने वाले दोनों हाथ पवित्र हैं जिनकी तुलना चोरों से की गई है। यद्यपि दोनों में बहुत भेद है फिर भी सादृश्य है कि जैसे चोर वन में अपने अधीन पथिक को बाँधकर रख देते हैं वैसे ही दोनों हाथ भी दो लकड़ियों को बाँधकर अग्नि उत्पन्न करते हैं ॥ १४ ॥

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

(अश्विना) हे दोनों अश्विन् ! (दोषा) रात में (कुह स्विद्) कहाँ थे, (वस्तोः) दिन में (कुह) कहाँ थे ! (अभिपित्वं) अपने आवश्यक कार्य जैसे स्नान-भोजनादि (कुह) कहाँ (करतः) आपने किया ? (कुह ऊषतुः) कहाँ ठहरे थे ? (सधस्थ आ) निवास-स्थान में (वां) तुम दोनों को (शयुत्रा) शय्या पर (कः) कौन (कृणुते) ले जाता है ? (देवरं विधवा इव) जैसे देवर को विधवा या (मर्यं योषा न) मनुष्य को पत्नी [शय्या पर ले जाती है] (ऋ० १०।४०।२) ॥

क्व स्वित् रात्रौ भवथः ? क्व दिवा ? क्व अभिप्राप्तिं कुरुथः ? क्व वसथः ? को वां शयने विधवेव देवरम् (देवरः कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते)। विधवा विधातृका भवति । विधवनाद् वा विधावनाद् वा इति चर्मशिराः। अपि वा, 'धवः' इति मनुष्यनाम । तद्वियोगात् विधवा । देवरो दीव्यतिकर्मा । मर्यो मनुष्यः मरणधर्मा । योषा यौतेः । आकुरुते सहस्थाने ॥

रात में कहाँ रहे ? दिन में कहाँ ? अपने नित्यकर्म कहाँ किया ? कहाँ रहते हैं ? देवर को विधवा के समान, आप दोनों की शय्या पर कौन······? (देवर कैसे ? यह दूसरा वर कहलाता है।) विधवा संरक्षक से रहित (वि√धा) होती है अथवा काँपने के कारण (वि√धू) चर्मशिरा के अनुसार दौड़ने के कारण (वि√धाव्)। अथवा 'धव' = मनुष्य, उससे वियुक्त होने के कारण विधवा। देवर = खेलने वाला। मर्य = मनुष्य जिसका धर्म (लक्षण) मरना है। योषा (स्त्री) √यु (जोड़ना) से। निवास-स्थान में रखता है ॥

विशेष—कोष्ठांकित खण्ड निश्चित रूप से प्रक्षेप है क्योंकि 'देवर' शब्द की दो व्युत्पत्तियों का पृथक् होना असंगत है। दुर्ग भी इसकी व्याख्या नहीं करते। विधवा, देवर, मर्य और योषा का निर्वचन यास्क ने क्रम से दिया है, फिर उतना

पहले देवर का चला जाना असम्भव प्रतीत होता है। 'विधवा' को वि + धवा मानना लौकिक व्युत्पत्ति (Folk Etymology) का द्योतक है। वस्तुतः यह शब्द अपने इसी रूप में अन्य समान भाषाओं में है—ग्रीक eitheos, लैटिन Viduo, Viduus, जर्मन Wittwe ऐं० सैं० (O, E) Widwe, अंग्रेजी Widow, 'धव' पृथक् कोई शब्द नहीं था किन्तु इसी व्युत्पत्ति से एक नया शब्द बन गया। इसकी पुष्टि में 'माधव' (मा = लक्ष्मी का धव = पति) मिल गया जो वस्तुतः 'मधु' से निष्पन्न रूप था। तभी अमरकोश में 'धवः प्रियः पतिः भर्ता' (२।६।३५) तथा 'पति-शाखिनरा धवाः' (३।३।२०७) मिलते हैं। विधवा के काँपने का अर्थ है पति की मृत्यु से बाद; उसका संरक्षकहीन होने पर दौड़ने भी स्वाभाविक है।

अथ निपाताः (३।१३)। पुरस्तादेव व्याख्याताः (१।४-११)

यथेति कर्मोपमा[1]—

'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।'

'भ्राजन्तो अग्नयो यथा।'

'आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।'

आत्मा अततेर्वा, आप्तेर्वा। अपि वा, आप्तः इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूतः।

'अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः।'

अग्निरिव ये भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः॥ १५॥

अब निपातों का वर्णन है किन्तु इनकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है (निरुक्त १।४-११)। 'यथा' से कर्म की उपमा [समझी जाती है] जैसे— 'जैसे वायु, जैसे वन, जैसे समुद्र हिलते हैं' (ऋ० ५।७८।८); 'जैसे चमकने-वाली अग्नि' (ऋ० १।५०।३); क्षयरोग की आत्मा (जीवन) पहले ही समाप्त हो जाती है जैसे पकड़े गये प्राणी का [जीवन बिना मारे ही समाप्त हो जाता है]' (ऋ० १०।९७।११)। 'आत्मा' √अत् (चलना) से या √आप् (पाना) से। अथवा इसे 'आप्त' (पाया हुआ) इसलिए कहा जाय कि यह व्यापक है। 'स्वर्ण के समान छाती वाले वे (सभी) चमक के कारण अग्नि के समान हैं' (ऋ० १०।७८।२)। वे जो अग्नि के समान चमकनेवाले तथा सोने की छातीवाले (मरुद्गण) हैं॥ १५॥

---

१. कर्मणो व्यापारस्य क्रियाया उपमा (नि० सम्मर्शः)।

चतुरश्चिद्ददमानाद्बिभीयादा निधातोः ।

न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ॥

(आ निधातोः) जब तक वह [पासों को] न रखे तबतक (चतुरः) चार [पासों] को (ददमानात्) धारण करनेवाले व्यक्ति से (चित्) जैसे (विभीयात्) डरना चाहिये, (दुरुक्ताय) कठोर भाषण की (न स्पृहयेत्) इच्छा नहीं करनी चाहिये । (ऋ० १।४१।९) ॥

चतुरोऽक्षान् धारयतः इति तद्यथा कितवात् विभीयात्, एव-मेव दुरुक्ताद् विभीयात् । न दुरुक्ताय स्पृहयेत् कदाचित् ॥ 'आ' इत्याकारः उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (नि० १।३) । अथापि उपमार्थे दृश्यते—'जार आ भगम्' । जार इव भगम् । आदि-त्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता । स एव भासाम् । तथापि निगमो भवति—'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' इति । उषसमस्य स्व-सारमाह, साहचर्यात् रसहरणाद्वा । अपि त्वयं मनुष्यजारः एवाभिप्रेतः स्यात् । स्त्रीभगः तथा स्यात् , भजतेः ॥

जिस प्रकार चार पासों को धारण करनेवाले जुआड़ी (कितव) से डरते हैं, वैसे ही कटु वाणी से डरें । कटु वाक्य [बोलने के लिए] कभी उत्सुक न हों ।

'आ' उपसर्ग की व्याख्या पहले ही हो चुकी है । इसे उपमा के अर्थ में भी देखते हैं—'जैसे भोक्ता अपनी भोग-वस्तु पर....' (ऋ० १०।११।६) । अपनी भोग-वस्तु [पर जाने वाले] भोक्ता के समान । यहाँ आदित्य ही भोक्ता (जार) है, रात्रि का भोक्ता; वही प्रकाश का भी [भोक्ता] है । ऐसे वैदिक उद्धरण भी हैं—'बहन का भोक्ता हमारी (प्रार्थना) सुने' (ऋ० ६।५५।५) । उषा को इसकी बहन कहा है, साथ चलने के कारण, या रस लेने के कारण । अथवा यह मानव-प्रेमी ही कहा गया हो, उस दशा में स्त्री का उपभोग समझा जाय, √भज् (उपभोग करना) से [भग बना है] ॥

मेषः इति भूतोपमा । 'मेषो भूतोऽभि यन्नयः' । मेषो मिषतेः, तथा पशुः पश्यतेः । अग्निरिति रूपोपमा ।

'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपान्नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।'

हिरण्यवर्णस्येवास्य रूपम् । 'था' इति च (निघ० ३।१३।१२)

'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा' प्रत्ने । इव, पूर्वे इव, विश्वे इव, इमे इव इति । 'अयम्' एततरोऽमुष्मात् । 'असौ' अस्ततरः अस्मात् । अमुथा = यथा असौ इति व्याख्यातम् । वत् इति सिद्धोपमा । ब्राह्मणवत् , वृषलवत्=ब्राह्मणा इव, वृषला इव इति ॥ १६ ॥

मेष (भेंड़) इत्यादि में भूत (रूप-परिवर्तन) की उपमा है—'भेंड़ का रूप बनाकर तुम आये हो' (ऋ० ८।२।४०) । मेष √ मिष् (पलक गिराना) से, उसी प्रकार पशु √ दृश् (देखना) से । अग्नि इत्यादि में रूप (आकार) की उपमा है—'सोने के आकार का, सोने के समान चमकनेवाला तथा सोने के रंग का, जल का पुत्र बैठा है' (ऋ० २।३५।१०) । सोने के समान उसका रूप है । 'था' भी [उपमा दिखाने के लिए आता है]—'प्राचीन के समान, पहले के समान, सबके समान तथा इनके समान उसे [दूहते हो]' (ऋ० ५।४४।१) । प्राचीनों-सा, पहले वालों-सा, सबों-सा, इव (यजमानों)-सा । 'अयम्' (यह) = जो उससे निकटतर (√ इ) है । 'असौ' (वह) = जो इससे दूरतर (√ अस्) है । अमुथा = जैसा वह—इसकी व्याख्या होती है । 'वत्' सिद्ध (पूरे काम) की उपमा है—ब्राह्मणवत्, वृषलवत् = ब्राह्मण-सा, निन्दनीय व्यक्ति-सा ॥ १६ ॥

विशेष—यास्क अपनी धुन में 'असौ' और 'अयम्' जैसे सर्वनामों का भी निर्वचन करने से नहीं चूकते । सिद्ध का मतलब है कार्यसिद्धि जैसे वह ब्राह्मण के समान पढ़ता है ।

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत् ।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥

(महिव्रत) हे बड़े नियमों वाले ! (जातवेदः) सभी जीव तुम्हारी सम्पत्ति के रूप में हैं; प्रियमेध के समान, अत्रि के समान, विरूप के समान तथा अंगिरा के समान, प्रस्कण्व-ऋषि की (हवम्) प्रार्थना (श्रुधी) सुनो (ऋ० १।४५।३) ॥

प्रियमेधः—प्रियाः अस्य मेधाः । यथैतेषाम् ऋषीणाम् । प्रस्कण्वस्य शृणु ह्वानम् । प्रस्कण्वः–कण्वस्य पुत्रः, कण्वप्रभवः । यथा प्राग्रम् । अर्चिषि भृगुः सम्बभूव । भृगुः भृज्यमानो न देहे । अङ्गारेषु अङ्गिराः । अङ्गाराः अङ्कनाः । 'अत्रैव तृतीयम् ऋच्छत' इत्यूचुः ।

तस्मात् अत्रिः । न त्रयः इति । विखननात् वैखानसः । भरणात् भारद्वाजः । विरूपः=नानारूपः । महिव्रतः=महाव्रतः इति ॥ १७ ॥

प्रियमेध = जिसे यज्ञ प्रिय हैं। जैसे इन ऋषियों की [प्रार्थना सुनी], वैसे ही प्रस्कण्व की प्रार्थना सुनो। प्रस्कण्व = कण्व का पुत्र, कण्व से उत्पन्न (प्रभव + कण्व)। जैसे 'प्राग्र' बनता है (प्र + अग्र)। भृगु ज्वालाओं से निकले। भृगु—भूंजे जाने पर भी (√भृज्) जो न जले : अंगारों से अंगिरा [निकले]। अंगार = अंक (चिह्न) देने वाले। उन्होंने कहा—'तीसरे व्यक्ति को यहीं खोजो', इसी से 'अत्रि' (अत्र ~ तृतीय) बना। अथवा जो तीन नहीं हैं (अ + त्रि)। अच्छी तरह खोदने के कारण 'वैखानस'। भरण (पालन, √भृ) करने से 'भरद्वाज'। विरूप = कई प्रकार का। महिव्रत = बड़े व्रतों वाला ॥ १७ ॥

चतुर्थ पाद

अथ लुप्तोपमानि अर्थोपमानि इत्याचक्षते । सिंहः व्याघ्रः इति पूजायाम् । श्वा काकः इति कुत्सायाम् । काकः इति शब्दानुकृतिः । तदिदं शकुनिषु बहुलम् । न शब्दानुकृतिः विद्यते—इत्यौपमन्यवः । काकः अपकालयितव्यो भवति । तित्तिरिः तरणात् । तिलमात्रचित्रः इति वा । कपिञ्जलः कपिरिव जीर्णः, कपिरिव जवते । ईषत्पिङ्गलो वा । कमनीयं शब्दं पिञ्जयति इति वा । श्वाऽऽशुयायी, शवतेः वा स्यात् गतिकर्मणः । श्वसितेर्वा । सिंहः सहनात्, हिंसेर्वा विपरीतस्य । सम्पूर्वस्य वा हन्तेः । संहाय हन्ति इति वा । व्याघ्रः व्याघ्राणात् । व्यादाय हन्ति इति वा ॥ १८ ॥

अब उन (पदों) का वर्णन करते हैं जिनके अर्थ से उपमा दी जाती है तथा जिनमें उपमा के वाचक (जैसे इव, यथा, वत् आदि) लुप्त रहते हैं। सम्मान के अर्थ में सिंह, व्याघ्र से [उपमा दी जाती है]। कुत्ता, कौआ से निन्दा के अर्थ में। 'काक' यह [कौए के] शब्द का अनुकरण है। यह विधि पक्षियों [के नाम देने में] बहुधा देखी जाती है। औपमन्यव का सिद्धान्त है कि शब्दानुकरण (Onomatopoeia) होता ही नहीं इसलिए काक वह है जो भगाने के लायक हो (√कल्); 'तित्तिर' फुदकने के कारण (√तृ), अथवा जिसमें तिल के आकार के ही चित्र (छाप) बने हों। 'कपिञ्जल'

(francolin partridge) कपि के समान जीर्ण (वर्बाद), या बन्दर जैसा तेज दौड़ता है (√जव), या थोड़ा भूरा होता है, या कमनीय शब्द बोलता है। कुत्ता (श्वा)—तेज चलने वाला (आशु√या), या गत्यर्थक√ शव् से या साँस लेने से। 'सिंह' दमनशक्ति के कारण (√सह्) या√हिंस् (मारना) उलट करके बना है। या सम्-पूर्वक√हन् से या जमा करके मारता है। 'व्याघ्र' सूँघने के कारण (वि आ √घ्रा) या अलग करके मारता है ॥

विशेष—अब तक उपमा के उन भेदों से यास्क भिड़े थे जिनमें वाचक शब्द रहते हैं, अब ये लुप्तवाचक पदों का वर्णन कर रहे हैं। शब्दों की उत्पत्ति में शब्दानुकरण का बहुत बड़ा हाथ है इसमें कोई सन्देह नहीं। यास्क को यह मालूम था किन्तु उस सिद्धान्त का भी खण्डन करने वाले औपमन्यव हैं जो पक्के नैरुक्त हैं। तुलना करें—मैक्समूलर का शब्दानुकरण सिद्धान्त। √शव्—तुल० 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु शव इति।' (नि० २।२)। 'सिंह' पर पाणिनि-मत है—

भवेद्वर्णागमाद्धंसो सिंहो वर्णविपर्ययात्।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम् ॥

अर्चतिकर्माणः उत्तरे धातवः चतुश्चत्वारिंशत् (३।१४)। मेधाविनामानि उत्तराणि चतुर्विंशतिः (३।१५)। मेधावी कस्मात् ? मेधया तद्वान् भवति। मेधा मतौ धीयते। स्तोतृनामानि उत्तराणि त्रयोदश (३।१६)। यज्ञनामानि उत्तराणि पञ्चदश (३।१७)। यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्म इति नैरुक्ताः। याच्ञो भवति इति वा। यजुरुन्नो भवति इति वा। बहुकृष्णाजिनः इत्यौपमन्यवः। यजूंषि एनं नयन्ति इति वा। ऋत्विङ्नामानि उत्तराणि अष्टौ (३।१८)। ऋत्विक् कस्मात् ? ईरणः। ऋग्यष्टा भवति इति शाकपूणिः। ऋतुयाजी भवतीति वा।

बाद के चोआलीस धातु पूजार्थक हैं। बाद के चौबीस, मेधावी के पर्याय हैं। मेधावी कैसे ? चूँकि उस मेधा से युक्त होता है। मेधा = जिसे बुद्धि में धारण करें। बाद के तेरह नाम स्तोता के हैं। बाद के पन्द्रह नाम यज्ञ के हैं। यज्ञ कैसे ? निरुक्तकार कहते हैं कि यह विख्यात पूजा का काम है। अथवा [देवता] इसकी याचना करते हैं, अथवा यजु के मन्त्रों से छिड़का जाता है। औपमन्यव के अनुसार—बहुत से काले मृगचर्मों वाला। अथवा यजु के मन्त्र इसका

निर्देशन करते हैं। बाद के आठ नाम ऋत्विक् के हैं। ऋत्विक् कैसे ? [यज्ञ को] बढ़ाने वाला। शाकपूणि के अनुसार यह ऋग्वेद के द्वारा यज्ञ कराता है। अथवा उचित समय पर यज्ञ कराता है।

याच्ञाकर्माणः उत्तरे धातवः सप्तदश (३।१९)। दानकर्माणः उत्तरे धातवो दश (३।२०) अध्येषणाकर्माणः उत्तरे धातवश्चत्वारः (३।२१)। स्वपितिसस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ (३।२२)। कूप-नामानि उत्तराणि चतुर्दश (३।२३)। कूपः कस्मात् ? कुपानं भवति। कुप्यतेः वा। स्तेननामानि उत्तराणि चतुर्दश एव(३।२४)। स्तेनः कस्मात् ? संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। निर्णीता-न्तर्हितनामधेयानि उत्तराणि षट् (३।२५)। दूरनामानि उत्तराणि पञ्च (३।२६) दूरं कस्मात् ? द्रुतं भवति। दुरयं वा। पुराण-नामानि उत्तराणि षट् (३।२७)। पुराणं कस्मात् ? पुरा नवं भवति। नवनामानि उत्तराणि षडेव (३।२८)। नवं कस्मात् ? आनीतं भवति ॥ १९ ॥

बाद के सत्रह धातु 'माँगना' अर्थ वाले हैं। 'देना' अर्थवाले बाद के दस धातु हैं। बाद के चार धातु विनम्र-प्रार्थना (entreaty) अर्थ वाले हैं। 'सोना' अर्थवाले दो धातु 'स्वपिति' और 'सस्ति' हैं। बाद के चौदह नाम कूप के हैं। कूप कैसे ? इससे पानी पीना कठिन है (कु + √पा) या √कुप् (क्रोध करना) से। बाद के चौदह ही नाम चोर के हैं। स्तेन कैसे ? निरुक्तकारों के अनुसार इसमें पाप ठहरता है। बाद के छह नाम निश्चित किये गये तथा छिपे हुए के हैं। बाद के पर्याय दूर के हैं। दूर कैसे ? चूँकि यह खींचा हुआ है (√द्रु) या जहाँ पहुँचना कठिन है (दुर√इ) बाद के छह नाम पुराण (प्राचीन) के हैं। पुराण कैसे ? पहले नया था। बाद के छह ही नाम नवीन के हैं। नव कैसे ? चूँकि तुरत का लाया हुआ है ॥ १९ ॥

द्विशः नामानि उत्तराणि (३।२९)। प्रपित्वे—अभीके इत्यासन्नस्य। प्रपित्वे = प्राप्ते, अभीके = अभ्यक्ते।

'आपित्वे नः प्रपित्वे तूयमा गहि', 'अभीके चिदु लोककृत्' इत्यपि निगमौ भवतः ॥ दभ्रम्—अर्भकम् इत्यल्पस्य। दभ्रं दभ्नोतेः।

सुदम्भं भवति । अर्भकम् अवहृतं भवति ।

'उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः',

'नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः' इत्यपि निगमौ भवतः ॥

तिरः-सतः इति प्राप्तस्य । तिरः तीर्णं भवति, सतः संसृतं भवति ।

'तिरश्चिदर्यया परि वर्तिर्यातमदाभ्या', 'पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः' इत्यपि निगमौ भवतः ॥

बाद के [२६] नाम दो-दो करके हैं। (१-२) 'प्रपित्वे' और 'अभीके' निकट के अर्थ में हैं। प्रपित्वे = पहुँचा हुआ, अभीके = समीप आया हुआ। '(आपित्वे) सूखा (प्रपित्वे) पड़ने पर, हमारे पास शीघ्र आओ' (ऋ० ८। ४।३), 'अहा ! संसार बनाने वाले आ गये' (ऋ० १०।१३३।१)—ये वैदिक उदाहरण हैं। (३-४) 'दभ्र' और 'अर्भक' अल्प के अर्थ में। दभ्र √दभ् (नष्ट करना) से, इसे नष्ट करना सरल है। अर्भक निकाला हुआ होता है (अव √हृ)। 'आओ, मेरा आलिंगन करो, मेरे [केशों को] छोटा मत समझो' (ऋ० १।१२६।७), 'बड़ों को प्रणाम, छोटों को प्रणाम' (ऋ० १। २७।१३)—ये वैदिक उदाहरण हैं। (५-६) 'तिरः' और 'सतः' पाये हुए के अर्थ में। 'तिरः' पार किये हुए होता है (√तॄ), 'सतः' एक साथ चला हुआ है (सम् √सृ)। 'हे अहिंसित [अश्विनों]! (अर्यया) शीघ्र, मोड़ के पार से (वर्तिः तिरः) आइये' (ऋ० ५।७५।७), 'पात्रों को तोड़ने के समान वह वर्तमान राक्षसों पर टूटता है' (ऋ० ७।१०४।२१)—ये वैदिक उदाहरण हैं ॥

त्वः-नेमः इत्यर्धस्य । त्वः अपततः । नेमः अपनीतः । अर्धं हरतेः विपरीतात्, धारयतेः वा स्यात् । उद्धृतं भवति । ऋध्नोतेः वा स्यात् । ऋद्धतमो विभागः ।

'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति', 'नेमे देवा नेमेऽसुराः'- इत्यपि निगमौ भवतः ॥ ऋक्षाः—स्तृभिः इति नक्षत्राणाम् । नक्षत्राणि नक्षतेः गतिकर्मणः । 'नेमानि क्षत्राणि' इति च ब्राह्मणम् । ऋक्षाः उदीर्णानि इव ख्यायन्ते । स्तृभिः तीर्णानि इव ख्यायन्ते ।

'अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा', 'पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः' इत्यपि निगमौ भवतः ॥

(७-८) 'रव' और 'नेम' आधा के अर्थ में। रव = पूरा फैला हुआ नहीं। नेम = पूरा नहीं लाया हुआ हो ! अर्ध √हृ (हरण करना) को उलटने पर; या धारण करने से चूँकि यह निकाला हुआ होता है (उद् √धृ)। या √ऋध् (बढ़ाना) से क्योंकि यह [एक के सभी] विभागों में बड़ा है। 'आधे लोग निन्दा करते हैं, आधे प्रशंसा' (ऋ० १।१४७।२); 'आधे देवता हैं आधे राक्षस' (मैत्रा० सं० १।११।९)—ये वैदिक उद्धरण हैं ॥ (९-१०) 'ऋक्षाः' और 'स्तृभिः' नक्षत्रों के अर्थ में। नक्षत्र गत्यर्थक √नक्ष् से। ब्राह्मण वाक्य भी है—'ये (तारे) स्वर्ण (क्षत्र) नहीं है'। 'ऋक्ष' (तारे) उठे हुए मालूम पड़ते हैं। 'स्तृभिः' (तारे) [आकाश में] बिखरे हुए दिखाई पड़ते हैं। 'ये तारे जो ऊँचा पर रखे गये हैं...' ऋ० १।२४।१० 'मानों तारों से भरे आकाश को देखते हुए' (ऋ० ४।७।३)—ये वैदिक उद्धरण हैं ॥

वम्रीभिः—उपजिह्विकाः इति सीमिकानाम्। वम्रयः वमनात्। सीमिकाः स्यमनात्। उपजिह्विकाः उपजिघ्रयः।

*'यदत्त्युपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति'—इत्यपि निगमो भवति ॥ ऊर्दरं—कृदरं इति आवपनस्य। ऊर्दरम् उद्धीर्णं भवति। ऊर्जे दीर्णमिति वा। 'तमूर्दरं न पृणता यवेन' – इत्यपि निगमो भवति। तम् ऊर्दरमिव पूरयति यवेन। कृदरं कृतदरं भवति। 'समिद्धो अञ्जन्कृदरं मतीनाम्' इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

(११-१२) 'वम्रीभिः' और 'उपजिह्विकाः' चींटियों के अर्थ में। 'वम्री' वमन करने के कारण। सीमिका रेंगने के कारण। उपजिह्विका = सूँघने वाली। 'जब चींटी खाती है, जब चींटी चलती है' (ऋ० ८।१०२।२१)—यह वैदिक उद्धरण है। (१३-१४) 'ऊर्दर' और 'कृदर' अन्नभंडार के अर्थ में। ऊर्दर = ऊपर की ओर कटा हुआ या अन्न के लिए कटा हुआ। 'जौ से अन्नभंडार की भाँति उसे भरो' (ऋ० २।१४।११)—यह वैदिक उदाहरण है। उसे अन्नागार की तरह जौ से भरता है। कृदर = जिसमें छेद किया हुआ हो। 'जलने पर

---

*इसके पूर्व यह पाठ भी है—वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् (ऋ० ४।१९।९) अर्थात् चींटियों ने अग्रु-वृक्ष के भक्षणीय खंड को...।

बुद्धि के अन्नभंडार को प्रकाशित करते हुए।' (मै० सं० ३।१६।२)—यह उदाहरण है ॥ २० ॥

रम्भः—पिनाकम् इति दण्डस्य। रम्भः आरभन्ते एनम्। 'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा'—इत्यपि निगमो भवति। आरभामहे त्वा जीर्णाः इव दण्डम्। पिनाकं प्रतिपिनष्टि एनेन। 'कृत्तिवासाः पिनाकहस्तोऽवततधन्वा'—इत्यपि निगमो भवति ॥ मेनाः—ग्नाः इति स्त्रीणाम्। स्त्रियः स्त्यायतेः अपत्रपण-कर्मणः। मेनाः = मानयन्ति एनाः। ग्नाः = गच्छन्ति एनाः।

'अमेनाँश्चिज्जनिवतश्चकर्थ', ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत' इत्यपि निगमौ भवतः ॥

(१५–१६) 'रम्भ' और 'पिनाक' डण्डे के अर्थ में। रम्भ = इसे लोग पकड़ते हैं। 'बूढ़े जैसे लाठी को [पकड़ते हैं] वैसे ही तुम्हें हमने पकड़ा है' (ऋ० ८।४५।२०)—यह वैदिक उद्धरण। हम तुम पर आश्रित हैं जैसे कमजोर [आदमी] डण्डे पर। पिनाक (हड्डी) = जिससे पीस दे (नाश कर दे)। 'चमड़े को पहने हुए, हाथ में त्रिशूल लिये, तथा न झुकने वाला धनुष लिये हुए' (काठक सं० ९।८)—यह वैदिक उद्धरण है। (१७–१८) 'मेना' और 'ग्ना' स्त्रियों के अर्थ में। स्त्री √स्त्यै = 'लजाना' से। मेना = लोग जिसे (एनाः) माने। ग्ना = जिसके पास लोग जायँ (√गम्)। 'पत्नीहीन को भी तुमने सपत्नीक कर दिया है' (ऋ० ५।३१।२), स्त्रियों ने तुम्हें काटा, कर्मनिष्ठों ने फैलाया' (मै० सं० १।९।४)—वैदिक उदाहरण हैं।

शेपः—वैतसः इति पुंस्प्रजननस्य। शेपः शपतेः स्पृशति-कर्मणः। वैतसः वितस्तं भवति। 'यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्', 'त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन'–इत्यपि निगमौ भवतः ॥ अया–एना इत्युपदेशस्य। 'अया ते अग्ने समिधा विधेम'—इति स्त्रियाः। 'एना वो अग्निम्'—इति नपुंसकस्य। 'एना पत्या तन्वं१सं सृजस्व'—इति पुंसः ॥

(१९–२०) 'शेप' और 'वैतस' पुरुष के जननेन्द्रिय के अर्थ में। शेप 'छूना' अर्थ वाले √शप् से। वैतस मुरझाया हुआ होता है। '[पुत्र की] कामना करते हुए हम जिसमें शेप का प्रहार करें' (ऋ० १०।८५।३७),

[उर्वशी पुरूरवा से कहती है—] 'तुमने दिन में तीन बार मुझ पर वैतस (इन्द्रिय) का प्रहार किया है' (ऋ० १०।९५।५)—ये वैदिक उदाहरण हैं। (२१–२२) 'अया' और 'एना' उल्लेख करने के अर्थ में। 'हे अग्ने! इस (अया) समिधा से हम तेरी पूजा करें' (ऋ० ४।४।१५)—यहाँ स्त्रीलिंग (समिधा) में। 'हे अग्ने! हमारे पास इसके द्वारा (एना)' (ऋ० ७।१३।१)—यहाँ नपुंसकलिंग में। 'इस (एना) पति से अपने शरीर को मिलाओ' (ऋ० १०।८५।३७)—यहाँ पुंलिंग में॥

सिषक्तु—सचते इति सेवमानस्य। 'स नः सिषक्तु यस्तुरः'। स नः सेवतां यस्तुरः। 'सचस्वा नः स्वस्तये'। सेवस्व नः स्वस्तये। स्वस्ति इत्यविनाशिनाम। अस्तिः अभिपूजितः स्वस्तीति॥ भ्यसते–रेजते इति भयवेपनयोः। 'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्', 'रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः'—इत्यपि निगमौ भवतः॥

द्यावापृथिवीनामधेयानि उत्तराणि चतुर्विंशतिः (३।३०)। तयोरेषा भवति॥ २१॥

(२३–२४) 'सिषक्तु' और 'सचते' सेवा के अर्थ में। 'जो तेज (तुरः) है वह हमारी सेवा करे' (ऋ० १।१८।२)—जो पटु है वह हमारी सेवा करे। 'हमारे कल्याण के लिए सेवा करो' (ऋ० १।१।९)—हमारे कल्याण के लिए सेवा करो। 'स्वस्ति' अविनाशीका पर्याय है—सम्मान के साथ रहना, अच्छी तरह (सु) रहता है (अस्ति)। (२५–२६) 'भ्यसते' और 'रेजते' भय और कम्पन के पर्याय हैं। 'जिसके कोप या बल से स्वर्ग और पृथ्वी डर गये' (ऋ० २।१२।१), 'हे अग्ने! 'बड़े-बड़े (मरुतों से) पृथ्वी काँपती है' (ऋ० ६।६६।९)—ये वैदिक उद्धरण हैं॥

बाद के चौबीस नाम द्यावापृथिवी के हैं। उनके विषय में यह (ऋचा) है—॥ २१॥

कतरा पूर्वा कतरापरायोः कथा जाते कवयः को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नाम वि वर्तेते अहनी चक्रियेव॥

(अयोः = अनयोः) इन दोनों में (कतरा पूर्वा) कौन पहले की और (कतरा अपरा) कौन बाद की है? (कवयः) हे ऋषियो! (कथा = कथं)

कैसे (जाते) ये उत्पन्न हुई, (कः विवेद) कौन जानता है ? (विश्वं यद् ह नाम) सभी चीजों को वे (त्मना = आत्मना) अपने से (विभृतः) धारण करती हैं; (अहनी) दोनों दिन (चक्रिया इव) चक्के के समान (विवर्तेते) घूमते हैं । ऋ० १।१८५।१) ।

कतरा पूर्वा, कतरा अपरा, एनयोः । कथं जाते ? कवयः ! कः एते विजानाति ? सर्वम् आत्मना विभृतो यद् ह एनयोः कर्म । विवर्त्तेते च एनयोः अहनी अहोरात्रे चक्रयुक्ते इव । इति द्यावापृथिव्योः महिमानम् आचष्टे आचष्टे ॥ २२ ॥

इन दोनों में कौन पहली है, कौन बाद की ? कैसे उत्पन्न हुई ? हे ऋषि-गण ! इन्हें अच्छी तरह कौन जानता है ? जो कुछ इनके काम हैं उन सबों को अपने से धारण करती हैं इनके दोनों दिन अर्थात् रात और दिन चक्के के समान घूमते हैं । इस प्रकार स्वर्ग और पृथिवी की महिमा का वर्णन हुआ है ॥

॥ इति निरुक्ते तृतीयोऽध्यायः ॥



चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

ॐ एकार्थमनेकशब्दम्—इत्येतदुक्तम्। अथ यानि अनेकार्थानि एकशब्दानि तानि अतोऽनुक्रमिष्यामः, अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। तत् 'ऐकपदिकम्' इत्याचक्षते। जहा (निघ० ४।१।१) जघानेत्यर्थः॥ १॥

ऊपर उस [संग्रह] की व्याख्या हुई है जिसमें एक समान अर्थ धारण करने वाले अनेक शब्द हैं (=पर्यायवाची)। अब हम उन (पदों) की व्याख्या करेंगे जिसमें एक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा ये ऐसे वैदिक प्रयोग हैं जिनकी रचना (प्रकृति-प्रत्यय द्वारा बनावट) मालूम नहीं। इस (भाग) को लोग 'ऐकपदिक' [—काण्ड] (या नैगम-काण्ड) कहते हैं। 'जहा'=मारा (√हन्+लिट्)॥ १॥

विशेष—निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों में पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है जिसकी व्याख्या संक्षिप्त-रूप से यास्क ने निरुक्त के दूसरे और तीसरे अध्यायों में कर दी। उसे नैघण्टुक-काण्ड कहते हैं। निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में स्वतंत्र शब्दों का संग्रह है जिसमें प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ हैं तथा प्रायः ऐसे शब्द हैं जिनके संस्कार (Formation) कठिन है। प्रत्येक पद के स्वतंत्र होने के कारण इस काण्ड को ऐकपदिक कहते हैं और इसके पदों की व्याख्या निरुक्त के चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्यायों में हुई है। नैघण्टुक-काण्ड के शब्द Synonym तथा नैगम (ऐकपदिक)—काण्ड के शब्द Homonym कहलाते हैं॥ १॥

को नु मर्या अमिथितः सखा सखायमब्रवीत्।
जहा को अस्मदीषते॥

(मर्याः) हे मनुष्यों! (को नु) किस (सखा) मित्र ने (अब्रवीत्) कहा है कि [मैंने] (अमिथितः) उद्विग्न हुए बिना, बिना कुछ कहे ही (सखायम्) अपने मित्र को (जहा) मार डाला? (को) कौन (अस्मद्) हमारे पास से (ईषते) भागता है? (ऋ० ८।४५।३७)।

मर्याः इति मनुष्यनाम। मर्यादाभिधानं वा स्यात्। [मर्यादा=मर्यैः आदीयते।] मर्यादा—मर्यादिनोः विभागः।

मेथतिः आक्रोशकर्मा । अपापकं जघान कमहं जातु ? कोऽस्मद्भीतः पलायते ?

'मर्य' मनुष्य का पर्याय है या मर्यादा (सीमा) का नाम है। मर्यादा = जिसे मनुष्य निश्चित करें। मर्यादा = दो सीमित स्थानों का विभाग [करने वाली रेखा]। √मिथ् = उत्तेजित करना, चिल्लाना। किस निरपराध को मैंने कभी भी मारा है ? मुझसे डरकर कौन भागता है ?

विशेष—मंत्र के देवता का कहना है कि बिना किसी अपराध के मैंने किसी को नहीं मारा, पापी को ही मैं मारता हूँ। यदि आप भी शीघ्र निष्पाप हो जायँ तो नहीं मारूँगा। पाप न करनेवाले नहीं भागते—दुर्ग। 'जहा' में √हन् या √हा (छोड़ना) की सम्भावना है किन्तु निरुक्तकार √हन् ही लेते हैं।

निधा (१) पाश्या भवति। यन्निधीयते। पाश्या = पाशसमूहः। पाशः पाशयतेः। विपाशनात् ॥ २ ॥

निधा = जाल (पाश्या), जिसे [नीचे] रखा जाय। पाश्या = जालों का समूह। पाश √पश् (बाँधना) से, क्योंकि बाँधा जाता है ॥ २ ॥

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य१स्मान्निधयेव बद्धान् ॥

(सुपर्णाः) सुन्दर पङ्खवाले (वयः) पक्षियों के समान (प्रियमेधाः) यज्ञों के प्रेमी, (नाधमानाः) याचना करते हुए (ऋषयः) ऋषिगण (इन्द्रम्) इन्द्र के पास (उपसेदुः) पहुँचे। (ध्वान्तम्) ढँके हुए स्थान को (अप ऊर्णुहि) खोल दो, (चक्षुः) आँखें (पूर्धि) भर दो, (अस्मान्) हमारे-जैसे (निधया इव) मानों जाल से (बद्धान्) बँधे हुए लोगों को (मुमुग्धि) छोड़ दो (ऋ० १०।७३।११) ॥

वयः वेः बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतनाः आदित्यरश्मयः। उपसेदुः इन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुहि आध्वस्तं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेः वा, चष्टेः वा। पूर्धि = पूरय, देहि इति वा। मुञ्च अस्मान् पाशैरिव बद्धान् ॥

वयः = वि (पक्षी) का बहुवचन। सुपर्ण अर्थात् अच्छी तरह पड़ने वाली सूर्य की किरणें। इन्द्र के पास याचना करती हुई पहुँची। हमारी घिरी हुई दृष्टि को खोल दो। चक्षु—√ख्या (जानना) या √चक्ष् (देखना) से। पूर्धि = पूरा करो, या दे दो। मानों जालों से बँधे हुए हम लोगों को छोड़ दो।

'पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः'। पार्श्वं पर्शुमयम् अङ्गं भवति। पर्शुः स्पृशतेः। संस्पृष्टा पृष्ठदेशम्। पृष्ठं स्पृशतेः। संस्पृष्टम् अङ्गैः। अङ्गम् अङ्गनात्, अञ्चनाद्वा। श्रोणिः श्रोणतेः गतिचलाकर्मणः। श्रोणिः चलतीव गच्छतः। दोः शिताम (३) भवति। दोः द्रवतेः। योनिः शिताम इति शाकपूणिः। विषितो भवति। श्यामतः यकृत्तः इति तैटीकिः। श्यामं श्यायतेः। यकृत् यथा कथा च कृत्यते। शितिमांसतः मेदस्तः इति गालवः। शितिः श्यतेः। मांसं माननं वा, मानसं वा। मनः अस्मिन् सीदति इति वा। मेदः मेद्यतेः॥ ३॥

पँसुली से, कमर से और बाहुओं से (वाजस० सं० २१।४३ का खण्ड)। पँसुली का भाग अर्थात् सन्धियुक्त शरीर। पर्शु (पँसुली, सन्धि) √स्पृश् (छूना) से, क्योंकि पीछे के भाग को छूता है। 'पृष्ठ' √स्पृश् से, क्योंकि यह शरीर [के अन्य भागों] से छुआ जाता है। अंग √अञ्ज् (चिह्नित होना) या √अञ्च् (झुकना) से। 'श्रोणि, 'आगे बढ़ना' अर्थ वाले √श्रोण् से, क्योंकि चलते हुए (व्यक्ति) की कमर (नितम्ब) आगे बढ़ती हुई-सी प्रतीति होती है। शिताम = बाहु (दोः)। दोः √द्रु (दौड़ना) से। शाकपूणि के अनुसार शिताम = योनि, क्योंकि खुली हुई होती है। तैटीकि के अनुसार श्याम-वर्ण होने के कारण इसका अर्थ यकृत् (Liver) है। श्याम √श्यै (घनीभवन) से (= घना रंग)। यकृत् जिस किसी तरह कटता है (बिना यत्न के—दुर्ग)। गालव के अनुसार काला मांस होने के कारण इसका अर्थ मेद (चर्बी) है। शिति √शो (= तेज करना, पजाना) से। मांस—माननीय (= आदरणीय व्यक्ति के लिए दिया जाय—दुर्ग), या चिन्तनीय (मन में आनन्द लिया जाय—दुर्ग)। अथवा मन इसमें नष्ट हो जाता है। मेदस् √मिद् (मोटा होना) से॥

विशेष—दुर्गाचार्य ने इस प्रसंग में दस प्रकार के अनवगम (अर्थात् पद के संस्कार आदि को न जानना) दिखलाये हैं। वे हैं—(१) पदजाति (Kinds of words) को न जानना जैसे 'त्व' नाम है कि निपात? (२) अभिधेय (meaning) जैसे शिताम। (३) स्वर (accent) जैसे वने न वा यो। (४) संस्कार (formation) जैसे ईर्मान्तासः। (५) गुण (Quality) जैसे करूलती। (६) विभाग (Internal division) जैसे—मेहना (मे-ह-ना)। (७) क्रम (order) उपरमध्वं मे वचसे। (८) विक्षेप (Exclusion) द्यावा नः पृथिवी। (९) अध्याहार (Inclusion) दानमनसो नो मनुष्यान्।

(१०) व्यवधान (Intervention) वायुश्च नियुत्वान् । इस प्रकार वैदिक-पदों की व्याख्या में ये दस प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं जिन्हें बोद्ध-भाषा में Ten unknowables कहा जा सकता है ॥ ३ ॥

यदिन्द्र चित्र मेहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।

राधस्तन्नो विदद्वस उभयाहस्त्या भर ॥

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) जो कुछ भी (चित्र) चुभने योग्य तथा (मेहना) प्रशंसनीय धन है, (अद्रिवः) हे वज्रधारिन् ! (त्वादातम्) तुम दे दो (विदद्वसो) हे धन को जानने वाले ! (उभयाहस्त्या) दोनों हाथों से (तत् राधः) उस धन को (नः) हमें (आ भर) ला दो । (ऋ० ५।३९।१) ॥

विशेष—'चित्र' को मेहना का विशेषण मानना ठीक नहीं, उसमें सर्वानुदात्त होने से उसे सम्बोधन मानकर 'इन्द्र' का विशेषण लेना ठीक है । त्वादातम्—'त्वया दातव्यम्' का समास । अद्रिवः—'अद्रि + मतुप्—सम्बोधन में अद्रिवन्' 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) से अद्रिवः । विदद्वसुः—मैक-डोनल का Governing compound. सम्बोधन में विदद्वसो ॥

यदिन्द्र [चित्रं] चायनीयं मंहनीयं धनमस्ति । यत् मे इह नास्ति इति वा त्रीणि मध्यमानि पदानि । त्वया नः तद् दातव्यम् । अद्रिवन् । अद्रिः आदृणाति एनेन । अपि वा—अत्तेः स्यात् । 'ते सोमादो···'इति ह विज्ञायते । राधः इति धननाम । राध्नु-वन्ति एनेन । तन्नः त्वं, वित्तधन ! उभाभ्यां हस्ताभ्याम् आहर । उभौ समुब्धौ भवतः ॥

हे इन्द्र ! जो कुछ भी सुन्दर और आदरणीय धन है । अथवा ये तीन मध्यम पद हों—जो मुझे यहाँ नहीं है (मे ह ना) । आप हमें वह दे दें । हे वज्र धारण करने वाले ! अद्रि अर्थात् जिससे [इन्द्र पहाड़ों को] तोड़ता है । अथवा √अद् (खाना) से, 'वे सोम को खाने वाले हैं' (ऋ० १०।९४।९) यह मालूम भी है । राधः धन का पर्याय है क्योंकि इसी से लोग प्राप्त करते हैं । हे धन के ज्ञाता ! वही तुम हमारे लिए दोनों हाथों से लाओ । उभय = जो भरे हुए हों (√उभ्) ॥

वमूनाः (४) दममनाः वा, दानमनाः वा, दान्तमनाः वा । अपि वा, दमः इति गृहनाम, तन्मनाः स्यात् । मनः मनोतेः ॥ ४ ॥

दमूना = दया की बुद्धि से युक्त, दान करने की बुद्धि वाला, या संयम की प्रवृत्ति वाला। अथवा, दम = घर, अत एव उसी में प्रवृत्त। 'मन' √मन् (सोचना) से ॥ ४ ॥

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।

विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥

(अग्ने) हे अग्ने! (जुष्टः) सेवित होकर (दमूनाः) अपना घर समझ कर, या दया-भाव से युक्त होकर (दुरोणे) निवास-स्थान में (अतिथिः) अतिथि के रूप में (विद्वान्) ज्ञान युक्त होकर (नः) हमारे (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ में (उपयाहि) आओ। (विश्वाः) सभी (अभियुजः) शत्रुसेनाओं को (विहत्य) नष्ट करके (शत्रूयताम्) शत्रु बनने वालों का (भोजनानि) अन्न या धन (आभर = हर) ले आओ = छीन लाओ (ऋ० ५।४।५) ॥

अतिथिः अभ्यतितो गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानि इति वा, गृहाणि इति वा। दुरोण इति गृहनाम। दुरवाः भवन्ति = दुस्तर्पाः। इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्। सर्वाः अग्ने! अभियुजः विहत्य शत्रूयताम् आहर भोजनानि। विहत्य अन्येषां बलानि शत्रूणां भवनादाहर भोजनानि इति वा धनानि इति वा ॥

अतिथि = जो घरों में जाता है (√अत्) अथवा जो [निश्चित-] तिथियों में दूसरों के परिवार में या घरों में जाता है (√इ + तिथि)। दुरोण = घर, क्योंकि जिसे सन्तुष्ट करना कठिन है (दुः√अव्) या जिसे सँभालना (देख-भाल करना) कठिन है। जानते हुए हमारे इस यज्ञ में आओ। हे अग्ने! सभी अभियुक्तों को मार कर, शत्रु बनने वालों के भोजन (धन) छीन लाओ = हमारे शत्रुओं का बल (सेना) नष्ट करके, शत्रुओं के घर से भोजन या धन लाओ ॥

विशेष—दुर्गाचार्य घर की कठिनाई पर उद्धरण देते हैं—

'कुटुम्बतन्त्राणि हि दुर्भराणि।'

मूषः (६)। मूषिका इत्यर्थः। मूषिकाः पुनः मुष्णातेः। मूषोऽप्येतस्मादेव ॥ ५ ॥

मूष = मूषिक (चूहा)। अब मूषिक √मुष् (चुराना) से। मूष भी इसी (√मुष्) से ॥ ५ ॥

सं माँ तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ।
मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः
स्तोतारं ते शतक्रतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

(माम्) मुझे (अभितः) चारों ओर से (सपत्नीः इव) सपत्नियों के समान (पर्शवः) ईटे (संतपन्ति) संताप दे रही है। (शतक्रतो) हे शत-शक्ति वाले इन्द्र ! (ते) तुम्हारी (स्तोतारं) स्तुति करने वाले (मा) मुझ को (आध्यः = आधयः) मानसिक चिन्तायें (व्यदन्ति) खा रही हैं (मूषः शिश्ना न) जैसे चूहा सूते को [खा जाता है]। (रोदसी) हे स्वर्ग और पृथ्वी ! (मे) मेरी (अस्य) इस [अवस्था] को (वित्तम्) दोनों जान लो। (ऋ० १।१०५।८) ॥

विशेष—यह मंत्र पंक्ति छन्द (पाँच चरण) में है। त्रित या कुत्स ऋषि के द्वारा साक्षात्कृत इस मंत्र में इन्द्र की प्रार्थना है। ऋषि कहता है कि वह कुएँ में गिर पड़ा है जिससे कुएँ की ईंटे कष्ट दे रही हैं। यह कष्ट वैसा ही है जैसे सपत्नियों के आक्रमण से किसी मनुष्य को हो। ऐसी स्थिति में दुश्चिन्ताएँ भी उसे खाये जा रही हैं कि वह इस कूप से निकल सकेगा भी या नहीं। कुछ लोग यहाँ आध्यात्मिक अर्थ लेते हैं कि इस संसार में आये हुए जीवात्मा को पुनः पुनः गर्भ में आने का कष्ट बहुत पीडित करता है। मातृशरीर एक कूप के समान है जिसकी पसलियाँ जीवशरीर को कष्ट देती हैं। उस अवस्था में वासना-पूर्ति का अवसर या भोग्य पदार्थ न मिलने के कारण जीव को वासनाएँ भी पीड़ा देती हैं। इससे मुक्ति के लिए वह व्यग्र है।

संतपन्ति माम् अभितः सपत्न्यः इव इमाः पर्शवः कूप-पर्शवः। मूषिकाः इव अस्नातानि सूत्राणि व्यदन्ति। स्वाङ्गाभि-धानं वा स्यात्। शिश्नानि व्यदन्ति इति। संतपन्ति मा आध्यः कामाः स्तोतारं ते शतक्रतो। वित्तं मे अस्य रोदसी = जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्यौ इति॥ त्रितं कूपे अवहितमेतत्सूक्तं प्रति-बभौ। तत्र ब्रह्म इतिहासमिश्रम् ऋङ्मिश्रं गाथामिश्रं च भवति। त्रितः तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा—संख्यानाम एवाभिप्रेतम्। एकतो द्वितः त्रितः इति त्रयो बभूवुः॥ ६॥

ये ईंटें अर्थात् कुएँ की ईंटें सपत्नियाँ (सौतिनों) के समान मुझे चारों ओर से कष्ट देती हैं। जिस प्रकार चूहे चर्बीदार (या अन्न से युक्त = अन्न-

मिश्राणि) सूतों को खा जाते हैं। या अपने अंग का ही नाम हो—शिश्न अर्थात् अपने अंगों को खाते हैं।* उसी तरह, हे शत शक्ति वाले स्वामिन्! तुम्हारी स्तुति करने वाले मुझको चिन्तायें या इच्छायें कष्ट देती हैं। हे रोदसी! मेरी इस दशा को जानो = हे स्वर्ग और पृथ्वी'...... । कुएँ में गिरे हुए त्रित [—नामक ऋषि] को यह सूक्त प्रत्यक्ष हुआ था। इसके सम्बन्ध में इतिहास से युक्त, ऋचा से युक्त तथा गाथा (= ब्राह्मण-ग्रन्थों के पद्य) से युक्त स्तुति (ब्रह्म) है। त्रित बुद्धि में बहुत तीक्ष्ण थे (√तॄ)। अथवा ['त्रित' में] संख्या-विशेष का अर्थ हो। एक से, दो से, तीन से इस तरह तीन हुए (एकतः, द्वित; और त्रितः ये तीन भाई थे—दुर्ग)॥ ६॥

इषिरेण (७) ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोम राजन्प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि॥

(इषिरेण) गतिशील (मनसा) मन से (ते) तुम्हारे लिए (सुतस्य) चुलाये गये सोम का (पित्र्यस्य) पैत्रिक (रायः) धन (इव) के समान (भक्षीमहि) हम ग्रहण करें। (सोम राजन्) हे राजा सोम! (नः) हमारी (आयूंषि) आयु को, जीवन को (प्रतारीः) बढ़ाओ (वासराणि) ग्रीष्मकाल के (अहानि) दिनों को (सूर्यः इव) जैसे सूर्य [बढ़ाता है]। (ऋ० ८।४८।७)।

ईषणेन वा, एषणेन वा, ऋषणेन वा। ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव धनस्य। प्रवर्धय च नः आयूंषि सोम राजन्! 'अहानीव सूर्यो वासराणि'—वासराणि = वेसराणि, विवासनानि गमनानीति वा॥ कुरुतन (८) इति। अनर्थका उपजनाः भवन्ति—कर्तन, हन्तन, यातन इति॥ जठरम् (उदरं) भवन्ति। जग्धमस्मिन् ध्रियते, धीयते वा॥ ७॥

[गतिशील =] तेज, शक्तिशाली या सुबुद्ध। ऐसे मन से तुम्हारे लिए चुलाये गये सोम का भोग (हम) पैत्रिक-धन के समान करें। हे राजा सोम! हमारी आयु बढ़ाओ। जैसे ग्रीष्मकाल के दिनों को सूर्य। वास = विविध-रूप से चलने वाले (रात में ठंढ और दिन में गर्म पड़ने से)। या चमकने वाले (दुर्ग—नाश करने वाले) या जाने वाले (विस्तृत)॥ कुरुतन (करो)।

---

*दुर्गाचार्य—कुछ पक्षियों का स्वभाव है कि वे अपनी पूँछ को ही खा जाते हैं, उसी प्रकार चूहे भी स्निग्ध वस्तुओं (तेल, घी) के भाण्ड में पूँछ डालकर उसे निकालने के बाद खाते हैं। शिश्न—पूँछ।

इन सबों में ('न' का) आगम व्यर्थ ही हुआ है जैसे—कर्त्तन (करो), हन्तन (मारो), यातन (जाओ)। जठर = पेट क्योंकि खायी हुई चीज इसमें रखी जाती है (√धृ), या जमा की जाती है (√धा) ॥ ७ ॥

विशेष—'कुरुतन' आदि के लिए पा० सू० ७।१।४५ देखें—'तप्तनप्तनथनाश्च'। इन सबों में 'तन' प्रत्यय लाकर 'कुरुतन', तनप् से 'कर्त्तन' (गुण हो जाने के कारण—सार्वधातुकमपित्) इत्यादि ॥ ७ ॥

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय।
आ सिञ्चस्व जठरे मध्वं ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥

(मरुत्वान्) मरुतों से युक्त और (वृषभः) वर्षा करने वाले (इन्द्र) हे इन्द्र, (रणाय) आप युद्ध के लिए हैं; (मदाय) आनन्द के लिए (अनुस्वधम्) अन्न अर्थात् भोजन के बाद (सोमम्) सोम (पिब) पी लो। (जठरे) पेट में (मध्वः) मधु को (ऊर्मिम्) तरंग (आसिञ्चस्व) सींच दो, ढाल दो; (त्वम्) तुम (प्रदिवः) पहले के दिनों में (सुतानाम्) उत्पन्न किये हुए सोमों के भी (राजा असि) राजा हो। (ऋ० ३।४७।१)।

मरुत्वान् = इन्द्रः। मरुद्भिः तद्वान्। वृषभो वर्षिता अपाम्। रणाय = रणीयाय संग्रामाय। पिब सोमम्। अनुष्वधम् = अन्वन्नम्। मदाय = मदनीयाय जैत्राय। आसिञ्चस्व जठरे मधुनः ऊर्मिम्। मधु सोमम्—इत्यौपमिकम्। माद्यतेः। इदमपि इतरत् मधु एतस्मादेव। त्वं राजासि पूर्वेष्वपि अहःसु सुतानाम् ॥ ८ ॥

मरुत्वान् इन्द्र = मरुतों के साथ या उनसे युक्त। वृषभ = जल बरसाने वाले। रण अर्थात् रमणीय (√रम्) संग्राम के लिए। सोम पी लो। अन्न के बाद = भोजन के बाद। मद अर्थात् आनन्ददायक विजय के लिए। पेट में मधु की तरंग (प्रवाह) डालो। मधु अर्थात् सोम को—यह औपमिक (आनन्द देने में दोनों समान हैं) है। √मद् से। यह दूसरा मधु [का अर्थ—मदिरा] भी इसी से बना है। पूर्वकाल के दिनों में भी चुलाये हुए सोमों के तुम राजा हो [इसलिए तुम्हारा सोमपान करना सर्वथा समुचित है—दुर्ग] ॥ ८ ॥

द्वितीय-पाद

तितउ (१०) परिपवनं भवति। ततवद्वा। तुन्नवद्वा। तिलमात्रतुन्नम् इति वा ॥ १ ॥

तितउ = पवित्र करने वाली (चलनी)। चमड़े (तत) से ढँकी हुई, या छेद (तुन्न) से युक्त। अथवा तिल के समान छेदवाली ॥ ९ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

(तितउना) चलनी के द्वारा (सक्तुमिव) सत्तू के समान (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (यत्र) जहाँ (धीराः) बुद्धिमान् लोग (मनसा) मन के द्वारा (वाचम्) वाणी को [पवित्र] (अक्रत) करते हैं। (अत्र) वहाँ (सखायः) मित्र लोग (सख्यानि) मित्रता को (जानते) पहचानते हैं (एषाम्) इनकी (अधि वाचि) वाणी में (भद्रा) कल्याण करने वाली (लक्ष्मीः) लक्ष्मी, शोभा (निहिता) रहती है। (ऋ० १०।७१।२) ॥

विशेष—इस मंत्र का व्याकरण में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में इसका उद्धरण देकर व्याख्या की है। ऋग्वेद में यह विद्या-सूक्त में है। इसमें विद्वानों की प्रशंसा की गयी है। मित्र का अभिप्राय है एक समान शास्त्र पढ़ने वाले जैसे वैयाकरणों के मित्र वैयाकरण, नैरुक्तों के नैरुक्त। वे एक दूसरे के विज्ञान-प्रकर्ष (मित्रता) को भली-भाँति जानते हैं। जैसे चलनी से सत्तू को साफ करते हैं, चलनी से नीचे निकला हुआ सत्तू व्यवहार के योग्य होता है उसी प्रकार विद्वान् लोग भाषा का प्रयोग करने के समय उसे मन के द्वारा छान लेते हैं—वाच्य तथा अवाच्य का निर्णय मन ही करता है। मन के अनुकूल वाक्य प्रयोगार्ह होता है (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्, मनःपूतं समाचरेत्)। ऐसे लोगों की वाणी ही मधुर होती है। इसके विपरीत जो लोग अवाच्य-वाच्य का अन्तर किए बिना सब कुछ बोलते हैं, उन्हें लोग अच्छा नहीं समझते। ये शीघ्र ही लोकविद्विष्ट हो जाते हैं। धीर = धी + √रा (दान) + क (धियं राति ददातीति)।

सक्तुमिव परिपवनेन पुनन्तः। सक्तुः सचतेः। दुर्धावो भवति। कसतेः वा स्याद् विपरीतस्य। विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तः ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि संजानते, भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

मानों चलनी से सत्तू को चालते हुए। 'सक्तु' √सच् (सट जाना) से, इसे धोना कठिन है। अथवा √कस् (चमकना) से वर्ण-विपर्यय द्वारा हो गया हो क्योंकि यह पूरा खिला हुआ होता है। जहाँ बुद्धिमान् लोग मन के

द्वारा वाणी अर्थात् ज्ञान को छानते हैं। धीर=ज्ञानयुक्त, विचारक। वहाँ मित्र लोग मित्रता को पहचानते हैं। इनकी वाणी में कल्याणी शोभा निहित है॥

भद्रं भगेन व्याख्यातम् (३।१६) भजनीयम्, भूतानाम् अभिद्रवणीयम्। भवत् रमयति इति वा, भाजनवद्वा। लक्ष्मीः लाभाद्वा, लक्षणाद्वा, लप्स्यनाद्वा, लाञ्छनाद्वा, लषतेः वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। लग्यतेः वा स्यादाश्लेषकर्मणः। लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः। शिप्रे (११) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (६।१७)॥ १०॥

'भद्र' की व्याख्या 'भग' (ऐश्वर्य) से हो गई है (देखिए, निरु० ३।१६)। जिसमें आनन्द मिले, जिसे प्राणी प्राप्त करें। या उपस्थित होकर आनन्द दे, या अपने [कृपा–] पात्रों के पास रहे (√भज्√भू + √द्रु,√भू + √रम्, √भज्)। लक्ष्मी (चिह्न) लाभ होने से, निर्देश करने से, पाने की इच्छा से, या चिह्न करने से। या इच्छार्थक√लष् से या 'सटना' अर्थ वाले√लग् से, या 'प्रशंसा न करना' अर्थ वाले√लज्ज् से (= जिनके पास लक्ष्मी रहती है वे अपनी प्रशंसा नहीं करते हैं)॥

'शिप्रे' की व्याख्या बाद में (६।१७) होगी॥ १०॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या (१२) कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥

(सूर्यस्य) सूर्य का (तत्) यही (देवत्वम्) देव-भाव है, (तत्) यही (महित्वं) महिमा है कि (कर्तोः) कार्य के (मध्या) बीच में ही (विततम्) चारों ओर फैले हुए [प्रकाश को—सायण, अन्धकार को—आधुनिक-मत] (सं जभार) समेट लेता है, नष्ट कर देता है। (यदा इत्) जब उसने (सधस्थात्) पृथ्वी से, अश्वशाला से (हरितः) प्रकाश को, घोड़ों को (अयुक्त) खींच लिया जोत लिया (आत्) तभी (रात्री) रात्रिदेवी (सिमस्मै) सबों के लिए (वासः) अपने कपड़ों को (तनुते) फैलाने लगी, फैला रही थी। (ऋ० १।११५।४)॥

विशेष—उपर्युक्त मंत्र की व्याख्या में भारतीय (सायण) और आधुनिक-मत (विदेशी) में पर्याप्त अन्तर है। सायण और यास्क इसे सायंकाल का वर्णन मानते हैं—संसार में होने वाले अनन्त कर्मों के बीच में ही सूर्य सन्ध्या में अपनी फैली हुई किरणों को समेट लिया करते हैं। जब वे अपनी किरणों को पृथ्वी (सहस्थ) से हटा लेते हैं तो रात्रि का आवरणात्मक-कार्य आरम्भ हो

जाता है। सायण का कथन है कि जब वे रथ (सहस्थ) से घोड़ों को अन्यत्र बाँध देते हैं (अयुक्त) तब रात्रि होती है। इसके विरुद्ध आधुनिक-विद्वान् प्रस्तुत मंत्र के पहले और बाद के मंत्रों के सादृश्य से (१।११५।३ और ५) इसमें प्रातःकाल का वर्णन मानते हैं—अन्धकार के प्रसार-कार्य के बीच में ही सूर्य ने सारे अन्धकार को नष्ट कर दिया (संजहार)। अस्तबल से जब उन्होंने घोड़ों को रथ में जोत दिया उस समय रात्रि अपना कार्य कर रही थी। 'अयुक्त' का अर्थ जो सायण ने 'अन्यत्र युक्तान् करोति' किया है, यह वस्तुतः खींच-तान (far fetchedness) है, इसे सीधा 'जोत दिया' के अर्थ में ही लेना ठीक है। रॉथ ने भी सायण का ही अर्थ लिया है।

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत्कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते। यदासौ अयुक्त हरणान् आदित्यरश्मीन्। हरितः अश्वान् इति वा। अथ रात्री वासः तनुते सिमस्मै। वेसरम् अहः अवयुवती सर्वस्मात्। अपि वा उपमार्थे स्यात्। रात्रीव वासः तनुते इति। तथापि निगमो भवति—'पुनः समव्यद्वितत वयन्ती'। समनात्सीत्॥ ११॥

सूर्य का देवत्व इसीमें है, यही महिमा है कि किये जाते हुए कर्मों के बीच में उन्होंने (समस्त) फैली हुई [वस्तु] का संहार कर लिया है (= सिकोड़ लिया)। जब उन्होंने रस-हरण करने वाली आदित्य-करणों को जोत लिया, या हरितः=घोड़ों को। अब रात्रि सबों के लिए वस्त्र फैलाती है। चमकने वाले दिन (वेसर) को सबों से पृथक् कर देती हुई··· । अथवा तुलना के अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है—रात्रि के समान ही वह अपना वस्त्र (किरणें) फैलाता है। वैदिक प्रयोग भी है—'फैली हुई (वस्तु) को बुनती हुई उसने फिर बुना' (ऋ० २।३८।४) अर्थात् उसने संग्रह कर लिया॥ ११॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥

(अविभ्युषा) भयरहित [गण] के साथ (संजग्मानः) जाते हुए, (हि) वास्तव में (इन्द्रेण) इन्द्र के साथ (संदृक्षसे) दिखलाई पड़ते हो। तुम दोनों (मन्दू) आनन्दयुक्त तथा (समानवर्चसा = सौ) समान बल वाले हो (ऋ० १।६।७)॥ [गण = मरुद्गण। 'मन्दू' का निगम प्रदर्शित है।].

इन्द्रेण हि संदृश्यसे, संगच्छमानः अबिभ्युषा गणेन (१३) मदिष्णू युवां स्थः। अपि वा, 'मन्दुना तेन' इति स्यात्। समानवर्चसा इत्येतेन व्याख्यातम्॥ १२॥

निर्भय-गण (मरुतों) के साथ जाते हुए, इन्द्र के साथ दिखलाई पड़ते हो। तुम दोनों आनन्द या हर्ष से युक्त हो। अथवा 'उस प्रसन्न-गण के साथ' इस प्रकार का अर्थ हो। 'समानवर्चसा' (तुल्य बल के साथ)—इसकी भी वही गति है। [मन्दू—इसका वैकल्पिक अर्थ है मन्दुना (तृतीया ए० व०)। इसमें मन्दु + टा होने से 'सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) के द्वारा पूर्वसवर्ण होकर 'मन्दू' हो गया। मन्दुका = मरुद् गणेन (दुर्ग)]॥ १२॥

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः।
हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्ममश्वाः॥

(ईर्मान्तासः) सुनिर्मित अन्त भाग वाले या विशाल नितम्ब वाले तथा (सिलिकमध्यमासः) सिकुड़ी हुई अर्थात् पतली कमर वाले, (शूरणासः) वीरता से भरे हुए, (दिव्यासः) दिव्यशक्ति सम्पन्न (अत्याः) दौड़ाहे घोड़े (श्रेणिशः) पंक्ति में बँधे हुए (हंसाः इव) हंसों के समान (सं यतन्ते) एक साथ प्रयास करते हैं, (यदा) जब कि (अश्वाः) घोड़ों ने (दिव्यम्) दैवी (अज्मम्) मार्ग को (अक्षिषुः) पाया है। (ऋ० १।१६३।१०)। [इसमें 'ईर्मान्तासः' (१४) का निगम प्रदर्शित है।]

ईर्मान्ताः=समीरितान्ताः [सुसमीरितान्ताः], पृथ्वन्ता वा। सिलिकमध्यमाः = संसृतमध्यमाः, शीर्षमध्यमाः वा। अपि वा, शिर आदित्यो भवति, यत् अनुशेते सर्वाणि भूतानि, मध्ये च एषां तिष्ठति। इदमपीतरत् शिरः एतस्मादेव। समाश्रितानि एतत् इन्द्रियाणि भवन्ति। 'सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः'। शूरः—शवतेः गतिकर्मणः। दिव्याः दिविजाः। अत्याः अतनाः॥

सुनिर्मित अन्तभाग वाले = निकले हुए, [अच्छी तरह निकले हुए] या विशाल नितम्ब से युक्त (= सूर्य के घोड़ों का पिछला भाग विशाल है)। सुघटित कमर वाले = जिनकी कमर सिकुड़ी है या जिनका प्रधान बीच में रहता है (= सूर्य या प्रधान घोड़ा)। अथवा, शिर से सूर्य का मतलब है क्योंकि सभी जीवों में [प्राण रूप में] यह निवास करता है और उनके बीच में रहता है। यह दूसरा शिर (मनुष्य का) इसी तरह बना है क्योंकि सभी इन्द्रियाँ इसी पर आश्रित हैं। 'वीरतायुक्त दिव्य दौड़ाहे (दौड़ने वाले) एक साथ'। शूर गत्यर्थक √शु से। दिव्य = स्वर्ग में उत्पन्न। अत्याः = दौड़ाहे (√अत्)॥

'हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते' । हंसाः हन्तेः, घ्नन्ति अध्वानम् । श्रेणिशः इति । श्रेणिः श्रयतेः । समाश्रिता भवन्ति । यदा अक्षिषुः= यदा आपन् । दिव्यम् अज्मम् = अजनिम् = आजिम् । अश्वाः । अस्त्यादित्यस्तुतिः अश्वस्य । आदित्यादश्वो निस्तष्ट इति । 'सूरा-दश्वं वसवो निरतष्ट' । इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

'पंक्ति में बंधे हंसों के समान वे प्रयास करते हैं'। हंस √हन् (मारना) से, ये रास्तों को समाप्त करते हैं। श्रेणी में बंधकर। श्रेणि √श्रि (मिलाना) से, ये मिली हुई रहती हैं। जब पहुंचे = जब पाया। दिव्य अज्म = मार्ग = क्षेत्र को घोड़ों ने। सूर्य की स्तुति अश्व की ही स्तुति है। सूर्य से अश्व निर्मित हुआ है। 'हे वसुओ ! तुमने घोड़े को सूर्य से बनाया' (ऋ० ३।९।२)— यह भी उदाहरण वेद में है ॥ १३ ॥

विशेष—उपर्युक्त मंत्र में सूर्य के घोड़ों का वर्णन है। उनका किरणों को ही वेद में घोड़ा कहा गया है। इन घोड़ों के आकार का वर्णन करने के बाद इनके दिव्य-मार्ग पर चलने का उल्लेख किया गया है।

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः ।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः ॥

(यत्) जब (त्वम्) तुम (वना-नि) जंगलों को, लकड़ियों को (कायमानः) चाहते हुए (अपः मातॄः) जलरूपी माताओं के पास (अजगन्) गये हो, (अग्ने) हे अग्नि ! (ते) तुम्हारा (तत् निवर्तनम्) वह लौटना (प्रमृषे) भूलने योग्य (न) नहीं (यत्) जब कि (दूरे सन्) दूर होकर भी (इह) यहाँ (अभवः) चले आते हो। (ऋ० ३।९।२)।

विशेष—अग्नि की उत्पत्ति वनों से भी होती है, जल से भी (वैद्युत की)। निवर्तन = विद्युत् के रूप में लौटना, जल से निकलने वाले अग्नि (वैद्युत) का यज्ञ में अरणि-मन्थन से उत्पन्न हो जाना।

कायमानः (१५) चायमानः, कामयमानः इति वा वनानि । त्वं यत् मातॄः अपः अगमः, उपशाम्यन् । न तत् ते अग्ने ! प्रमृष्यते निवर्तनं दूरे यत्सन् इह भवसि जायमानः ॥

कायमान = देखते हुए, या जंगलों की इच्छा करते हुए। तुम जब जल-रूपी माताओं के पास गये = बुझ गये। हे अग्ने ! तुम्हारा वह लौटना भूला नहीं जाता जब कि दूर रहने पर भी उत्पन्न होकर यहाँ पहुँच जाते हो।

'लोधं (१६) नयन्ति पशु मन्यमानाः' = लुब्धम् ऋषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः। 'शीरं (१७) पावकशोचिषम्' = पावकदीप्तिम्। अनुशायिनम् इति वा, आशिनम् इति वा ॥ १४ ॥

'पशु समझ कर, लोभी को वे ले जाते हैं' (ऋ० ३।५३।२३)—पशु समझ कर लोभी ऋषि को ले जाते हैं। 'पवित्रकारक ज्वाला वाले अग्नि को' (८।१०२।११)। जिसका प्रकाश पवित्र है, यह सबों में शयन करता है या सबों को व्याप्त करता है।

विशेष—पहले मन्त्र की पूरी ऋचा का उद्धरण देकर दुर्ग कहते हैं कि 'यस्मिन् निगमे एष शब्दः सा वसिष्ठद्वेषिणी ऋक्। अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः। अतस्तां न निर्ब्रवीमि।' इससे दुर्गाचार्य के वंश का कुछ पता मिलता है। देखिये—भूमिका ॥ १४ ॥

कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते ॥

(नवे) नवीन तथा (विद्रधे) छेदों से युक्त, (अर्भके) छोटे (द्रुपदे) लकड़ी के आसन पर बैठी (कनीनकेव) गुड़ियों के समान (यामेषु) रास्तों में (बभ्रू) भूरे घोड़े (शोभेते) शोभते हैं। (ऋ० ४।३२।२३)।

कनीनके कन्यके। कन्या कमनीया भवति। क्वेयं नेतव्या इति वा (कमनेनानीयते इति वा)। कनतेः वा स्यात् कान्तिकर्मणः। कन्ययोः अधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः। विद्रधयोः दारुपाद्योः। दारु दृणातेः वा, द्रूणातेः वा। तस्मादेव द्रु। नवे = नवजाते। अर्भके = अवृद्धे। ते यथा तदधिष्ठानेषु शोभेते एवं बभ्रू यामेषु शोभेते। बभ्र्वोः। अश्वयोः संस्तवः।

दो गुड़ियायें (dolls) = दो कन्यायें। कन्या = जिसकी कामना की जाय (√कम्)। अथवा 'इसे किस व्यक्ति को दिया जाय'—इससे बना हो। (अथवा, कामना करनेवाले पति के द्वारा लायी जाती है)। अथवा 'चमकना' अर्थवाले √कन् से बना हो। शाकपूणि का कहना है कि [उपर्युक्त मन्त्र में] दोनों कन्याओं के आसन से सम्बद्ध शब्द (= विद्रधे, नवे, द्रुपदे, अर्भके—दुर्ग) सप्तमी के एकवचन में हैं। विभूषित काष्ठासनों पर…। 'दारु' √दृ (फाड़ना) से या √द्रु (मारना) से। इसी धातु से 'द्रु' भी बना है। नव = नवोत्पन्न। अर्भक = जो बड़ा न हो। वे जैसे अपने आसनों पर शोभती हैं वैसे ही भूरे घोड़े रास्तों में शोभते हैं। यह दो भूरे घोड़ों का सम्मिलित वर्णन है।

एवं च मेऽदादिदं च मेऽदादिति ऋषिः प्रसंख्याय आह–'सुवास्त्वा अधि तुग्वनि'। सुवास्तुः नदी। तुग्व (२०) तीर्थं भवति। तूर्णमेतदायान्ति। 'कुविन्नंसन्ते (२१) मरुतः पुनर्नः' पुनः नः नमन्ते मरुतः। नसन्त (२२) इति उपरिष्टाद् (निरु० ७।१७) व्याख्यास्यामः। 'ये ते मदा आहनसो (२३) विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्'। ये ते मदाः आहननवन्तः वचनवन्तः तैः इन्द्रं चोदय दानाय मघम्॥ १५॥

'मुझे यह दिया, मुझे यह दिया'—इस प्रकार की गणना करके ऋषि ने कहा*—'सुवास्तु-नदी के तट पर....' (ऋ० ८।१९।३७)। सुवास्तु एक नदी है। 'तुग्व' तट को कहते हैं क्योंकि लोग इसके पास शीघ्र आते हैं (दान करने के लिए—दुर्ग)।

'मरुद्गण सम्भवतः हमारे लिए फिर झुकें' (ऋ० ७।५८।५) = हमारे लिए मरुद्गण फिर झुकते हैं। 'नसन्त' की व्याख्या बाद में (७।१७) में करेंगे।

'जो तुम्हारे पास आनन्दप्रद, मोहक (आहनस = पीसने योग्य) और महान् (सोम) है उससे इन्द्र को धन देने के लिए प्रेरित करो' (ऋ० ९।७५।५)। तुम्हारे पास जो मादक, आहनन से युक्त = ठगने वाले (मोहक) [सोम हैं] उनसे इन्द्र को धन देने के लिए प्रेरित करो॥ १५॥

उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि।
अद्मसन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात्पुनरेयुषीणाम्॥

[उषा] (शुन्ध्युवः) शुद्ध करने वाले आदित्य के (वक्षः न) वक्षःस्थल के समान (उप उ अदर्शि) दिखलाई पड़ी। (नोधा) गायक (इव) के समान उसने (प्रियाणि) प्रिय वस्तुएँ (आविः अकृत) दिखायी हैं। (अद्मसत् न) अन्न बाँटनेवाली स्त्री के समान (ससतः) सोये हुए लोगों को (बोधयन्ती) जगाती हुई (पुनः) फिर (एयुषीणाम्) आनेवाली सभी देवियों में (शश्वत्तमा) सबसे अधिक नियम का पालन करनेवाली (आगात्) आयी है। (ऋ० १।१२४।४)।

उपादर्शि। शुन्ध्युवः। शुन्ध्युः आदित्यो भवति। शोधनात्। तस्यैव वक्षः भासः। अध्यूढम्। इदमपि इतरद् वक्षः एतस्मा-

---

*गणनावाली ऋचा यों है (दुर्ग)—अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः। (ऋ० ८।१९।३६)

देव। अध्यूढं काये। शकुनिः अपि शुन्ध्युः उच्यते, शोधनादेव। उदकचरो भवति। आपोऽपि शुन्ध्यवः उच्यन्ते। शोधनादेव। नोधाः ऋषिः भवति। नवनं दधाति। स यथा स्तुत्या कामानाविष्कुरुते, एवमुषा रूपाण्याविष्कुरुते। अघ्नसद् (२४)—अघ्न अन्नं भवति। अघ्नसादिनी इति वा, अघ्नसानिनी इति वा। 'ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्।' स्वपतो बोधयन्ती शाश्वतिकतमा आगात् पुनः आगामिनीनाम्॥

दिखलायी पड़ी। पवित्र करने वाले के। शुन्ध्यु = आदित्य, शुद्ध करने से। उसी के वक्षःस्थल अर्थात् ज्योति के समान। जो (ज्योति) काफी बढ़ी हुई है। यह दूसरे अर्थवाला (छाती) वक्ष भी इसी से बना है। जो शरीर में निकला हुआ है। (√वह्)। पक्षी को भी शुन्ध्यु कहते हैं, शुद्ध करने से। यह जल में चलता है (अर्थात् बहुत शुद्ध रहता है—दुर्ग) जल को भी शुन्ध्यु कहते हैं, शुद्ध करने से ही। 'नोधा' ऋषि को कहते हैं क्योंकि स्तुति धारण करता (बनाता) है। जैसे स्तुति के द्वारा वह अपनी इच्छाओं का प्रदर्शन करता है, उसी तरह उषा अपने रूप का आविष्कार करती है। अघ्नसद् = 'अघ्न' अन्न को कहते हैं, जो अन्न पर बैठे या अन्न प्राप्त करे (माता या स्त्री)। सोये हुए लोगों को जगाती हुई फिर आनेवाली सभी देवियों में सर्वाधिक नियम का पालन करनेवाली (उषा) आयी है।

विशेष—अघ्नसद् = अन्न बाँटनेवाली माता। जैसे प्रातःकाल माता अपने पुत्रों को दूध, अन्न आदि देने के लिए जगाती है वैसे ही उषा भी जगाती हुई आती है। अन्तिम में 'ससतो॰' इत्यादि मूल ऋचा का उद्धरण देकर यास्क ने उसके शब्दों के प्रतिशब्द दिये हैं। मैंने दोनों का अलग-अलग अनुवाद निरर्थक समझकर छोड़ दिया है।

'ते वाशीमन्त इष्मिणः (२५)'। ईषणिनः इति वा। एषणिनः इति वा। आर्षणिनः इति वा। 'वाशी' इति वाङ् नाम (निघ० १।११।११) वाश्यते इति सत्याः।

'वे लोग बुद्धि से युक्त और इच्छाओं से युक्त हैं' (ऋ० १।८७।६)। शक्तिमान्, या इच्छा से युक्त, या सबों का साक्षात्कार करनेवाले। वाशी = वाणी क्योंकि इसे बोला जाता है। (वाश् = चिल्लाना; तुलनीय—'बिभ्यस्यन्तो ववाशिरे'—नि० १।१०)।

'शंसावाध्वर्यो प्रति मे गृणीहीन्द्राय वाहः (२६) कृणवाव जुष्टम् ।' अभिवहनस्तुतिम् । अभिषवणप्रवादां स्तुतिं मन्यन्ते । ऐन्द्री त्वेव शस्यते । परितक्म्या (२७) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (निरु० ११।२५) ॥ १६ ॥

हे अध्वर्यो ! (मे प्रति गृणीहि) मेरे सामने गीत गाओ, हम दोनों उसकी प्रशंसा करें (शंसाव), इन्द्र के लिए प्रिय स्तुति (वाहः) की रचना करें (ऋ० ३।५३।३)। कुछ लोग इसे आवाहन की स्तुति मानते हैं, दूसरे इसे सोम पीसने का वर्णन समझते हैं। तथापि यह इन्द्र की स्तुति के रूप में है। 'परितक्म्या' की व्याख्या बाद में होगी ॥ १६ ॥

विशेष—अभिवहन = बुलाकर ले आना स्तोत्र ही देवताओं को लाता है। अभिषवण प्रवाद = सोम पीसने के विषय में।

तृतीय-पाद

सुविते (२८) । सु इते । सूते । सुगते प्रजायामिति । वा । 'सुविते मा धाः' इत्यपि निगमो भवति । दयतिः (२९) अनेककर्मा । 'नवेन पूर्वं दयमानाः स्याम'—इत्युपदयाकर्मा । 'य एक इद्विदयते वसु' इति दानकर्मा वा विभागकर्मा वा । 'दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि'—इति दहतिकर्मा । दुर्वर्तुः = दुर्वारः । 'विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्'—इति हिंसाकर्मा ॥

सुविते = सु + इते, या सूते अर्थात् सुन्दर ढङ्ग से जाना, या उत्पन्न करना। 'सुन्दर स्थान में मुझे धारण करो' (मैत्रा० सं० १।२।७, तै० सं० १।२।१०।२)—यह भी वैदिक उद्धरण है। 'दयति' के अनेक अर्थ हैं।* 'नये से हम प्राचीन की रक्षा करते रहें'—(मैत्रा० सं० ४।१३।७) यहाँ रक्षा के अर्थ में। 'अकेले ही जो धन का वितरण करता है' (ऋ० १।८४।७)—यहाँ दान या विभाजन के अर्थ में। 'वह अवारणीय तथा भयङ्कर बनकर वनों को जलाता है' (ऋ० ६।६।५)—यहाँ जलाने के अर्थ में। दुर्वर्तु = जिसका वारण करना कठिन है। 'धन को जाननेवाला अपने शत्रुओं का नाश करते हुए....' (ऋ० ३।३४।१)—यहाँ हिंसा के अर्थ में ॥

---

*जैसे सुविते शब्द में भिन्न धातुओं से शब्द का खण्ड करके अनेक अर्थ किये गये हैं, उस प्रकार दयति में नहीं। यह धातु ही अनेकार्थक है। 'एकप्रकृतिरेवायं शब्दोऽनेकार्थो भवतीत्येतस्य विशेषस्योपद्योतनार्थमुदाहरति'—दुर्ग।

इमे सुता इन्दवः प्रातरित्वना सजोषसा पिबतमश्विना तान्।
अयं हि वामूतये वन्दनाय मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् ॥

प्रातःकाल में आनेवाले तथा समान बल (जोश) वाले, हे अश्विन्-युगल ! ये सोम पीसे गये हैं, इन्हें पी लें। यह आप दोनों की रक्षा और वन्दना करने के लिए है, प्रातःकाल (दोषा) में उड़नेवाले (दयमानः) कौए ने मुझे जगा दिया है। (खिल० १।२।२१)।

विशेष—इस ऋचा का स्थान नहीं मिल सका है किन्तु यह भी स्वर के चिह्नों के साथ पाया गया है जैसे ऋग्वेद के अन्य उद्धरण। सम्भव है कि ऋग्वेद की लुप्त वाष्कल शाखा में यह हो।

दयमानः इति ॥ नूचित् (३०) इति निपातः पुराणनवयोः। नू च (३१) इति। 'अद्या चिन्नू चित्तदपो नदीनाम्'। अद्य च पुरा च तदेव कर्म नदीनाम्। 'नू च पुरा च सदनं रयीणाम्'–अद्य च पुरा च सदनं रयीणाम्। रयिः इति धननाम। रातेः दान-कर्मणः ॥ १७ ॥

दयमान=(उड़ते हुए) ॥ 'नू चित्' निपात है तथा पुराने और नये के अर्थों में आता है। 'नू च' भी वैसा ही है। 'आज और पहले भी नदियों का वही कर्म (अपः) हैं' (ऋ० ६।३०।३)–(नू=पहले)। 'धनों का आधुनिक और प्राचीन निवासस्थान' (ऋ० १।९६।७)—(नू=आज)। रयि=धन, √रा=देना, से ॥ १७ ॥

'विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य (३२) दावने' (३३)—विद्याम तस्य ते वयम् अकुपरणस्य दानस्य।

हम तुम्हारे उस असीम दान को जानें (ऋ० ५।३९।२, सा० २।५२३)। अकूपारस्य=जिसका पारावार न हो। दावने=दान। विद्याम=पायें।

आदित्योऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = दूर-पारः। समुद्रोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारो भवति = महा-पारः। कच्छपोऽपि अकूपार उच्यते, अकूपारः = न कूपमृच्छति इति। कच्छपः = कच्छं पाति। कच्छेन पाति इति वा। कच्छेन पिबति इति वा। कच्छः = खच्छः, खच्छदः। अयमपीतरो नदीकच्छः एतस्मादेव। कम् = उदकम्। तेन छाद्यते ॥

सूर्य को भी अकूपार कहते हैं, वह अकुत्सित (सुन्दर) [मार्ग को] पार करता है (वह असीम है, उसे पार करना कठिन है ।) समुद्र को भी अकूपार कहते हैं, वह असीम है, उसकी सीमा (पार) विशाल है । कछूआ भी अकूपार (अ-कूप-अर) कहलाता है, अकूपार = कुएँ में नहीं चलता (जलाभाव से—दुर्ग) कच्छप = अपने मुँह की रक्षा करता है, अथवा अपनी पीठ के द्वारा (= उसमें मुँह घुसाकर) रक्षा करता है, या मुँह से पीता है (√पा) । कच्छ (कछुए का मुँह या पीठ) = खच्छ अर्थात् जो आकाश (स्थान) को ढँके (ख + √छद्) । कच्छ का यह दूसरा 'नदी तट' वाला अर्थ भी इसी से आया है । क = जल, उससे घिरा है (√छद्) ॥

'शिशी॑ते (३४) शृङ्गे॒ रक्ष॑से वि॒निक्षे॑' = निश्यति शृङ्गे रक्षसो विनिक्षयणाय । रक्षः = रक्षितव्यम् अस्मात् । रहसि क्षणोति इति वा । रात्रौ नक्षते इति वा । 'अ॒ग्निः सु॒तुकः॑ (३५) सु॒तुके॑भि॒-रश्वैः॑' । सुतुकनः सुतुकनैः इति वा । सुप्रजाः सुप्रजोभिः इति वा । 'सु॒प्रा॒य॒णा (३६) अ॒स्मिन्य॒ज्ञे विश्र॑यन्ताम्' । सुप्रगमनाः ॥ १८ ॥

राक्षसों के विनाश के लिए अपनी दोनों सींगों को तेज करते हैं' (ऋ० ५।२।९)—शिशीते = निश्यति = तेज करते हैं, पजाते हैं । शृंगों को, राक्षसों के विनिक्षय के लिए (विनिक्षे) । रक्षः—जिससे अपनी रक्षा करनी चाहिए, या जो एकान्त में (रहस्) आक्रमण करे (√क्षण्), या जो रात में पहुँचे (√नक्ष्) ।

'बलवान् अग्नि बलवान् अश्वों के द्वारा···' (ऋ० १०।३।९) = तेज (अग्नि) तेज (घोड़ों) के द्वारा, या सुन्दर सन्तान (स्वर्ण)* वाले (अग्नि) सुन्दर कुल में उत्पन्न (घोड़ों) के साथ ।

'तेज चलने वाले (लोग) इस यज्ञ में विश्राम करें' (वा० सं० २८।५) सुन्दर (या तेज) गति वाले ॥ १८ ॥

दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद्वृ॒धे अस॒न्नप्रा॑युवो (३७) रक्षि॒तारो॑ दि॒वे-दि॑वे ।

(यथा) जिससे (नः) हमारे लिए (देवाः) देवता लोग (सदम् इत्) सदा ही (दिवेदिवे) प्रतिदिन (अप्रायुवः) बिना प्रमाद किये हुए तथा (रक्षितारः) रक्षा करते हुए (वृधे) वृद्धि करने में (असन्) लग जायें—लेट् लकार (ऋ० १।८९।१) ॥

*अग्नि की सन्तान स्वर्ण है—तुल० हिरण्यरेता अग्निः, अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम् ।

देवाः नः यथा सदा वर्धनाय स्युः । अप्रायुवः = अप्रमाद्यन्तः, रक्षितारश्च अहनि अहनि ।

जिससे देवगण हमारी निरन्तर वृद्धि करें । अप्रायुवः = बिना भूल-चूक किये हुए, वे प्रतिदिन रक्षा करें ।

च्यवनः (३८) ऋषिः भवति, च्यावयिता स्तोमानाम् । 'च्यवानम्' इति अपि अस्य निगमाः भवन्ति—

'युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः ।'

युवां च्यवानं, सनयं = पुराणं, यथा रथं पुनः युवानं चरणाय ततक्षथुः । युवा=प्रयौति कर्माणि । तक्षतिः करोतिकर्मा ॥

च्यवन एक ऋषि का नाम है जो स्तोत्रों का संग्रह करने वाले हैं । 'च्यवान' के रूप में भी इस शब्द के वैदिक प्रयोग हैं—'आप दोनों ने वृद्ध च्यवान को फिर युवक बना दिया है, रथ की तरह उन्हें चलने लायक कर दिया है' (ऋ० १०।३९।४) । सनयं = पुराने । पुराने रथ की मरम्मत करके जिस प्रकार चलने योग्य बनाते हैं, उसी प्रकार आप दोनों (अश्विनों) ने च्यवन को पुनः युवक बना कर चलने के योग्य कर दिया है । युवा = जो कार्यों का मिश्रण (सम्पादन, √यु) करता है । √तक्ष् = करना ।

रजः (३९) रजतेः । ज्योतिः रजः उच्यते । उदकं रजः उच्यते । लोकाः रजांसि उच्यन्ते । असृगहनी रजसी उच्येते । (रजांसि चित्रा वि चरन्ति तन्यवः—इत्यपि निगमो भवति) ।

हरः (४०) हरतेः । ज्योतिः हरः उच्यते । उदकं हरः उच्यते । लोका हरांसि उच्यन्ते । (असृगहनी हरसी उच्येते । 'प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि'—इत्यपि निगमो भवति ।)

रजस् √रञ्ज् (रँगना) से । प्रकाश को रज कहते हैं, जल को रजस् कहते हैं, सभी लोकों को रज कहते हैं । रक्त तथा दिन को भी रज कहते हैं । [रंग-बिरंगे और गरजने वाले लोक विभिन्न दिशाओं में जाते हैं (ऋ० ५।६३।३)—यह वैदिक उद्धरण है ।] हर √हृ (ले लेना) से । प्रकाश को हर कहते हैं, जल को हर कहते हैं, लोकों को हर कहते हैं । [रक्त तथा दिन को भी हर कहते हैं । 'हे अग्ने, इस प्रकाश को अपने प्रकाश से मिला दो' (ऋ० १०।८७।२५)—यह भी वैदिक उद्धरण है ।]

'जुहुरे (४१) वि चितयन्तः' = जुह्विरे विचेतयमानाः । व्यन्तः

(४२) इत्येषः अनेककर्मा । 'पदं देवस्य नमसा व्यन्तः'—इति पश्यतिकर्मा । 'वीहि शूर पुरोळाशम्'—इति खादतिकर्मा । 'वीतं पातं पयस उस्रियायाः'—अश्नीतं पिबतं पयसः उस्रियायाः । उस्रिया इति गोनाम । उस्राविण्यः अस्यां भोगाः । (उस्रा इति च) ॥

'ज्ञानियों ने यज्ञ किया' (ऋ० ५।१९।२) अर्थात् यथार्थ ज्ञानवालों ने यज्ञ किया । 'व्यन्तः (√वी)' के अनेक अर्थ हैं । 'देवता के चरण को नमस्कार के द्वारा देखते हुए···' (ऋ० ६।१।४)—यहाँ देखने के अर्थ में । 'हे वीर, इस दिये हुए पदार्थ (पुरोडाश) को स्वीकार करो' (ऋ० ३।४१।३)—यहाँ खाने के अर्थ में । 'गाय का दूध खाओ, पीओ' (ऋ० १।१५३।४)– (वहीअर्थ) उस्रिया = गाय क्योंकि इससे भोग्य पदार्थ निकलते हैं । (उस्रा का भी वही अर्थ है) ॥

'त्वामिन्द्र मतिभिः सुते सुनीथासो वसूयवः । गोभिः क्राणा (४३) अनूषत ॥' गोभिः कुर्वाणाः अस्तोषत ।

हे इन्द्र, बुद्धि के साथ सोम पीसने के बाद सुन्दर स्तुति करने वाले (सुनीथाः) और धन के इच्छुक (वसूयवः) लोगों ने वाणी से तुम्हारी स्तुति की है । वाणी का [प्रयोग] करते हुए स्तुति की ॥

'आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः ।' आसिञ्च हरिं द्रोः उपस्थे । द्रुममयस्य । हरिः सोमो हरितवर्णः । अयमपीतरो हरिः एतस्मादेव । 'वाशीभिस्तक्षताश्मन्मयीभिः' । वाशीभिः (४४) अश्ममयीभिः इति वा । वाग्भिः इति वा ॥

'सोम को काष्ठपात्र के मध्य में गिराओ, इसे पत्थर की सिल पर तैयार करो' (१०।१०१।१०) । सुनहले रस (सोम) को लकड़ियों की गोद में चुआओ । जो लकड़ी का बना हो । हरि = सोम, हरे रंग का । हरि का यह दूसरा अर्थ (बन्दर) भी इसी से आया है ।* 'पत्थर की सिल पर (या छेनी से) इसे तैयार करो (काटो)'—पत्थर की सिल से, या स्तुतियों से ।

'स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं

---

*सुनहला रंग होने के कारण बन्दर को हरि कहते हैं । दुर्गाचार्य ने रामायण के नाम से एक उद्धरण दिया है—शिरीषकुसुमप्रख्याः केचित्पिङ्गलकप्रभाः ।

नः ॥' स उत्सहतां यो विषुणस्य जन्तोः=विषमस्य । मा शिश्नदेवाः । अब्रह्मचर्याः । शिश्नं श्नथतेः । अपि गुरृतं नः । सत्यं वा यज्ञं वा ॥ १९ ॥

'वही स्वामी सभी जीवों की रक्षा करे, लिङ्ग की पूजा करने वाले हमारे यज्ञ में न आवें' (ऋ० ७।२१।५) वह विभिन्न अर्थात् दुष्ट (विषम) जीवों पर शासन करे। लिङ्ग को देवता समझने वाले, अनाचारी—शिश्न √श्नथ् (छेदना) से—लोग हमारे ऋत अर्थात् सत्य या यज्ञ में प्रवेश न करें ॥ १९ ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

(घ) निश्चय ही (ता) वे (उत्तरा) आगामी (युगानि) युग (आगच्छान्) आएँगे (यत्र) जब (जामयः) स्वजन भी (अजामि) परजन या अज्ञात—जैसा (कृणवन्) व्यवहार करेंगे। (सुभगे) हे सुन्दरि, (बाहुम्) अपनी बाँहों को (वृषभाय) अपने पति के लिए (उप बर्बृहि = उपधेहि) तकिया बना दो और (मत्) मुझे छोड़कर (अन्यम्) दूसरे (पतिम्) पति की (इच्छस्व) इच्छा करो। (ऋ० १०।१०।१०) ॥

विशेष—ऋग्वेद के प्रसिद्ध यम-यमी-संवाद-सूक्त का यह मंत्र है। यमी ने यम से रति की याचना की, तो यम ने अस्वीकार करते हुए कहा कि यह युग ऐसा नहीं, यह तो सत्ययुग है। एक युग आएगा जब भाई-बहन विवाह कर लेंगे। इस लिए, हे सुन्दरि, मुझे पति मत बनाओ। मैं तुम्हारे कुल का ही हूँ। दूसरे कुल का पति चुनो। ऋग्वेद की सामाजिक-व्यवस्था पर इस मंत्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है। विदेशी-विद्वान् इस सूक्त को नाटक का आदि-रूप मानते हैं।

आगमिष्यन्ति तानि उत्तराणि युगानि यत्र जामयः करिष्यन्ति अजामिकर्माणि। जामि अतिरेकनाम। बालिशस्य वा। असमानजातीयस्य वा। मिः उपजनः। उपधेहि वृषभाय बाहुम्। अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्-इति व्याख्यातम् ॥ २० ॥

बादवाले ऐसे युग आवेंगे जब बहनें बहनों के न करने योग्य काम करेंगी। जामि = पुनरुक्ति, या मूर्ख, या दूसरी जाति। 'मि' प्रत्यय है। उस पति के लिए बाँहों को तकिया बनाओ। मेरे अलावे किसी दूसरे को पति बनाओ—यह स्पष्ट है ॥ २० ॥

विशेष—बालिश = मूर्ख जो धर्मादि कार्यों में बालकों के समान सोया रहता है। असमान = किसी की बहन दूसरे व्यक्ति के लिए परजाति की ही होती है।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥

(द्यौः) स्वर्गलोक (मे) मेरा (पिता, जनिता) पिता अर्थात् उत्पन्न करने वाला है, (अत्र) यहाँ पर (नाभिः बन्धुः) नाभि या गर्भ सम्बन्धी बन्धु लोग हैं, (इयं) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथ्वी (मे) मेरी (माता) माँ है । (उत्तानयोः) फैले हुए दोनों (चम्वोः) कटोरों अर्थात् गोलार्द्धों के (अन्तः) बीच में (योनिः) गर्भाशय है; (अत्र) यहाँ (पिता) पिता ने (दुहितुः) पुत्री को (गर्भम्) गर्भ (आधात्) धारण कराया । (ऋ० १।१६४।३३) ।

द्यौः मे पिता (४७) = पाता वा, पालयिता वा । जनयिता । नाभिः अत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महती इयम् । बन्धुः सम्बन्धनात् । नाभिः सन्नहनात् । नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते–इत्याहुः । एतस्मादेव ज्ञातीन् सनाभयः इति आचक्षते, सबन्धवः इति च । ज्ञातिः संज्ञानात् । 'उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः'–उत्तानः=उत्ततानः, ऊर्ध्वंतानो वा । तत्र पिता दुहितुः गर्भं दधाति=पर्जन्यः पृथिव्याः ॥

स्वर्ग मेरा पिता अर्थात् रक्षक (√पा) या पालक है, वही उत्पन्न करने वाला है । यहाँ गर्भ से सम्बन्ध रखनेवाले (नाभि) बन्धु लोग हैं, यह बड़ी पृथ्वी मेरी माँ है; 'बन्धु' एक साथ बँधे होने के कारण और 'नाभि' एक बन्धन में होने के कारण (√नह्) । कहा गया है कि गर्भ [में रहने वाले बच्चे] नाभि (नाल) से बँधे हुए उत्पन्न होते हैं । इसी से निकट के सम्बन्धियों को सनाभि (समान नाभि या बन्धनवाले) अथवा सबन्धु कहते हैं । ज्ञाति = अच्छी तरह जानने के कारण । गर्भाशय दोनों फैले हुए कटोरों (गोलार्द्धों) के बीच में है । उत्तान = चारों ओर फैला हुआ, ऊपर तक फैला हुआ । वहाँ पिता पुत्री को गर्भ देता है अर्थात् मेघ पृथ्वी को [गर्भ देता है] ॥

[शंयुः (४८) सुखंयुः] 'अथा नः शं योररपो दधात' । रपो रिप्रम् इति पापनामनी भवतः । शमनं च रोगाणां, यावनं च भयानाम् । अथापि शंयुः बार्हस्पत्यः उच्यते । 'तच्छंयोरावृणीमहे गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये'—इत्यपि निगमो भवति । गमनं यज्ञाय गमनं यज्ञपतये ॥ २१ ॥

[शान्ति का इच्छुक या सुख का इच्छुक ।] 'अब हम लोगों को पाप-रहित शान्ति और सुख प्रदान कीजिये' (ऋ० १०।१५।४) । 'रपस्' और 'रिप्र'

दोनों पाप के पर्याय हैं। (शंयुः =) रोगों को शान्त करनेवाला (√शम्) और भय से बचानेवाला (√यु)। बृहस्पति के वंशज को भी शंयु कहते हैं—'यज्ञ में जाने के लिए, यज्ञपति के पास जाने के लिए हम शंयु की प्रार्थना करते हैं' (मैत्रा० ४।१३।१०, तै० सं० ७।६।१०।२, श० ब्रा० १।९।१।२६)—यह वैदिक-प्रयोग है। यज्ञ में जाना, यज्ञपति के पास जाना ॥ २१ ॥

चतुर्थ-पाद

अदितिः (४९) अदीना । देवमाता ॥ २२ ॥

अदिति = जो दीन न हो, देवताओं की माता ॥ २२ ॥

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥

अदिति स्वर्ग है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है, वह पिता है, वह पुत्र है। सारे देवता तथा पाँच जन (जातियाँ) भी अदिति है। सभी उत्पन्न पदार्थ अदिति है तथा होनेवाले (भावी) पदार्थ भी अदिति है। (ऋ० १।८९।१०, वा० सं० २५।२३; अथ० ७।६।७)।

इत्यदितेः विभूतिमाचष्टे । एनानि अदीनानि इति वा ॥
'यमेरि॒रे भृग॑वः'—एरिरे (५०) इति ईर्तिं उपसृष्टः अभ्यस्तः ॥२३॥

इस प्रकार अदिति की महिमा का कथन है, अथवा ये सभी वस्तुयें अ-दीन (समृद्ध) हैं। 'जिसे भृगुवंशियों ने उठाया' (ऋ० १।१४३।४)। 'एरिरे' शब्द में √ईर् (उठाना) का अभ्यास (द्वित्व) तथा ['आ'] उपसर्ग लगा है।

विशेष—'एरिरे' में दो रकार अभ्यास से नहीं आये हैं। लिट् लकार में 'झ' (आत्मनेपद अन्यपुरुष बहुवचन की विभक्ति) के स्थान में 'इरे' आदेश हो जाता है। देखिये पा० सू० 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) ॥

उ॒त स्मै॑नं वस्त्र॒मथिं॒ न ता॒युमनु॑ क्रोशन्ति क्षि॒तयो॒ भरे॑षु ।
नी॒चाय॑मानं॒ जसु॑रिं॒ न श्ये॒नं श्रव॒श्चाच्छा॑ पशु॒मच्च॑ यू॒थम् ॥

(उत स्म) और और (एनम्) इस इन्द्र को (क्षितयः) मनुष्य लोग (भरेषु) युद्धों में (अनुक्रोशन्ति) पुकारते हैं (वस्त्रमथिं तायुं न) जैसे वस्त्र चुराने वाले चोर को [पुकारते हैं], या (नीचायमानं) नीचे आते हुए और (जसुरिं) खुले हुए (श्येनं न) बाज को जैसे [पुकारते हैं], (अच्छा च) अथवा (पशुमत्) पशुयुक्त (श्रवः) प्रशंसनीय (यूथम्) झुण्ड को [पुकारते हैं]। (ऋ० ४।३८।५)॥

अपि स्म एनं वस्त्रमथिमिव = वस्त्रमाथिनम् । वस्त्रं वस्तेः । तायुः इति स्तेननाम । संस्त्यानम् अस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः । तस्यतेः वा स्यात् । अनुक्रोशन्ति क्षितयः संग्रामेषु । भरः इति संग्रामनाम । भरतेः वा, हरतेः वा । नीचायमानम् = नीचैः अयमानम् । नीचैः=निचितं भवति । उच्चैः=उच्चितं भवति । जस्तमिव श्येनम् । श्येनः शंसनीयं गच्छति । 'अवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्' । अवश्च अपि पशुमच्च यूथम् । प्रशंसां च यूथं च । धनं च यूथं च इति वा । यूथं यौतेः, समायुतं भवति ॥

और उसे वस्त्रमथि अर्थात् कपड़े चुराने वाले के समान । वस्त्र √वस् (पहरना) से । 'तायु' चोर का पर्याय है क्योंकि इसमें पाप भरे हुए रहते हैं—ऐसा निरुक्तकारों का कहना है । अथवा √तस् (नाश करना) से बना हो । मनुष्य लोग युद्धों में उसे पुकारते हैं । 'भर' युद्ध का पर्याय है । √भृ (धारण करना) या √हृ (हरण करना) से । नीचायमान = नीचे की ओर जाते हुए । नीचैः = नीचे की ओर जाना । उच्चैः = ऊपर की ओर जाना । छूटे हुए (जस्त) बाज-सा ।[1] श्येन = जो प्रशंसनीय ढंग से चले । अथवा पशुयुक्त प्रशंसनीय झुण्ड को [पुकारते हैं] । प्रशंसनीय पशु-समूह को । प्रशंसा तथा समूह को । या धन तथा समूह को । यूथ √यु (जोड़ना) से क्योंकि यह संयुक्त (सन्धिबद्ध) होता है ॥

'इन्धान एनं जरते स्वाधीः'=गृणाति । मन्दी (५३) मन्दतेः स्तुतिकर्मणः । 'प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः' = प्रार्चत मन्दिने पितुमद् वचः । गौः (५४) व्याख्यातः ॥ २४ ॥

'प्रज्वलित करते हुए, सुन्दर बुद्धि वाला मनुष्य उसकी स्तुति करता है' (ऋ० १०।४५।१) = प्रशंसा करता है । मन्दी (प्रशंस्य) = स्तुत्यर्थक √मन्द से । 'प्रशंसनीय (इन्द्र) की अन्नयुक्त वाणी से स्तुति करो' (ऋ० १।१०१।१) । [वही अर्थ ।] गो की व्याख्या हो चुकी है ॥ २४ ॥

---

१. दुर्ग के अनुसार जस्त का अर्थ है 'बद्धम्' अर्थात् बँध जाने पर बाज उड़ नहीं सकता और नीचे आकर आखेट करता है । किन्तु यह असंगत अर्थ है क्योंकि बँधा हुआ बाज किस प्रकार आखेट कर सकता है ? इसका अर्थ 'मुक्त' होगा—डा० सरूप ।

'अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥' अत्र ह गोः सममंसत आदित्यरश्मयः स्वं नाम अपीच्यम् अपगतम् । अपचितम्-अपिहितम्-अन्तर्हितम् । अमुत्र चन्द्रमसो गृहे ॥

'सचमुच इस स्थान पर [लोगों ने] किरणों को (गोः) सूर्य से पृथक् (अपीच्यम्) ही समझा है; यहाँ पर चन्द्रमा के घर में' (ऋ० १।८४।१५) ॥ इस स्थान पर सचमुच गो अर्थात् सूर्यकिरणों को अपने रूप में पृथक् या असम्बद्ध समझे । हटाया हुआ, अलग या छिपा हुआ । वहाँ चन्द्रमा के घर में ॥

गातुः (५५) व्याख्यातः (४।२१) ['गातुं कृणवन्नुषसो जनाय'—इत्यपि निगमो भवति] ॥ दंसयः (५६) कर्माणि । दंसयन्ति एनानि । 'कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः' इत्यपि निगमो भवति ॥ 'स तूताव (५७) नैनमश्नोत्यंहतिः' । स तुताव । नैनम् अंहतिः अश्नोति । अंहतिः च, अंहः च, अंहुः च हन्ते निरूढोपधात् विपरीतात् ॥

'गातु' की व्याख्या हो चुकी है (निरुक्त ४।२१) । ['उषाओं ने मनुष्य में गति (उत्पन्न) कर दी' (ऋ० ४।५१।१)—यह भी वैदिक-प्रयोग है ।] दंसयः = कार्य, क्योंकि लोग इन्हें समाप्त करते हैं (√दंस्) । 'किसान के लिए कामों को (कृषि कर्म को), [सफल] समझते हुए मेघ में निवास करने वाले (अह्यः) [जल को तुमने छोड़ा]' (ऋ० १०।१३८।१)—यह भी वैदिक उद्धरण है । 'वह बढ़ता है, उसके पास पाप नहीं पहुँचता (व्याप्त करता)'—(ऋ० १।९४।२) । वह बढ़ता है । उसके पास पाप नहीं पहुँचता है । अंहति, अंह और अंहु शब्द √हन् से बने हैं जिसमें उपधा को (हन् के अ को) निकाल कर [हन् वर्णों का] विपर्यय कर दिया जाता है (= हन् > अह्न् > अन्ह् > अम्ह् = अंह्) ॥

विशेष—तूताव = तुताव √तु (बढ़ना) । देखिये—'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) । निरूढोपध = जिसकी उपधा निकल चुकी हो । 'अकारमुपधातो निकृष्य आदौ कृत्वा, ततो हकारनकारौ विपर्ययेण भवतः'—दुर्ग ।

'बृहस्पते चयसे (५८) इत्पियारुम्'—बृहस्पते यत् चातयसि देवपीयुम् । पीयतिः हिंसाकर्मा ॥ वियुते (५९) द्यावापृथिव्यौ । वियवनात् । 'समान्या वियुते (५९) दूरे अन्ते' । समानं संमानमात्रं भवति । मात्रा मानाद् । दूरं व्याख्यातम् (३।१९) । अन्तः

अततेः ॥ ऋधक् (६०) इति पृथग्भावस्य प्रवचनं भवति । अथापि ऋध्नोत्यर्थे दृश्यते—'ऋधगया 'ऋधगुताशमिष्ठाः' ऋध्नुवन् अयाक्षीः ऋध्नुवन् अशमिष्ठाः इति च ॥

'हे बृहस्पते ! आप हिंसक का विनाश करते हैं' (ऋ० १।१९०।५)= हे बृहस्पते, जब आप देवताओं के हिंसक (यज्ञ न करनेवाले, स्वभोग प्रधान व्यक्ति) को मारते हैं। √पीय्=मारना। वियुते=द्यावापृथिवी क्योंकि एक दूसरे से पृथक् हैं। 'एक ही तरह से स्वर्ग और पृथिवी दूर पर समाप्त होते हैं' (ऋ० ३।५४।७)। समान=जिसकी नाप (मात्रा) एक समान हो। मात्रा=जो नापी जाय। 'दूर' की व्याख्या हो चुकी है (निरुक्त ३।१९)। अन्तः√अत् (चलना) से ॥ 'ऋधक्' भिन्नता दिखलाने के अर्थ में होता है।[1] वृद्धि के अर्थ में भी इसका प्रयोग देखा जाता है—'समृद्ध होकर तुमने यज्ञ किया (अयाः) और समृद्ध होकर [यज्ञ की] शान्ति की' (वा० सं० ८।२०, कपि० सं० ३।१०)=समृद्ध होते हुए यज्ञ किया; समृद्ध होते हुए ही श्रम किया।

अस्याः (६१) इति च अस्य (६२) इति च उदात्तं प्रथमादेशे, अनुदात्तम् अन्वादेशे। तीव्रार्थतरम् उदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरम् अनुदात्तम् ॥

'अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व [श्रवस्यतामजाश्व]'—अस्यै नः सातये उपभव। अहेळमानः अक्रुध्यन्। ररिवान् रातिः अभ्यस्तः। 'अजाश्व' इति पूषणमाह अजाश्व। अजाः = अजनाः ॥

'अस्याः' और 'अस्य' इन दोनों में, पहली बार कहने के समय, उदात्त-स्वर होता है, दूसरी बार कहने के समय (द्वितीय-प्रयोग) अनुदात्त-स्वर होता है। अधिक बल दिये गये अर्थ में उदात्त तथा कम बल दिये गये अर्थ में अनुदात्त होता है। 'बकरे की सवारी करने वाले [हे पूषन्], इसे पाने के लिए, क्रोध न करते हुए और दान करते हुए हमारे पास आओ' (ऋ० १।१३८।४) [हे अजाश्व, कीर्तिमान् बनो]। इसे पाने के लिए हमारे

---

१. दुर्गाचार्य ने इस अर्थ को दिखलाने के लिए निम्न ऋचा देकर व्याख्या की है—यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग्यद्वा स्वे सदने यत्र वासि।
अतो नो यज्ञमवसे नियुत्वान्त्सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः ॥ (४।४०।५)

पास आओ। अहेडमान = क्रोध न करते हुए। ररिवान् (दयालु) में √रा (देना) का अभ्यास हुआ है। 'अजाश्व' यह पूषा को कहा गया है—बकरे को घोड़ा (वाहन) समझने वाले। बकरे ही उनके दौड़ाहे (√वज्) हैं॥

विशेष—प्रथमादेश = किसी शब्द का पहले-पहल प्रयोग। अन्वादेश = एक बार प्रयोग कर लेने के बाद दूसरी बार का प्रयोग। उपर्युक्त उदाहरण में 'अस्या' का दूसरा वर्ण (Syllable) उदात्त है तथा इसे ऋग्वेद की रीति से 'अस्याः' लिखेंगे। अगले उदाहरण में दोनों वर्ण अनुदात्त होने से 'अस्याः' होगा।

अथ अनुदात्तम्। 'दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्'। दीर्घायुः अस्याः यः पतिः, जीवतु स शरदः शतम्। शरद् = शृता अस्याम् ओषधयो भवन्ति, शीर्णाः आपः इति वा। अस्य इति अस्याः इत्येतेन व्याख्यातम्॥ २५॥

अब अनुदात्त ['अस्याः' का उदाहरण लें]—,उसका पति जो दीर्घायु है, सौ शरद्-ऋतुओं तक जीवित रहे' (ऋ० १०।८५।३९)—वही अर्थ। शरद् = जिसमें पौधे पक जाते हैं या जल बढ़ा रहता है। 'अस्याः' से ही 'अस्य' की भी व्याख्या हो गई॥ २५॥

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

(अस्य) इस (वामस्य) भद्र और (पलितस्य) पालन करनेवाले (होतुः) होता का, (तस्य) उसका (मध्यमः भ्राता) मँझला भाई (अश्नः अस्ति) विद्युत् है; (अस्य) इसके (तृतीयो भ्राता) तीसरे भाई की (घृतपृष्ठः) पीठ घी की बनी है, (अत्र) यहाँ (सप्तपुत्रम्) सात पुत्रों वाले (विश्पतिम्) संसार के स्वामी को (अपश्यम्) मैंने देखा ऋ० १।१६४।१)॥

अस्य वामस्य = वननीयस्य। पलितस्य=पालयितुः। होतुः= ह्वातव्यस्य। तस्य भ्राता मध्यमोऽस्ति अशनः। भ्राता भरतेः हरतिकर्मणः। हरते भागम्। भर्तव्यः भवति इति वा। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठः अस्य अयमग्निः। तत्रापश्यं सर्वस्य पातारं वा पालयितारं वा विश्पतिम्। सप्तपुत्रं = सप्तमपुत्रम्। सर्पणपुत्रम् इति वा। सप्त सृप्ता संख्या। सप्त आदित्यरश्मयः इति वदन्ति॥२६॥

इस वाम अर्थात् सम्माननीय का। पलित अर्थात् पालन करने वाले का। होता अर्थात् पुकारने योग्य (पुरुष) का। विद्युत् उसका मँझला भाई

है। भ्राता √भृ = हरण करना, से। वह [पैतृक-सम्पत्ति का] एक भाग ले लेता है। या भरण-पोषण करने लायक है। इसका तीसरा भाई घी की पीठ वाला है—वह अग्नि है[1]। वहाँ पर मैंने सबों की रक्षा या पालन करनेवाले संसार के स्वामी को देखा है। सात पुत्र वाले = सातवें पुत्र वाले को या सर्वतोगामी पुत्रों वाले। सप्त = बढ़ी हुई (√ सृप्) संख्या। कहते हैं कि सूर्य की सात किरणें हैं॥ २६॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

(एकचक्रं रथम्) एक पहिये वाले रथ को (सप्त) सात [किरणें] (युञ्जन्ति) जोतती हैं; (सप्तनामा) सात नामों वाला (एकः अश्वः) एक घोड़ा (वहति) उसे खींचता है। (चक्रम्) पहिया (त्रिनाभि) तीन नाभियों वाला, (अजरम्) अनश्वर और (अनर्वम्) अप्रतिहत है (यत्र) जहाँ (इमा-नि) ये (विश्वा-नि) सारे (भुवना-नि) संसार (अधि तस्थुः) अधिष्ठित हैं (ऋ० १।१६४।२)॥

सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम् = एकचारिणम्। चक्रं चकतेः वा, चरतेः वा, क्रामतेः वा। एकः अश्वः वहति सप्तनामा = आदित्यः। सप्त अस्मै रश्मयः रसान् अभिसंनामयन्ति। सप्त एनम् ऋषयः स्तुवन्ति इति वा। इदमपीतरत् नाम एतस्मात् एव। अभि-संनामात्॥

सातों एक पहिये वाले रथ को अर्थात् एक (पहिये) पर चलने वाले (रथ) को जोतते हैं। चक्र √चक् (हटाना) से, या √चर् (चलना) से, या √क्रम् (जाना) से। सात नामों वाला एक घोड़ा खींचता है, अर्थात् आदित्य। इसके लिए सात किरणें रसों को ले आती हैं। अथवा सात ऋषि इसकी स्तुति करते हैं। यह दूसरे अर्थ वाला 'नाम' भी इसी से बना है (√नम्) क्योंकि खींचा जाता है॥

विशेष—नाम अभिसंनामात्—नाम (संज्ञा) भी अपने अर्थ का बोध कराने के लिए क्रियापद के मुख्य या गौण अर्थ में लिया जाता है—दुर्ग॥

संवत्सरप्रधानः उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभि चक्रम्। ऋतुः संवत्सरः-ग्रीष्मः, वर्षाः, हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि। ग्रीष्मः = ग्रस्यन्ते अस्मिन् रसाः। वर्षाः = वर्षति आसु पर्जन्यः। हेमन्तः = हिमवान्। हिमं पुनः हन्तेः वा, हिनोतेः वा। अजरम् = अजरणधर्माणम्। अनर्वम् = अप्रत्यृतम् अन्यस्मिन्। यत्र इमानि सर्वाणि भूतानि अभिसन्तिष्ठन्ते, तं संवत्सरं सर्वमात्राभिः स्तौति॥

ऋचा के उत्तरार्ध में संवत्सर की प्रधानता है—तीन नाभियोंवाला पहिया अर्थात् तीन ऋतुओं वाला वर्ष = ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त। संवत्सर = जिसमें सभी जीव एक साथ निवास करते हैं। ग्रीष्म = जिसमें रसों को खींचा जाय। वर्षा =

१. श्रूयते वायव्ये मन्त्रे—वायुः, आदित्यः, अग्निः—इत्येवं परिसंख्याय वायो-स्तृतीयोऽग्निर्भवति—दुर्गः।

जब मेघ बरसे । हेमन्त = हिम से भरा हुआ । हिम भी √हन् (मारना) से या √हि (शीघ्रता करना) से । अजर = जिसका 'न नाश होना' धर्म है अनर्व = दूसरे पर आश्रय न लेने वाला । जहाँ ये सारे जीव ठहरते हैं, उस संवत्सर की सब तरह से स्तुति करता है—॥

'पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने'—इति पञ्चर्तुतया । पञ्चर्तवः संवत्सरस्य इति च ब्राह्मणम् । हेमन्तशिशिरसमासेन । 'षळर आहुरर्पितम्' —इति षड्तुतया । अराः प्रत्यृताः नाभौ । षट् पुनः सहतेः । 'द्वादशारं नहि तज्जराय', 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्'—इति मासानाम् । मासाः मानात् । प्रधिः प्रहितः भवति ।।

'पाँच अराओं (Spokes) वाले पहिये के चल पड़ने पर·····' (ऋ० १।१६४।१३)—यहाँ पाँच ऋतुओं के होने से । ब्राह्मण में भी कहा है—वर्ष में पाँच ऋतुएँ हैं (तुल० ऐ० ब्रा० १।१, श० ब्रा० १।३।५।१)—हेमन्त और शिशिर को एक मानने पर । 'छह अराओं वाले (रथ) में ही अर्पित किया हुआ कहते हैं' (ऋ० १।१६४।१२)—यहाँ छह ऋतुओं के होने से । अराएँ (धुरे) नाभि में अन्तर्भूत हैं । षट् √सह् (सहना) से । 'वह बारह अराओं वाला कभी नष्ट होने को नहीं है' (ऋ० १।१६४।११), 'बारह धुरे और एक पहिया·······' (ऋ० १।१६४।४८)—इनमें मासों का वर्णन है । मास नापने के कारण (√मा) । [महीने वर्ष को नापते हैं] प्रधि (धुरा) यह सुरक्षित होता है ॥

'तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ।' षष्टिः च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्य अहोरात्रा इति च ब्राह्मणम् । समासेन ।।

उसमें एक साथ ही मानों तीन सौ छड़ें (Spokes) और एक दूसरे के पीछे चलनेवाली साठ अधिक (छड़ें) रखी गई हैं' (ऋ० १।१६४।४८) । ब्राह्मण में भी कहा है कि साठ और तीन सौ दिन (३६० दिन) एक वर्ष में होते हैं । [दिन और रात को] एक में लिया जाता है ॥

विशेष—तस्मिन् + साकम् = तस्मिन्त्साकम् । देखिये पा० सू० 'नश्च' (८।३।३०) जिसके अनुसार पदान्त न् के बाद स् होने से धुट् (ध्—त्) का आगम हो जाता है । अंग्रेजी में इसे Glide sound कहते हैं । Cf humle=humble, लैटिन—humilis इत्यादि । यहाँ बीच में b आया है । वेद में चान्द्रवर्ष के ३६० दिनों की गणना का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है ।

'सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः' । 'सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्य अहोरात्रा' इति च ब्राह्मणम् । विभागेन विभागेन ॥ २७ ॥

'सात सौ और बीस हुए थे' (ऋ० १।१६४।११) । ब्राह्मण में भी है (ऐ० २।१७)—'सात-सौ-बीस दिन और रात साल में होते हैं ।' [यहाँ दिन और रात] अलग-अलग लिये गये हैं ॥ २७ ॥

विशेष—अध्याय के अन्त में 'विभागेन' की द्विरुक्ति हुई है ॥ २७ ॥

॥ इति निरुक्ते चतुर्थोऽध्यायः ॥

पञ्चम अध्याय

प्रथम पाद

ॐ 'सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम्' (ऋ० १०।१३९।६)। सस्निं (१) संस्नातं मेघम्। 'वाहिष्ठो (२) वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा' (ऋ० ८।२६।१६)। वोढृतमो ह्वानानां स्तोमो दूतो हुवन्नरौ। नरा मनुष्या नृत्यन्ति कर्मसु। दूतो (३) जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा। ['दूतो देवानामसि मर्त्यानाम्' (ऋ० १०। ४।२) इत्यपि निगमो भवति।]

नदियों के मार्ग (=अन्तरिक्ष लोक) में [इन्द्र ने] मेघ को प्राप्त किया। सस्नि=मेघ क्योंकि प्रक्षालित (सम्यक् स्नात, जलवेष्टित) रहता है। हे पौरुष-पूर्ण या नेतृस्वरूप (अश्विन्-युगल), तुम दोनों की स्तुतियों का सर्वाधिक वाहक (वाहिष्ठः) यह स्तोम दूत के समान तुम्हें आहूत करे (हुवत्)। हे नेतृस्वरूप-युगल (नरौ), आह्वानों का श्रेष्ठ वाहक स्तोम दूतवत् आह्वान करे। 'नर' मनुष्यों का भी वाचक है, क्योंकि वे काम करने के समय अङ्गसंचालन करते हैं (गात्राणि पुनः पुनः प्रक्षिपन्ति—दुर्ग। अतः √नृत् से नृ या नर बना है।) 'दूत'-शब्द √जू (गत्यर्थक, जूत>दूत), √द्रु (दौड़ना, द्रुत>दूत) अथवा √वृ के णिजन्त रूप 'वारय्' से हुआ है (दूत द्वन्द्व, कलहादि का वारण करता है)। [इसका एक यह भी वैदिक उद्धरण है—तुम देवताओं तथा मनुष्यों के दूत हो।]

विशेष—निघण्टु चतुर्थ अध्याय के दूसरे खण्ड में 'सस्निम्' इत्यादि ८४ पद संगृहीत हैं। इनकी व्याख्या निरुक्त के पञ्चमाध्याय में है। (१) 'सस्नि' मेघ का वाचक शब्द है जो √स्ना+किन् से बना है। अतः ददिः, पपिः, जग्मिः, जघ्निः इत्यादि के आदर्श पर स्थित है। यास्क ने संस्नात (प्रक्षालित) के रूप में इसका शुद्ध निर्वचन दिया है (२) 'वाहिष्ठ' का अर्थ है अतिशय वहन करने वाला—√वह+तृच् = वोढृ। अब इसमें इष्ठन्-प्रत्यय लगाकर तृच् का लोप किया गया। छान्दस उपधा-दीर्घ = वाहिष्ठ। (३) दूत—वास्तव में यह √दु से क्त करके बना है—द्र० उणा० (३।९०)—दुतनिभ्यां दीर्घश्च क्तः। भारो०—√दू = आगे बढ़ना। मध्य जर्मन Zuwen (आगे बढ़ना)। अतः—दवति गच्छतीति दूतः। 'नर' का निर्वचन भी सन्दिग्ध है। रामाश्रमी में √नृ (नये) से अच् करके नर-शब्द तथा √नी+ऋन् से नृ-शब्द निष्पन्न किया गया है (पृ० २०३)।

वावशानो (४) वष्टेर्वा वाश्यतेर्वा । 'सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानः' (ऋ० १०।५।५) इत्यपि निगमो भवति । वार्यं (५) वृणोतेरथापि वरतमम् । 'तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्यम्' (ऋ० ८।२५।१३) तद्वार्यं वृणीमहे । वर्षिष्ठं गोपायितव्यम् । गोपायितारो यूयं स्थ । युष्मभ्यमिति वा ।

'वावशानः' शब्द √वश् (कामना करना) या √वाश् (शब्द करना) से बना हुआ है । सात चमकती हुई (अरुषीः)[1] बहनों को चाहता या बुलाता हुआ—यह भी वैदिक उद्धरण है । 'वार्यम्' (वरदान, काम्य) √वृ (वरण, चुनना) से व्युत्पन्न है अथवा वरतम (सर्वोत्कृष्ट) है । हम उस वरदान को चुनते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट तथा रक्षणीय है (गोपयत्यम्) । हम उस वरदान को चुनते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ रक्षण-रूप है (रक्षणीय है) । तुम इसके रक्षक हो, या इस धन के स्वामी तुम्हीं हो (यह धन तुम्हारे लिए है) ।

विशेष—(४) वावशानः—वश् या वाश् + कानच् (लिट् का आदेश) । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (पा० ६।१।७) से अभ्यास-दीर्घ, वाश्-धातु की स्थिति में उपधाह्रस्व । 'गोपयत्यम्' की व्याख्या तीन प्रकार से की गयी है—रक्षणीय (गोपायितव्य), वह जिसके आप रक्षक हैं, या जो धन आपके लिए है । (५) वार्यम्—√वृ + ण्यत्—काम्य, चुनने योग्य वर ।

अन्धः (६) इत्यन्ननाम । आध्यानीयं भवति । 'आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः' (ऋ० २।१४।१) । आसिञ्चताऽमत्रैर्मदनीयमन्धः । अमत्रं पात्रम् । अमा अस्मिन्नदन्ति (-स्मिन्मदन्ति) । अमा पुनरनिर्मितं भवति । पात्रं पानात् । तमोऽप्यन्ध उच्यते । नास्मिन्ध्यानं भवति । न दर्शनम् । अन्धन्तम इत्यभिभाषन्ते । अयमपीतरोऽन्ध एतस्मादेव । 'पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः' (ऋ० १।१६४।१६) इत्यपि निगमो भवति ॥ १ ॥

'अन्धस्' अन्न का पर्याय है, क्योंकि अन्न सबों के लिए विशेष रूप से ध्यातव्य है (आ + √ध्यै + असुन्) ।[2] पानपात्रों से आनन्ददायक अन्न को नीचे गिराओ (आसिञ्चत) । पात्रों के द्वारा (अमत्रैः) इस आह्लादक (मदनीय)

---

१. तुल० निरुक्त (१२।७—अरुषीः आरोचनाः भारो०—elu, प्रा० उच्च जर्मन elo, अंग्रेजी yellow = पीत । लकार होना ।

२. स्कन्दः—आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नम्, प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात् ।

अन्न अर्थात् सोमरस को नीचे गिराओ (अग्नि में डालो)। 'अमत्र' पात्र को कहते हैं, क्योंकि असंख्य लोग (अमाः, गृहस्थ) इसमें खाते-पीते हैं या आनन्द पाते हैं। अमा का अर्थ है अपरिमित (नञ् (अ) + √मा = जो मापा न जा सके)। पात्र √पा (पीना) से व्युत्पन्न है (जिससे लोग पान करें)।

अन्धकार को भी 'अन्धस्' कहते हैं क्योंकि इसमें ध्यान (वस्तु का निरूपण) नहीं हो सकता, कुछ भी देखा नहीं जा सकता (नञ् + √ध्यै = अन् — ध = अन्धस्)। कभी-कभी लोग 'अन्धं तमः' का प्रयोग करते हैं (अन्धा करने वाला, निविड अन्धकार)। 'अन्धस्' का यह दूसरा अर्थ भी उसी धातु (ध्यै) से निष्पन्न है। अकारान्त 'अन्ध' शब्द भी नञ् (अ) + ध्यै से बना है—यास्क का यही तात्पर्य है। जो ध्यान या दर्शन न कर सके)। वैदिक उद्धरण भी है—नेत्रवान् व्यक्ति देखता है, किन्तु अन्धा कुछ भी जान नहीं सकता (न वि चेतत्) ॥ १ ॥

विशेष—'अन्धस्' की निरुक्ति में यास्क √ध्यै का आश्रय लेते हैं, जो उनके 'अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात्' का परिणाम है। धातु तथा शब्द में धकार-साम्य मात्र है। 'अन्धा' अर्थ में तो उनकी निरुक्ति और भी विचित्र है। पाणिनि ने इस अर्थ के लिए अन्ध्-धातु ही माना है (अन्धयति)। अच्-प्रत्यय से 'अन्ध' बनेगा। 'अन्न' अर्थवाले 'अन्धस्' का सम्बन्ध √अद् (खाना) से हो सकता है। मू० भा० यू० में *andhos तथा ग्रीक में anthos (फूल) से इसका सम्बन्ध है।

'असश्चन्ती (७) भूरिधारे पयस्वती' (ऋ० ६।७०।२)। असज्यमाने इति वा। अव्युदस्यन्त्याविति वा। बहुधारे उदकवत्यौ। वनुष्यति (८) हन्तिकर्मा। अनवगतसंस्कारो भवति। 'वनुयाम वनुष्यतः' (ऋ० १।१३२।१, ८।४०।७) इत्यपि निगमो भवति।

'दीर्घप्रयज्युमति यो वनुष्यति वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः।' (ऋ० ७।८२।१)। दीर्घप्रततयज्ञमभिजिघांसति यो वयं तं जयेम पृतनासु। दूढ्यं दुर्धियं पापधियम्। पापः पाताऽपेयानाम्। पापत्यमानोऽवाङेव पततीति वा। पापत्यतेर्वा स्यात्।

परस्पर असंसक्त (ये द्यावापृथिवी) अनेक धाराओं से युक्त तथा जल से पूर्ण हैं। (असश्चन्ती =) असंसक्त होती हुई (√सञ्ज् + शतृ + ङीप्—नञ्) या नष्ट न होती हुई (अनुपक्षीण—द्यावापृथिवी)। अनेक धाराओं वाली तथा जल से पूर्ण है।

'वनुष्यति' का अर्थ है मार डालना (हन्ति)। इसका संस्कार (पदसंस्कार, शब्दसाधुत्व) अज्ञात है। जो हमें मारना चाहते हैं, उन्हें हम मारें—यह वैदिक

उद्धरण है। 'दीर्घकाल तक यज्ञ करने के इच्छुक व्यक्ति को (दीर्घप्रयज्युम्) जो मारना या क्षति पहुँचाना चाहता है, उसे तथा अपने प्रतिकूल व्यक्ति को हम संग्राम में जीत सकें।' (दीर्घप्रयज्यु =) दीर्घकाल तक व्याप्त यज्ञ को जो नष्ट करना चाहता है, हम उसे संग्रामों में जीतें। (दूढ्य =) दुष्ट बुद्धि वाले, पाप बुद्धिवाले को। 'पापः' (पापी व्यक्ति) वह है, जो अपेय का पान करता है (√पा = पीना)। पुनः पुन गिराये जाने पर (√पत् + यङ् + शानच् = पापत्यमानः) जो नीचे (नरक) की ओर ही गिरता जाता है या यह √पत् के यङ्लुक् (पापतीति पापत्—ड–प्रत्यय) से निष्पन्न है (जो पतन के मार्ग पर प्रकृष्ट रूप से चले वही 'पापः' है)।

विशेष—'वनुष्यति' को यास्क अनवगत-संस्कार मानते हैं, क्योंकि √वन् हिंसार्थक (भ्वादि-पठित) होने पर भी व्याकरण की प्रक्रिया से असिद्ध है—इसमें उ, ष् तथा य् अनियमित हैं। 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० ३।१।८५) से इसमें उ, सिप् तथा श्यन् इन तीन विकरणों का अनियमित आगम दिखला सकते हैं। 'दीर्घप्रयज्यु' का अर्थ दुर्ग ने नित्य यज्ञ करने वाला अग्निहोत्री माना है। प्रयज्यु—प्र + √यज् + युच् (उणा० ३।२०)। यज्यु = यज्ञ। दीर्घं प्रतरां चानुष्ठितो यज्युर्यज्ञो येन सः। 'दूढ्यः' दूढी का द्वितीया-बहु० रूप है। दूढी—दुस् धी > दुज् धी > दूढी। यह भारत-ईरानी ज् + ध् की सन्धि से निष्पन्न रूप है। यास्क का निरीक्षण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से समर्थित है। 'पाप' का निर्वचन अत्यन्त रोचक है—√ पा से या √पत् से। पाता अपेयानाम् (सुरादि अपेय द्रव्यों को (पीनेवाला)—√पा + अपेय > पा + अप > पाप। √पत् (गिरते जाना)–पापत्यते, पापतीति—पापः (पापी)। सिद्धेश्वर वर्मा इसे 'पीयति' (शाप देना), भारो० Pei. गॉथिक faian (शाप, निन्दा) इत्यादि से सम्बद्ध मानते हैं।

तरुष्यति (९) रप्येवंकर्मा। 'इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्' (ऋ० ७।४८।२) इत्यपि निगमो भवति। भन्दनाः (१०) भन्दतेः स्तुतिकर्मणः। 'पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः' (ऋ० ३।३।४) इत्यपि निगमो भवति। 'स भन्दना उदियर्ति प्रजावतीः' (ऋ० ९।८६।४१) इति च।

'तरुष्यति' का भी वही (हिंसा) अर्थ है। 'इन्द्र के साथ मिलकर हम वृत्र का वध करें'—यह भी वैदिक उद्धरण है। 'भन्दना' (स्तुति) शब्द स्तुत्यर्थक √भन्द् से व्युत्पन्न है। 'बहुतों का प्रिय (या अनेक काम्य वस्तुओं का प्रेमी) स्तोता अनेक नामों से स्तुति करता है'—यह भी वैदिक उद्धरण है। [भन्दधातु का उदाहरण दिखाकर अब 'भन्दना' का उदाहरण देते हैं—] 'वह सन्तान प्रदान

करने वाली स्तुतियों का उच्चारण करता है (उद् इयर्ति-उदीरयति)'—यह उद्धरण भी है।

विशेष—'तरुष्यति' में भी 'वनुष्यति' के समान अर्थ तथा शब्द-साधुत्व है। तृ-धातु का हिंसार्थक प्रयोग अधिक सुलभ नहीं है। 'तरुषेम' में तॄ+लिङ् = तर् +उ+सिप्+शप्+मस् रूप है (द्रष्टव्य—वैदिक प्रक्रिया, पृ० ३२)।

'अन्येन मदाहनो (११) याहि तूयम्' (ऋ० १०।१०।८, अथर्व० १८।१।९)। अन्येन मदाहनो गच्छ क्षिप्रम्। आहंसीव भाषमाणेत्यसभ्यभाषणादाहना इव भवति। एतस्मादाहनः स्यात्। ऋषिर्नदो (१२) भवति। नदतेः स्तुतिकर्मणः। 'नदस्य मा रुधतः काम आगन्' (ऋ० १।१७९।४)। नदनस्य मा रुधतः काम आगमत्। संरुद्धप्रजननस्य ब्रह्मचारिणः। इत्यृषिपुत्र्या विलपितं वेदयन्ते॥ २॥

(आहनः) हे आघातकारिणि (कामासक्ते यमी)! मुझसे भिन्न व्यक्ति के साथ तुम शीघ्र चली जाओ। प्रहार करने वाली यमी! तुम मुझसे भिन्न पुरुष के साथ संगत हो जाओ! (यम कहता है कि) इस प्रकार (मैथुन की याचना करने वाली) बोली बोलकर तुम मानो मुझ पर प्रहार कर रही हो (आहंसि इव)। असभ्य या अयुक्त भाषण से भी (केवल बाह्य प्रहार से ही नहीं) कोई प्रहारक-सा समझा जाता है (आ+√हन्+असुन्=आहनस्। प्रथमा-एक०—आहनाः)। इसी से संबोधन में 'आहनः' (आघात करने वाली) शब्द बना है।

'नदः' शब्द का अर्थ है ऋषि (स्तोता)। यह स्तुत्यर्थक √नद् से बना है (नद्+अच्)। [लोपामुद्रा कहती है—] अपनी इन्द्रियों पर संयम रखने वाले (रुधतः) ऋषि का प्रेम (नदस्य कामः) मेरे समीप आ गया है। आत्म-संयम से युक्त ऋषि का प्रेम मेरे पास आया है—सन्तानोत्पत्ति को रोके हुए ब्रह्मचारी का। लोग समझते हैं कि इन शब्दों से किसी ऋषि की पुत्री ने विलाप किया था॥ २॥

विशेष—'आहनः' की व्याख्या में सुप्रसिद्ध यम-यमी-संवाद सूक्त का एक अंश उद्धृत है (दे० निरुक्त ४।२०)। यमी ने अपने भाई यम से रति की याचना की, तब यम ने अस्वीकार करते हुए कहा कि तुम अपने असभ्य वाक्यों से मुझे आघात पहुँचा रही हो—कोई दूसरा पति दूसरे कुल में खोज लो। इसी प्रकार 'नदः' का अर्थ ऋषि करते हुए यास्क अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद का एक अंश उद्धृत करते हैं (दे० बृहद्-देवता ४।५७–६०)। लोपामुद्रा ने कामासक्त होकर अपने ब्रह्मचारी पति अगस्त्य को सम्बोधित किया। सम्पूर्ण ऋचा रोचक होने के कारण उद्धरणीय है।

नदस्य मा रुधतो काम आगन्निति आजातो अमुतः कुतश्चित् ।
लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥

संयमी ऋषि का प्रेम मेरे पास पहुँचा है। यह प्रेम मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है या उन्हीं ऋषि से (उनके गुणों का स्मरण करने से मुझमें काम उत्पन्न हुआ है) या कहीं दूसरे ही स्थान से—मैं नहीं कह सकती। यह विचार करती हुई लोपामुद्रा उन वीर्यवान् ऋषि के निकट कल्पना में पहुँचती है (नीरिणाति—चेतसा उपगच्छति); वह अधीर होकर उन धैर्य-सम्पन्न (अविकारी) तथा प्राणवान् ऋषि को मानो पी रही है, अनुकूल बनाने में लगी है। कुमारी के द्वारा पति का स्वयं वरण तथा प्रेम-विवाह का चित्र खींचने वाली यह सुन्दर ऋचा है।

'न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः।' (१३) (ऋ० १०।८९।६)। अश्नोतेरित्येवमेके। 'अनूपे गोमान्गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः' (ऋ० ९।१०७।९, साम० २। ३४८)। ['लोपाशः सिंहं प्रत्यञ्चमत्साः' (ऋ० १०।२८।४)।] क्षियतिनिगमः पूर्वः क्षरतिनिगम उत्तर इत्येके। अनूपे गोमान् गोभिर्यदा क्षियत्यथ सोमो दुग्धाभ्यः क्षरति। सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः।

['सोमो अक्षाः' इस १३ वें पद का उदाहरण देने के लिए ऋचा दी जाती है— सोमरस प्रवाहित हुआ है (अक्षाः—√क्षर्) जिसकी (महिमा को) न तो द्यावा-पृथिवी ने, न जल ने (धन्व), न अन्तरिक्ष ने और न पर्वतों ने (मापा है)।[1] कुछ लोगों के अनुसार 'अक्षाः' पद √अश् (व्याप्ति) से निष्पन्न है। गायों का स्वामी अपनी गायों के साथ जलमय स्थान पर (अनूपे) निवास करता है, तब दुही गयी गायों से सोम प्रवाहित होता है। [लोमड़ी समीप आते हुए सिंह की ओर पहुँची।][2] उक्त निगम में प्रथम 'अक्षाः' की व्युत्पत्ति √क्षि (निवास) से है, द्वितीय 'अक्षाः' की √क्षर् (प्रवाह) से—ऐसा कुछ लोग मानते हैं। तदनुसार अर्थ होगा—जलमय स्थान में ग्वाला (गौ पालने वाला, गोमान्) अपनी गायों के साथ जब निवास करता है, तब दुही गयी

---

१. जिस इन्द्र की महिमा को न द्यावापृथिवी, न जल, अन्तरिक्ष, न पर्वत व्याप्त कर सकते हैं। सोम ही उन इन्द्र की महिमा को व्याप्त कर सकता है (दुर्ग)। धन्व नदी समुद्राधिकरणमुदकम् (स्कन्दस्वामी)।

२. यह उद्धरण असंगत है। दुर्गाचार्य ने भी इसे छोड़ दिया है।

गायों से सोम प्रवाहित होता है। तथापि शाकपूणि का कहना है कि सभी उद्धरणों में 'अक्षाः' शब्द √क्षि (निवास) से ही व्युत्पन्न है।

श्वात्रम् (१४) इति क्षिप्रनाम। आशु अतनं भवति।

'स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः।' (ऋ० १०।८८।४)। स पतत्रि चेत्वरं स्थावरं जङ्गमं च यत्तत् क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः। ऊतिः (१५) अवनात्। 'आ त्वा रथं यथोतये' (ऋ० ८।६८।१; साम० १।३५४, २।११२१) इत्यपि निगमो भवति। हासमाने (१५) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (निरु० ९।३९)। 'वम्रकः पड्भि (१६) रुपसर्पदिन्द्रम्' (ऋ० १०।९९।१२)। पानैरिति वा। स्पाशनैरिति वा। [स्पर्शनैरिति वा।]

'श्वात्रम्' शब्द क्षिप्र (तीव्र) का पर्याय है—तीव्र गति वाला (√अत् = जाना) है (आशु + अत् + रक् = शु आत् र = श्वात्रम्)। सभी उत्पन्न प्राणियों को जानने वाले (जातवेदाः) उस अग्निदेव ने अति शीघ्रता से पक्षियों को (पतत्रि), सरीसृपों को (इत्वर), स्थावरों को (स्था = वृक्षादि स्थावर पदार्थ) तथा गतिशील (गवादि) प्राणियों को उत्पन्न (तेज से प्रकाशित) किया है (आत्मसात् अर्थात् दग्ध किया है—दुर्ग)।[१] उस जातवेद अग्नि ने पंख वालों, रेंगने वालों (स्कन्दस्वामी का अर्थ), स्थावर-जंगम —इन सबों को उत्पन्न किया है।

'ऊति' शब्द √अव् (रक्षा) से बना है। तुम्हारी ओर रक्षा के लिए (हम उसी प्रकार मुड़ते हैं, जैसे) रथ की ओर—यह वैदिक उद्धरण भी है। 'हासमाने' की व्याख्या बाद में (निरुक्त ९।३९) करेंगे। ['पड्भिः' शब्द का उदाहरण—] बभ्रक नामक ऋषि सोमरस के पान के साथ इन्द्र के पास पहुँच गया है। ('पड्भिः' =) पेय पदार्थों के साथ, स्तुतियों के साथ (या उद्बोधक स्तुतियों के साथ)।

विशेष—'श्वात्रम्' का निर्वचन कुछ लोगों ने इस प्रकार दिखलाया है—आशु + अत् (शीघ्रं चलति) + र = वर्ण-विपर्यय से शु आ अत्र = श्वात्र। निघण्टु (२।१०) में इसे धन का पर्याय माना गया है, जो धन के प्रसिद्ध पक्ष 'क्षणभङ्गुरता को प्रकट करता है। 'पड्भिः' (पश् + तृती० बहु०) में

१. प्रलयकाल में अग्निदेव सभी पदार्थों को भस्मीभूत कर देते हैं। दूसरे लोग यहाँ अग्नि की सर्जनात्मक शक्ति का वर्णन मानते हैं। 'जातवेदाः' (जातानि वेद····) विशेषण की सार्थकता इसी में है।

√स्पश् की कल्पना यास्क की महत्त्वपूर्ण सफलता है। श् का घोष महाप्राण के पूर्व ड् हो जाता है। पश् = दृष्टि। तुलनीय—भारो० spek (स्पेक्य्), लातिन—specio (देखना)। स्पाशन = इन्द्र को अनुकूल करने वाला स्तुतिसमूह।

'ससं (१८) न पक्वमविदच्छुचन्तम्' (ऋ० १०।७९।३)। स्वपनमेतन्माध्यमिकं ज्योतिरनित्यदर्शनम्। तदिवाविदज्जाज्वल्यमानम्।

'द्विता (१९) च सत्ता स्वधया च शंभुः'। ऋ० ३।१७।५)। द्वैधं सत्ता मध्यमे च स्थान उत्तमे च। शंभुः सुखभूः। 'मृगं न व्रा (२०) मृगयन्ते' (ऋ० ८।२।६)। मृगमिव व्रात्याः प्रैषाः ॥ ३ ॥

अभिव्यक्त (पक्व = स्पष्ट) स्वप्न के समान चमकते हुए (शुचन्तम्) [अग्निदेव को ऋषि ने] पाया। ('ससम्' का अर्थ है) स्वप्नशील जो कभी-कभी दिखलायी पड़ने वाली माध्ममिक ज्योति (विद्युत) का बोधक है। उसी (स्वप्नशील ज्योति) के समान पुनः पुनः चमकनेवाली (अग्नि) को उसने प्राप्त किया।

दो स्थानों में सत्ता तथा अन्न (स्वधा) के कारण सुखजनक (अग्निदेव)। द्वैध सत्ता का अर्थ है मध्यम स्थान (अन्तरिक्ष में विद्युत्-रूप) तथा उत्तम स्थान में (द्युलोक में सूर्य-रूप)। शंभुः = सुख का उत्पादक।

जिस प्रकार आखेटक आखेट-रूप पशु का अन्वेषण करते हैं। ('व्राः' =) व्रात्य (आखेटक) जिस प्रकार मृग (पशु) की [खोज करते हैं, वैसे ही] स्तोतृगण [आपकी (इन्द्र की) खोज में हैं।]

विशेष—यहाँ ससम्, द्विता तथा व्राः—इन तीन नैगम-पदों की व्याख्या है। व्राः = व्रात्याः आखेटकाः। 'प्रैषाः' के अर्थ के विषय में स्कन्द तथा दुर्ग का मत-भेद है। स्कन्द के अनुसार यह 'व्रात्याः' का परिष्कार है—प्रैषाः उत्सेधजीविनः कर्मकरास्त एव लुब्धकादय उच्यन्ते। दूसरी ओर दुर्ग इसे स्तुतिकर्ता के अर्थ में लेते हैं—इन्द्र के पास प्रेषित स्तुतिकर्ता (प्रैषाः युष्मत्संस्तवसंयुक्ताः' त्वां प्रति प्रहिताः)।

वराहो (२१) मेघो भवति। वराहारः। वरमाहारमाहार्षीः' इति च ब्राह्मणम्। 'विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता' (ऋ० १।६१।७, अथर्व० २०।३५।७) इत्यपि निगमो भवति। अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। वृहति मूलानि। वरं वरं मूलानि वृहतीति वा 'वराहमिन्द्र एमुषम्' (ऋ० ८।७७।१०) इत्यपि निगमो भवति। अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते। 'ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः' (ऋ०

१०।६७।७, अथर्व० २०।९१।७)। अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते।

'पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावतो वराहून् (ऋ० १।८८।५)।

'वराह' मेघ को कहते हैं क्योंकि श्रेष्ठ वस्तु (जल) इसका आहार है (या जीवन के लिए उत्तम पदार्थ लाता है)। ब्राह्मणवाक्य भी है—[मेघ ! तुम] सर्वोत्तम आहार (जीवन-साधन) लाये हो। दूर से ही (तिरः) वज्र को फेंकने वाले इन्द्र ने (अस्ता—√अस्+तृन्) मेघ को (वराहं) विद्ध कर दिया—यह वैदिक उद्धरण भी है। ['शूकर' के अर्थ में आने वाला] यह दूसरा 'वराह' शब्द भी उसी धातु से (वर+आ+√हृ) निष्पन्न है। अथवा मूलों का वर्हण (उखाड़ लेना √वृह्) करने के कारण वह वराह है या अच्छे-अच्छे मूलों (जड़ों) को उखाड़ लेता है (वर+√वृह्)। इन्द्र ने तीव्रता से खाते हुए (एमुषम् = मोहस्थानीयम्—दुर्ग) वराह को [मार दिया]—यह वैदिक उद्धरण भी है।[1]

अङ्गिरस्—गोत्र वालो को भी वराह कहा जाता है यथा—शक्तिशाली अङ्गिरस्—गोत्र वालों के साथ ब्रह्मणस्पति (स्तुतियों के स्वामी)—नामक देवता ने [जल को व्याप्त कर लिया]। इनके अतिरिक्त मध्यम स्थान वाले देवगण (रुद्र, मरुत् आदि) 'वराहु' कहलाते हैं। यथा—(अयोदंष्ट्रान्) लोहे के दाँत वाले, (हिरण्यचक्रान्) स्वर्णिम रथचक्रों वाले (विधावतः) दौड़ते हुए (वराहून्) अन्तरिक्ष के देवताओं को (पश्यन्) देखकर........।

स्वसराणि (२२) अहानि भवन्ति। स्वयं सारीण्यपि वा। स्वरादित्यो भवति। स एनानि सारयति। 'उस्रा इव स्वसराणि' (ऋ० १।३।८) इत्यपि निगमो भवति। शर्याः (२३) अङ्गुलयो भवन्ति [सृजन्ति कर्माणि]। शर्याः इषवः शरमय्यः। शरः श्रृणातेः। 'शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः' (ऋ० ९।११०।५) इत्यपि निगमो भवति।

अर्कः (२४) देवो भवति। यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति। यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति। अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति। संवृत्तः कटुकिम्ना।

'स्वसर' का अर्थ है दिन—जो स्वयं सरकते (चलते) हों। अथवा, स्वर् = आदित्य, वह इन्हें सरकाता (चलाता) है। इसका वैदिक उद्धरण भी है—जिस

१. दुर्ग के अनुसार अर्थ है—वराह के रूप में स्थित मोह (भ्रम) उत्पन्न करने वाले असुर को इन्द्र ने मारा। यहाँ भी वराह मेघ का ही रूपक है।

प्रकार किरणें दिनों की ओर (जाती है)। 'शर्याः' अंगुलियों को कहते हैं क्योंकि वे कर्मों को उत्पन्न करती हैं (√सृज् से शर्याः)। 'शर्याः' का अर्थ बाण भी होता है जो सरकण्डों (शरों) से निर्मित होते हैं। यह 'शर' शब्द √शॄ (चीरना, भेदन) से व्युत्पन्न है (शॄ + अप् = शर, उससे मयट् के अर्थ में यत् = शर्याः)। यह वैदिक उद्धरण भी है—दोनों भुजाओं में (गभस्त्योः) धनुष धारण करके (भरमाणः) मानों वाणों से (शर्याभिः न) [भेदन कर रहा हो]।

'अर्क' का अर्थ है देवता चूँकि इसकी अर्चना लोग करते हैं (√अर्च > अर्क)। 'अर्क' मन्त्र को भी कहते हैं क्योंकि इसकी सहायता से अर्चना करते हैं। 'अर्क' अन्न को भी कहते हैं क्योंकि जीवों को जीवित रखता है। 'अर्क' एक वृक्ष भी है क्योंकि कटुता से परिव्याप्त है (कटुता से अर्चित, युक्त रहने से अर्क = वृक्ष)।

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ (ऋ० १।१०।१)

(शतक्रतो) अनेक कर्मों या बुद्धियों वाले हे इन्द्र ! (त्वा) आपकी (गायत्रिणः) उद्गाता लोग (गायन्ति) स्तुति करते हैं, (अर्किणः) अर्चनमन्त्र वाले होता लोग (अर्कम्) अर्चनीय इन्द्र की (अर्चन्ति) प्रशंसा करते हैं। (त्वा) आपको (ब्रह्माणः) ब्रह्मा आदि पुरोहित (वंशमिव) वाँस या सत्कुल की तरह (उद् येमिरे) ऊपर उठाते हैं, समुन्नत करते हैं।

गायन्ति त्वा गायत्रिणः। प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव। वंशो वनशयो भवति। वननाच्छ्रूयत इति वा ॥ ४ ॥

गायक लोग आपका स्तुतिगान करते हैं। मन्त्रवेत्ता होतृगण आपकी प्रकृष्ट अर्चना करते हैं। हे अनेककर्मा (या शत शक्तियों से युक्त) इन्द्र ! ब्राह्मणों ने आपको बाँस के खम्भे की तरह ऊँचा उठाया। वंश (का यह नाम इसलिए है कि यह) वन में उत्पन्न होता है (वन + शी > वन + शय > वंश)। अथवा विभिन्न भागों में विभाजन होने के कारण (वननात्) इसे ऐसा सुना जाता है।

विशेष—'वंश' (बाँस) का निर्वचन करने में यास्क (१) वन + √शी + ड = वनशः > वंशः तथा (२) वनन (सम्भक्ति = सेवा)—ये दो रूप देते हैं। पिछले निर्वचन का अर्थ दुर्ग लेते हैं कि बाँस लताओं से संसेवित रहता है। अथवा वंशी का स्वर वंश के सेवन (वनन) से सुना जा सकता है। अनुवाद में डा० लक्ष्मण स्वरूप का अर्थ दिया गया है (विभाजन)। इसी प्रकार 'श्रयते' तथा 'श्रूयते' दो पाठ हैं—वननात् श्रयते (सेवा करने से बाँस आश्रय प्रदान करता

है)। वननात् श्रूयते (सेवा करने से, वंशी बजाने से मधुर स्वर सुनाई पड़ता है)। √वन्+√श्रि या √श्रु+ड करके किसी प्रकार इसकी सिद्धि होगी। रामाश्रमीकार इसे √वन्+श या। √वश्+घञ् से व्युत्पन्न मानते हैं॥ ४॥

पविः (२५) रथनेमिर्भवति। यद्विपुनाति भूमिम्। 'उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा' (ऋ० ५।५२।९)। 'तं मरुतः क्षुरपविना व्ययुः' (मैत्रा० सं० १।१०।१४) इत्यपि निगमौ भवतः।

वक्षः (२६) व्याख्यातम् (निरु० ४।१६)। धन्व (२७) अन्तरिक्षम्। धन्वन्त्यस्मादापः। 'तिरो धन्वाति रोचते' (ऋ० १०।१८७।२) इत्यपि निगमो भवति। सिनम् (२८) अन्नं भवति। सिनाति भूतानि। 'येन स्मा सिनं भरथः सखिभ्यः' (ऋ० ३।६२।१) इत्यपि निगमो भवति।

'पवि' का अर्थ है चक्र की परिधि, यह पृथ्वी को फोड़ देती है (√पृ = विशरण करना+इ)। [पूञ् = पवित्रीकरण, इस अर्थ में जो भूमि को पवित्र करे; पवि = वज्र, भूमि को फाड़ने वाला, पूयी+इ।] अपनी शक्ति से, वे रथों की चक्र-परिधि से पर्वत को चीर देते हैं। मरुतों ने अपने कृपाण तुल्य चक्रधार से (क्षुरपविना) उन्हें नष्ट कर दिया। ये दोनों वैदिक उद्धरण हैं।

'वक्षस्' की व्याख्या हो चुकी है (निरु० ४।१६)। 'धन्वन्' अन्तरिक्ष को कहते हैं, क्योंकि उससे जल प्रवाहित होते हैं (√धवि+कनिन् = धन्वन्)। अन्तरिक्ष के पार से (तिरः धन्व = धन्वनः, अपादान के अर्थ में) वह खूब चमकता है—यह वैदिक उद्धरण भी है। 'सिनम्' अन्न को कहते हैं, क्योंकि प्राणियों को बाँधता है (षिञ् बन्धने+नक्)। इसका वैदिक उद्धरण भी है—जिस सामर्थ्य के कारण अपने मित्रों के लिए आप दोनों (मित्रावरुण) अन्न लाते हैं (आ भरथः—आहरथः)।

विशेष—'धन्वन्' का अर्थ अन्तरिक्ष के अतिरिक्त मरुभूमि तथा धनुष भी है। यास्क के द्वारा अन्तरिक्ष के अर्थ में दिये गये निर्वचन (धन्वन्ति) को सम्भवतः भाषाशास्त्र—स्वीकार्य मानेगा। तुल० भारो०—dhen (दौड़ना), लातिन fons, अंग्रेजी—fountain (झरना)। द्रष्टव्य–Ety. of Yaska (p. 70).

इत्था (२९) अमुथेत्येतेन व्याख्यातम् (निरु० ३।१६)। सचा (३०) सहेत्यर्थः। 'वसुभिः सचा भुवा' (ऋ० ८।३५।१)। वसुभिः सह भुवौ। चित् (३१) इति निपातोऽनुदात्तः पुरस्तादेव व्याख्यातः (निरु० १।४, ३।१६)। अथापि पशुनामेह भवत्युदात्तः। 'चिदसि मनासि धीरसि' (वाज० ४।१९, मैत्रा० सं० १।२।४)। चितास्त्वयि भोगाः चेतयसे इति वा।

आ (३२) इत्याकार उपसर्गः पुरस्तादेव व्याख्यातः (निरु० १।४)। अथापि अध्यर्थे दृश्यते–'अभ्र आँ अपः' (ऋ० ५।४८।१)। अभ्रे आ अपः, अपोऽभ्रेऽधीति । द्युम्नम् (३३) द्योततेः। यशो वान्नं वा । 'अस्मे द्युम्नमधि रत्नं च धेहि' (ऋ० ७।२५।३)। अस्मासु द्युम्नं रत्नं च धेहि ॥ ५ ॥

'इत्था' (इदम् + थाल्) शब्द की व्याख्या 'अमुथा' (निरु० ३।१६) के द्वारा हो गयी। 'सचा' का अर्थ है एक साथ, जैसे--'वसुओं के साथ होते हुए ....'। अर्थात् वसुओं के साथ उत्पन्न होते हुए। 'चित्' यह अनुदात्त निपात है, जिसकी व्याख्या पहले ही हो चुकी है (निरु० १।४, ३।१६---दोनों स्थानों में उपमार्थक)। इसके अतिरिक्त इस स्थान पर 'पशु' के अर्थ में उदात्त है—तुम पशु हो, मन हो, वुद्धि हो। [चित् का गौ अर्थ इसीलिए है कि] तुममें (गौ में) समस्त भोग संचित हैं (√चि + क्विप्)। अथवा [गौ को देवता-रूप में देखने पर] तुम चेतना प्रदान करती हो (√चित्)।

'आ' यह उपसर्ग है, जिसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है (निरु० १।४) इसके अतिरिक्त, यह 'अधि' (....के अन्दर) के अर्थ में भी देखा जाता है जैसे—अभ्र में जल। मेघ जल में या जल मेघ में (अभ्रेऽधि)। 'द्युम्नम्' पद √द्युत् (चमकना) से व्युत्पन्न है तथा यश या अन्न के अर्थ में आता है। (वैदिक उदाहरण—) हमें यश तथा धन प्रदान करो। हम लोगों को यश (द्युम्न) तथा कोष (रत्न) दे दो ॥ ५ ॥

विशेष---'द्युम्न' का निर्वचन √द्युत् से किया गया है। भारोपीय में diu, dei (चमकना) धातु थे, जिनसे इसका सम्बन्ध है। निम्न, सुम्न इत्यादि के आदर्श पर यह 'म्न' प्रत्यय से निष्पन्न है।

द्वितीय पाद

पवित्रम् (३४) पुनातेः । मन्त्रः पवित्रमुच्यते। 'येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा' (साम० २।६५२) इत्यपि निगमो भवति। रश्मयः पवित्रमुच्यन्ते। 'गभस्तिपूतः' (वाज० सं० ७।१), 'गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः' (ऋ० ९।८६।३४) इत्यपि निगमौ भवतः। आपः पवित्रमुच्यन्ते। 'शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः' (ऋ० ७।४७।३)। बहूदकाः।

'पवित्र' पू-धातु से व्युत्पन्न है (पवित्र करना)। मन्त्र 'पवित्र' कहलाता है यथा---देवगण अपने को जिस 'पवित्र' (मन्त्र) से पवित्र करते हैं। यह वैदिक

उद्धरण भी है। रश्मियाँ भी 'पवित्र' कहलाती हैं। 'रश्मियों से पवित्र', 'रश्मियों से पवित्र (सोमरस) मनुष्यों के द्वारा पाषाणों की सहायता से प्रस्तुत हुआ है'—ये दोनों वैदिक उद्धरण हैं। जल को भी 'पवित्र' कहते हैं यथा—अन्न का आनन्द लेती हुई सैकड़ों जलधाराएँ (शतपवित्राः)। अर्थ है 'बहुत जल'।

अग्निः पवित्रमुच्यते, वायुः पवित्रमुच्यते, सूर्यः पवित्रमुच्यते, इन्द्रः पवित्रमुच्यते। 'अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः। पवित्रं ते मा पुनन्तु।' (आप० श्रौत० १२।१९।६) इत्यपि निगमो भवति। तोदः (३५) तुद्यतेः॥ ६॥

अग्नि को 'पवित्र' कहते हैं। इसी प्रकार वायु, सोम, सूर्य और इन्द्र को भी क्रमशः 'पवित्र' कहते हैं। यथा—अग्नि पवित्र हैं, वे मुझे पवित्र करें। वायु, सोम, सूर्य तथा इन्द्र भी पवित्र हैं, वे मुझे पवित्र करें। यह भी वैदिक उद्धरण है।

'तोद' शब्द तुद्-धातु से व्युत्पन्न है। [तुद् = व्यथा, प्रेरणा। तुद्+अच् = तोदः = प्रेरक, गृहस्थ (स्कन्द), कूप (दुर्ग)।]

विशेष—'पवित्र' के विभिन्न अर्थ करने के बाद यास्क 'तोद' का निर्वचन करते हैं, जिसका निगम (उदाहरण) अगले खण्ड में है।

पुरु त्वा दाश्वान्वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा।
तोदस्येव शरण आ महस्य॥ (ऋ० १।१५०।१)

(अग्ने) हे अग्निदेव, (पुरु दाश्वान्) प्रचुर दान करने वाला मैं यजमान (त्वा) आपको (वोचे) बुलाता हूँ [क्योंकि आप] (अरिः) स्तुतियों के स्वामी हैं। (तव) आप-जैसे (महस्य—महतः) महान् देव की (शरणे) शरण में (स्वित्) ही (आ-गच्छामि) आता हूँ (तोदस्य इव) जैसे कूप के [छेद में जल चले जाते हैं।]

विशेष—इसमें कहा गया है कि जैसे समस्त जल भूमि के छिद्रों में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार हम सभी अग्नि की शरण में जाते हैं, सारी स्तुतियाँ उन्हीं की हैं। स्कन्दस्वामी 'तोद' का अर्थ गृहस्वामी करते हैं कि जैसे सभी नौकर-चाकर गृहस्वामी (प्रेरक) की शरण में ही रहते हैं, उसी प्रकार····। 'महस्य' शब्द अग्नि के साथ-साथ 'तोदस्य' (कूपस्य, गृहस्वामिनः प्रेरकस्य) का भी विशेषण है।

बहु दाश्वाँस्त्वामेवाभिह्वयामि। अरिः अमित्रः ऋच्छतेः। ईश्वरोऽप्यरिः एतस्मादेव। यदन्यदेवत्या अग्नावाहुतयो हूयन्त इत्येतद् दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्। 'तोदस्येव शरण आ महस्य'—तुदस्येव शरणेऽधि महतः।

स्वञ्चाः (३६) सु अञ्चनः। 'आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः' (ऋ० ५।३७।१) इत्यपि निगमो भवति।

शिपिविष्टः (३७) विष्णुः (३८) इति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः ॥ ७ ॥

बहुत अधिक देने वाला मैं तुम्हें (अग्नि को) ही बुलाता हूँ। अरि का अर्थ है, अमित्र, जो ऋ-धातु (कष्ट देना) से निष्पन्न है। ईश्वर को भी अरि कहते हैं। इस अर्थ में भी धातु वही है (√ऋ, जो कष्ट दे सके, अधिकारी)। चूँकि अन्य देवताओं को भी दी गयी आहुतियाँ अग्नि में ही डाली जाती हैं––इसलिए यही देखकर ऋषि ने ऐसी घोषणा की––महान् कूप के छिद्र में जिस प्रकार (जल-ग्रहण की अपार क्षमता है)। अर्थात् जिस प्रकार विशाल विवर के मुख में····।

'स्वञ्चाः' का अर्थ है सुन्दर गति से युक्त। सभी ओर से आहूत, घृत के पृष्ठ से युक्त तथा सुन्दर गति वाले (अग्निदेव)––यह भी वैदिक उद्धरण है।

'शिपिविष्ट' तथा विष्णु, ये दो नाम (पर्याय) विष्णु के हैं। औपमन्यव का कथन है कि प्रथम नाम कुत्सित अर्थ का द्योतक है ॥७ ॥

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद् यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥
(ऋ ७।१००।६)

हे विष्णु ! (ते) तुम्हारी (किमित्) कौन-सी चीज (परिचक्ष्यं) न कहने योग्य या निन्दनीय (भूत) थी (यत्) कि (प्र ववक्षे) यह कहते हो कि (शिपिविष्टो अस्मि) मैं शिपिविष्ट हूँ ? (अस्मद्) हमलोगों से (एतद् वर्पः) यह रूप (मा) मत (अपगूहः) छिपाओ (यत्) क्योंकि (समिथे) संग्राम में तो (अन्यरूपः) दूसरे ही रूप में (बभूथ) तुम थे।

किं ते विष्णोऽप्रख्यातमेतद् भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे—'शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मि' इत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अथवा प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात्। किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद् भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः। शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति। 'मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्'। वर्प इति रूप-नाम। वृणोतीति सतः। यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयत-रश्मिः।

तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ८ ॥

हे विष्णु ! तुम्हारा कौन-सा रूप अ-प्रख्यात (छिपा हुआ) है या न कहने योग्य है कि तुम हमसे कहते हो—शेप (पुरुष की जननेन्द्रिय) के समान मैं आच-

रण-रहित (निर्वेष्टित) हूँ, अर्थात् जिसकी रश्मियाँ अप्रकाशित हैं (प्रातःकाल का उदीयमान सूर्य, जिसकी किरणें अप्रकाशित हैं—दुर्ग) । अथवा यह शब्द प्रशंसा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ हो—हे विष्णु, तुम्हारा वह प्रख्यात रूप क्या है अर्थात् पूर्णतया ज्ञात किया जाने योग्य रूप क्या है तुम हमें कहते हो 'मैं रश्मियों से घिरा (शिपि-विष्ट) हूँ अर्थात् जिसकी किरणें प्रकाशित हैं' ? 'शिपि' यहाँ रश्मियों को कहा गया है, उनसे आविष्ट है । 'हमसे अपना यह रूप मत छिपाओ' । 'वर्पः' रूप का पर्याय है क्योंकि आवृत करता है (√वृ) । चूँकि समिथ अर्थात् संग्राम में दूसरे रूप वाले हो जाते हैं जहाँ तुम्हारी किरणें एकत्र (संयत) रहती हैं ।

इसके बाद वाली ऋचा में इसकी स्पष्टतर व्याख्या है ॥ ८ ॥

विशेष—शिपिविष्ट के द्विपक्षीय अर्थ हैं—अश्लील तथा सभ्य । अश्लील अर्थ में अनावेष्टित लिङ्ग का यह वाचक है तथा उदीयमान आदित्य का बोधक है जिसमें अभी किरणें प्रकाशित नहीं हैं । वस्त्रवद् शेप (लिंग)—रूप आदित्य को आच्छन्न कर देती हैं । सभ्य अर्थ में 'शिपिविष्ट' का अर्थ किरणवेष्टित है—शिपि = बाल-रश्मि, उनसे आवृत आदित्य । आदित्य के रूप में संक्षिप्तकिरण (किरणहीन) विष्णु को देखकर आश्चर्य हो रहा है कि क्या यह वही है जो युद्धों में इतना विकट-रूप धारण करता है ? विष्णु का वह किरण-हीन रूप (उदयावस्थ आदित्य) वैसा ही निन्दनीय है जैसा निर्वस्त्र पुरुष । यह रूप प्रकाशित न हो ।

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥
(ऋ० ७।१००।५)

(अद्य) आज (वयुनानि) आपके विषय में प्रज्ञानों को (विद्वान्) जानने वाला तथा (अर्यः) सूक्तों के उच्चारण में समर्थ मैं (शिपिविष्ट) हे शिपिविष्ट विष्णु ! (ते तत् नाम) आपके उस नाम की (प्रशंसामि) स्तुति करता हूँ । (अतव्यान्) मैं महान् न होते हुए भी (तवसम्) महत्ता से भरे हुए तथा (अस्य रजसः) इस लोक से (पराके) अति दूर स्थान में (क्षयन्तम्) निवास करने-वाले (तं त्वा) उस नाम वाले आपका (गृणामि) स्तवन करता हूँ ।

विशेष—तवस् = बल, शक्ति से पूर्ण । उसमें ईयसुन् करने पर तवीयस् > तव्यस् होता है । न तव्यान् = अतव्यान् । न बलीयानित्यर्थः । वयुन = प्रज्ञा, पवित्र आचार (ल० सरूप) ।

तत्तेऽद्य शिपिविष्ट नामार्यः प्रशंसामि । अर्योऽहमस्मीश्वरः स्तोमानाम् । अर्यस्त्वमसीति वा । तं त्वा स्तौमि तवसमतव्यान् । तवस इति महतो नामधेयम् । उदितो भवति । निवसन्तमस्य रजसः पराके पराक्रान्ते ।

आघृणिः (३९) आगतहृणिः । 'आघृणे सं सचावहै' (ऋ० ६।५५।१) । आगतहृणे संसेवावहै । पृथुज्रयाः (४०) पृथुजवः । 'पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः' (ऋ० ३।४९।२) । प्रामापयदायुर्दस्योः ॥ ९ ॥

हे शिपिविष्ट ! मैं सूक्तों का स्वामी आपके उस नाम की आज प्रशंसा (स्तुति) करता हूँ । मैं अर्य अर्थात् स्तोमों का अधिकारी हूँ ।[1] अथवा आप ही स्वामी हैं । उसी रूप में आप महान् की मैं अमहान् होने पर भी स्तुति करता हूँ । 'तवस' शब्द महान् (बलवान्) का पर्यायवाची है क्योंकि आदित्य-रूप विष्णु ऊपर की ओर उठते हैं (= यही उनकी महत्ता है) । इस लोक के परे अर्थात् अत्यन्त दूर निवास करने वाले को ।

'आघृणि' का अर्थ है—जिसकी दीप्ति हमारे पास पहुँच चुकी है (या जिसका क्रोध उद्गत है—दुर्ग) । 'हे प्रदीप्त कोपवाले देव ! हम दोनों आपकी एक साथ सेवा करें । प्रदीप्त कोप (या ताप) से युक्त देव ! हम दोनों साथ-साथ आपकी सेवा करें । 'पृथुज्रयाः' शब्द का अर्थ है प्रभूत वेगशाली (√ ज्रि अभिभवे + असुन् = ज्रयस् = वेग) । 'प्रभूत वेगशाली (इन्द्र) ने दस्यु की आयु का अत्यल्प कर दिया (अमिनात्) ।' उसने दस्यु की आयु क्षीण कर दी ॥ ९ ॥

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम् । दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम् (४१) ॥ (ऋ० ७।१।१, साम० १।७२, २।७२३) ।

(दीधितिभिः) अंगुलियों से युक्त (नरः) ऋत्विगण ने (हस्तच्युती, त्या) हाथों की गति से (अरण्योः) दो अरणियों के द्वारा (प्रशस्तं) यशस्वी, (दूरेदृशं) दूर से दिखलायी पड़ने वाले, (गृहपतिम्) गृहपति-रूप तथा (अथर्युम्) गतिशील (अग्निं) अग्निदेव को (जनयन्त) उत्पन्न किया ।

विशेष—४१ वें पद 'अथर्युम्' का निगम दिखलाने के लिए यह ऋचा दी गयी है । इसका निर्वचन यास्क अभी 'अतनवन्तम्' अर्थात् गमन (√अत् + ल्युट्) से युक्त करेंगे । अत्—अथस्—अथर्—अथर्यु—यही प्रक्रिया है ।

दीधितयोऽङ्गुलयो भवन्ति । धीयन्ते कर्मसु । अरणी प्रत्यृत एने अग्निः । समरणाज्जायत इति वा । हस्तच्युती हस्तप्रच्युत्या । जनयन्त प्रशस्तं दूरे दर्शनं गृहपतिमतनवन्तम् ॥ १० ॥

---

१. तुलनीय—पा० सू० ३।१।१०३ अर्यः स्वामिवैश्ययोः । ऋ + यत् (निपातन) ।

'दीधिति' अंगुलियों को कहते हैं क्योंकि कर्मों के सम्पादन में वे प्रयुक्त की जाती हैं। 'अरणी' (ये इसलिए कही जाती) हैं क्योंकि अग्नि इन दोनों में निवास करती है (√ऋ = जाना)। अथवा जिनके संघर्षण (सम् + √ऋ) से अग्नि जन्म ले (वे अरणि हैं)। हस्तच्युती = हस्त की गति से। [तृतीया की 'टा' विभक्ति का पूर्वसवर्ण, पा० सू० ७।१।३९]। प्रशस्त, दूर से दिखलायी पड़ने वाले, गृहपति तथा गमनशील (अग्नि) को उत्पन्न किया ॥ १० ॥

एकया प्रतिधा पिबत्साकं सरांसि त्रिंशतम्।
इन्द्रः सोमस्य काणुका (४२) ॥ (ऋ० ८।७७।४)

(इन्द्रः) इन्द्र ने (एकया प्रतिधा = प्रतिधया) एक ही साँस में (साकम्) एक साथ (सोमस्य) सोमरस के (काणुका-नि) प्रिया या भरे-पूरे (त्रिंशतम् सरांसि) तीस सरोवरों का (पिवत्) पान कर लिया।

एकेन प्रतिधानेनापिबत्। साकं सहेत्यर्थः। इन्द्रः सोमस्य काणुका। कान्तकानीति वा। क्रान्तकानीति वा। कृतकानीति वा। इन्द्रः सोमस्य कान्त इति वा। कणेघात इति वा। कणेहतः कान्तिहतः।

एक प्रतिधान (साँस, घूँट) में पी गये। साकम् = सह। इन्द्र सोमरस से पूर्ण (सरोवर) को अर्थात् [काणुका>काणुकानि =] मन को प्रिय (कान्त > काणु), किनारों तक भरे हुए (क्रान्त > काणु) या इन्द्र के लिए संस्कृत किये गये (कृत > काणु) अथवा इन्द्र ही सोम का कान्त या प्रेमी है (कान्तकः > काणुकः >काणुका) या इच्छा भर पीने वाला (कणे = इच्छा, घातः = पूर्ण करना, इच्छापूर्तिपर्यन्त) अर्थात् इच्छा समाप्त होने तक (कणेहतः) अर्थात् जब तक कामना समाप्त न हो जाय (कान्तिहतः)।

विशेष—'काणुका' के निर्वचन में यास्क का संघर्षमय श्रम दर्शनीय है—(१) कमु कान्तौ + क्त = कान्त + क = कान्तक > काणुका अर्थात् मन को प्रिय। (२) क्रमु पादविक्षेपे + क्त = क्रान्त + क = क्रान्तक>काणुका अर्थात् किनारों तक भरा हुआ। (३) कृ + क्त= कृत + क = कृतक > काणुका अर्थात् परिष्कृत। √कण् इच्छा (कान्ति, कामना) के अर्थ में होता है उससे उकण् (उणादि० ४।३९) प्रत्यय लगाने पर 'काणुकम्' बना। नपुंसक० द्वितीया बहु० में काणुकानि > काणुका (शेश्छन्दसि बहुलम् से शि-लोप) अर्थात् 'प्रियाणि सरांसि'। अभीतक के निर्वचन इसे 'सरांसि' का विशेषण मानकर दिये गये हैं। यास्क इसे 'इन्द्र' का विशेषण मानकर निर्वचनों का दूसरा दौर आरम्भ करते हैं (१) कान्तकः>काणुकः = प्रियः। उपर्युक्त सिद्धि। (२) कणेघातः—इच्छा की समाप्तिपर्यन्त पीने वाला।

इसी से घिसते-घिसते 'काणुका' बन गया। इसी 'कणेघातः' शब्द का स्पष्टीकरण यास्क ने बाद के दोनों शब्दों में (कणेहतः, कान्तिहतः) किया है। द्र० पाणिनि-सूत्र—कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते (१।४।६५)। 'कणे' शब्द गति-संज्ञक होता है जब श्रद्धा (इच्छा) की निवृत्ति का अर्थ हो। यथा—कणेहत्य दुग्धं पीतम् = इतना दूध पी लिया कि इच्छा निवृत्त हो गयी। अतः इच्छार्थक 'कण' शब्द रहा होगा। इसमें तद्धित का 'उकञ्' जैसा प्रत्यय लगाकर 'काणुका' निष्पन्न हो सकता है। किसी भी रूप में इसका अर्थ 'प्रिय' अथवा 'इच्छुक' (कण = इच्छा) करना संगत है।

तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते। त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः। त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्यः आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। तथापि निगमो भवति—'यमक्षितिमक्षितयः पिबन्ति' (वाज० सं० ५।७) इति। तं पूर्वपक्ष आप्याययन्ति। तथापि निगमो भवति—'यथा देवा अंशुमाप्याययन्ति' (वा० सं० ५।७) इति।

इस विषय में याज्ञिकों का इस प्रकार कथन है—माध्यन्दिन सवन में एक ही (इन्द्र) देवता के निमित्त तीस उक्थपात्र रखे जाते हैं। ये पात्र उस समय एक ही प्रणिधान (साँस) में पीये जाते हैं (इन्द्र इन्हें पी जाते हैं)। इन्हीं उक्थपात्रों को यहाँ सरोवर कहा गया है।

किन्तु निरुक्तकारों की व्याख्या है कि मास के दूसरे पक्ष में तीस अहोरात्र होते हैं तथा पहले पक्ष में भी तीस ही होते हैं। इस प्रकार पहले (शुक्ल) पक्ष में जो-जो चन्द्र-सम्बन्धी जल (किरणों या कलाओं की वृद्धि के रूप में) समागत होते हैं रश्मियाँ उन्हें ही दूसरे (कृष्ण) पक्ष में [कलाओं के ह्रास के रूप में] पीती हैं। ऐसा वैदिक उद्धरण भी है—जिस अक्षय सोम को अक्षय सूर्यरश्मियाँ पीती हैं। उसी सोम को वे पूर्वपक्ष (शुक्लपक्ष) में आप्यायित (समृद्ध) करती हैं। इसका पोषक वैदिक उद्धरण भी है—जिस प्रकार देवगण चन्द्रमा को (सोम को) पूर्ण करते हैं।

विशेष—उपर्युक्त मन्त्र में इन्द्र-द्वारा तीस सरोवरों के पान की भौतिक व्याख्या भी की गयी है जो नैरुक्त-सम्प्रदाय की व्याख्या के रूप में निर्दिष्ट है। इन्द्र सोम के तीस सरोवरों को एक ही साथ पी गये। यहाँ इन्द्र आदित्य है जो प्रत्येक मास में शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाओं की वृद्धि करता है। पुनः वही कृष्णपक्ष लगते ही एक ही क्रम (प्रतिधान) में उन सारी समृद्ध कलाओं का पान (नाश) कर लेता है। सोम का अर्थ चन्द्रमा की ज्योत्स्ना है जो क्रमशः सोमका पर्याय हो

गयी है। ऋग्वेद में चमसस्थ सोम को अंशु (व्यापक) भी कहा गया है। क्रमशः शुक्लत्व-रूप-साम्य के आधार पर सोम चन्द्रमा का पर्याय हो ही गया।

अध्रिगुः (४३) मन्त्रो भवति । गव्यधिकृतत्वात् । अपि वा प्रशासनमेवाभिप्रेतं स्यात् । तच्छब्दवत्त्वात् । 'अध्रिगो शमीध्वं सुशमि शमीध्वं शमीध्वमध्रिगो' (ऐ० ब्रा० २।१।७, मै० सं० ४।१३।४) इति । अग्निरप्यध्रिगुरुच्यते । 'तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः' (ऋ० ३।२१।४) अधृतगमन ! कर्मवन् इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते । 'अध्रिगव ओहमिन्द्राय' (ऋ० १।६१।१) इत्यपि निगमो भवति ।

आङ्गूषः (४४) स्तोम आघोषः । 'एनाङ्गूषेण वयमिन्द्रवन्तः' (ऋ० १।१०५।१९) । अनेन स्तोमेन वयमिन्द्रवन्तः ॥ ११ ॥

'अध्रिगु' का अर्थ है मन्त्र क्योंकि गौ (वाणी, पशु या पृथ्वी) के विषय में अधिकृत होता है (अधि + गो > अधिगु > अध्रिगु—जैसे 'चित्रगुः' । अथवा [अध्रिगु-शब्द के द्वारा] प्रशासन या आदेश का अर्थ व्यक्त करना ही अभिप्रेत है क्योंकि निम्नलिखित मन्त्र में 'अध्रिगु' शब्द से युक्त आदेश ही दिया गया है—हे अध्रिगो (पशुघातक, अप्रतिहत) ! कल्याण करो, हे कल्याणमय! तुम सब मिलकर कल्याण करो, हे अध्रिगो ! [यास्क का अभिप्राय है कि गवादि पशुओं के आलम्भन से सम्बद्ध मन्त्र 'अध्रिगु' हैं अथवा आदेश देने वाले मन्त्रों को 'अध्रिगु' कहते हैं—इस स्थिति में 'अध्रिगु' शब्द के मन्त्र-विशेष में प्रयोग के कारण उन मन्त्रों का यह नामकरण हुआ है जैसे पाणिनि के सूत्रों में 'तद्धित' का नामकरण ।]

अग्नि को भी 'अध्रिगु' कहा जाता है। अध्रिगु (अप्रतिहत) तथा शक्तिपूर्ण (शची—वः) देव ! आपके लिए ये सोम के बिन्दु चू रहे हैं। (अध्रिगो =) जिनकी गति बाधारहित है, (शचीवः =) कर्म से युक्त। इन्द्र को भी 'अध्रिगु' कहा जाता है। 'अप्रतिहत गति वाले इन्द्र के लिए मैं उत्कृष्ट (ओहम्) [स्तोम लाता हूँ।]' यह वैदिक उद्धरण भी है।

'आङ्गूष' का अर्थ है स्तोम जिसका ऊँचे स्वर से गान होता है (आघोष > आघूष > आंगूष) । इस 'आंगूष' (स्तोम) के द्वारा हम इन्द्र से युक्त होते हैं—इस स्तोम से हम इन्द्रवान् बन जाते हैं (इन्द्र हमारे हो जाते हैं) ॥ ११ ॥

विशेष—'अध्रिगु' की व्याख्या में निरर्थक खींचतान हुई है। वास्तव में यह इन्द्रादि देवों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाला शब्द है। यास्क का सर्वोत्तम तथा शुद्ध निर्वचन है—अधृतगमन। न + $\sqrt{}$धृ + $\sqrt{}$गम् = न ध्रियते इति अध्रिः

(√घृङ्+क्तिन्) । √गाङ्+कु=गुः । अध्रि च गु (गमनं) यस्य = अध्रिगुः = जिसकी गति अप्रतिहत हो । पोकोर्नी इसका अर्थ—'अप्रतिहत गति से जाने वाला' करता है । नाइसर अपने ऋग्वेदीय कोश में 'ध्रिगु' को अर्थ 'दुर्बल' करते हुए इसका सम्बन्ध अवेस्ता के drigu (निर्बल, दीन, कृपण) से दिखाता है । अतः 'अध्रिगु' का 'सबल' अर्थ हो सकता है किन्तु यह 'ध्रिगु' के कल्पित स्वतन्त्र प्रयोग पर आश्रित है । (देखें S. Varma, Ety. of Yaska. p. 124.) ॥ ११ ॥

(४५) आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी ।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः ॥
(ऋ० १०।८९।५)

(आपान्तमन्युः) कोप या दीप्ति का आधान हो जाने पर (तृपलप्रभर्मा) तेजी से प्रहार करने वाला, (धुनिः) पात्रों को कँपाने वाला, (शिमीवान्) संस्कार-रूप कर्म से युक्त या तेज, (शरुमान्) अभिषव के रूप में हिंसा से पूर्ण तथा (ऋजीषी) तलछट से युक्त (सोमः) सोमरस (विश्वानि) समस्त (अतसा-नि) अक्षय (वनानि) वनों को [व्याप्त करता है ।] (प्रतिमानानि) सभी उपमान भी (अर्वाक्) न्यूनगुण होने के कारण (इन्द्रं) इन्द्र-देवता को (न देमुः = दभ्नुवन्ति) पराभूत या अभिभूत नहीं कर सकते ।

विशेष—इस मन्त्र में मतान्तर से सोम या इन्द्र का वर्णन है । सोम के पक्ष में 'आपान्तमन्यु' का अर्थ है—दीप्ति (चमक) का आधार हो जाने पर । इन्द्र के पक्ष में 'मन्यु' का अर्थ कोप है । आपातित शब्द का आपान्त हो गया है । इस मन्त्र में अनेक क्लिष्ट शब्दों के रहने के कारण परवर्ती काल में इसे अविज्ञेय मन्त्र के रूप में अनेक बार उद्धृत किया गया है । तृपल-प्रभर्मा = तृप्र>सृप्र>क्षिप्र, प्रभर्मा = प्रहर्त्ता, तेजी से प्रहार (या प्रभाव) करने वाला । धुनि = कँपाने वाला (√धू) । शिमी = कर्म, अभिषव या सोम-संस्कार का कर्म । इन्द्र के पक्ष में—वीर कर्म । शिमीवान् = कर्मठ (active) । शरु = हिंसा, वज्र । ऋजीष = सोमरस को छान लेने के बाद बची हुई तलछट । 'अतस' का अर्थ आधुनिक पश्चिमी विद्वान् 'पौधा' करते हैं ।

आपातितमन्युः, तृप्रप्रहारी क्षिप्रप्रहारी (सृप्रप्रहारी) । सोमो वा इन्द्रो वा । धुनिः धूनोतेः । शिमीति कर्मनाम । शमयतेर्वा, शक्नोतेर्वा । ऋजीषी सोमः । यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तद् ऋजीषम् अपार्जितं भवति । तेन ऋजीषी सोमः । अथाप्यैन्द्रो निगमो भवति—'ऋजीषी वज्री' (ऋ० ५।४०।४) इति ।

जिसमें कोप (या प्रकाश) समुत्पन्न हो चुका है। जो आक्रमण (प्रहार) करने के लिए दौड़ता है, अर्थात् शीघ्रता से आक्रमण करता है [या गति के साथ प्रहार करता है]। यह गुण सोम या इन्द्र में है। 'धुनि' शब्द √धू (कँपा देना) से व्युत्पन्न है। 'शिमी' शब्द कर्म का पर्याय है जो 'शम्'-धातु (स्वयं परिश्रम करना) या 'शक्'-धातु (योग्य होना) से बना है। ऋजीषी (तलछट से युक्त) सोम। सोम को छानने के बाद जो (तलछट) अवशिष्ट रह जाती है उसे ही ऋजीष कहते हैं क्योंकि अपार्जित (परित्यक्त) किया जाता है (√अर्ज् > ऋज् + ईषन्, उणा० ४।२८)। इसीलिए सोम को 'ऋजीषी' (तलछट से युक्त) कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्र की उपाधि के रूप में भी इसका प्रयोग होता है— ऋजीषी, वज्रधारी (इन्द्र)।

हर्योरस्य स भागो धानाश्चेति। धाना भ्राष्ट्रेहिता भवन्ति। फले हिता भवन्तीति वा। 'बब्धां ते हरी धाना उप ऋजीषं जिघ्रताम्' (कुन्तापाध्यायः ६६) इत्यपि निगमो भवति। आदिनाभ्यासेनो-पहितेनोपधामादत्ते। बभस्तिरत्तिकर्मा। सोमः सर्वाण्यतसानि वनानि। नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि दभ्नुवन्ति। यैरेनं प्रतिमिमते नैनं तानि दभ्नुवन्ति। अर्वागेवैनमप्राप्य विनश्यन्तीति। इन्द्रप्रधाने त्येके। नैघण्टुकं सोमकर्म। उभयप्रधानेत्यपरम्।

सोम का वह भाग (तलछट का भाग) तथा धान (भुने हुए जौ) इन्द्र के दोनों घोड़ों के लिए होते हैं (इन्द्र को इसीलिए ऋजीषी कहते हैं कि उनके घोड़े सोम की तलछट खाते हैं)। 'धान' भट्ठी में भूँजे (रखे, √धा + क्त = हित = स्थापित) जाते हैं। अथवा फलक पर रखकर (√धा) सुखाये जाते हैं। इस रूप में वैदिक उद्धरण भी है—'आपके घोड़े धानों का भक्षण करें तथा सोमरस की तलछट को सूँघें।' 'बब्धाम्' की सिद्धि में भक्षणार्थक भस्-धातु (बभस्ति) के आरम्भ में अभ्यास वर्ण को उपस्थित करके (भस् भस् ताम् > भ भस् ताम् > बभस् ताम्) उपधा का आदान (निष्कासन, लोप) किया जाता है (बभ् स् ताम्—घसिभसोर्हलि च, पा० ६।४।१००)। [पुनः सकार लोप, भ् का जश्त्व (ब्) तथा त को ध में बदलकर 'बब्धाम्' की सिद्धि होती है। भट्टोजि-दीक्षित ने उक्त सूत्र की व्याख्या में यह उदाहरण दिया है—दे० वैदिक प्रक्रिया]।

सोमरस सभी अक्षय वनों को [व्याप्त करता है]। निम्नतर होने के कारण कोई भी प्रतिमान (प्रतिद्वन्द्वी या उपमान) इन्द्र को अभिभूत नहीं करते। जिनके साथ इन इन्द्र की उपमा दी जाती है वे पदार्थ इनको अभिभूत कहीं कर सकते। प्रत्युत न्यूनगुण होकर (अर्वाक्), इन इन्द्र का सामीप्य या सादृश्य न पाकर, स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि इस ऋचा में इन्द्र की प्रधानता है तथा सोम का अर्थ गौण (नैघण्टुक) महत्त्व का है। तथापि दूसरे लोग इनमें दोनों की प्रधानता मानते हैं (तीन पदों में सोम तथा अन्तिम में इन्द्र का वर्णन है)।

श्मशा (४६) शु अश्नुत इति वा। श्माश्नुत इति वा। 'अव श्मशा रुधद् वाः' (ऋ० १०।१०५।१)। अवारुधच्छ्मशा वारिति ॥ १२ ॥

'श्मशा' (जल) वह है जो शीघ्रता से (शु = आशु) दौड़ती है। अथवा जो शरीर को (श्म) व्याप्त किये हुई है (नाड़ी के अर्थ में)। [जिस प्रकार] नदी (श्मशा) जल को (वाः) रोके हुई है [उसी प्रकार हे इन्द्र ! हमारा स्तोत्र आपको कब रोक सकेगा ?] श्मशा (नदी) ने जल को रोक रखा है।

विशेष—'श्मशा' का प्रयोग पूरे ऋग्वेद में एक ही बार हुआ है। दुर्गाचार्य के अनुसार इसका अर्थ 'नदी' वा 'नाड़ी' है। रॉथ इसे 'अश्मन्' से सम्बद्ध मानकर इसका अर्थ ऊँचा किनारा या तट करते हैं।

तृतीय पाद

उर्वशी (४७) अप्सरा। उरु अभ्यश्नुते। ऊरुभ्यामश्नुते। उरुर्वा वशोऽस्याः। अप्सरा अप्सारिणी। अपि वाप्स इति रूपनाम। अप्सातेः। अप्सानीयं भवति। आदर्शनीयं व्यापनीयं वा। स्पष्टं दर्शनायेति शाकपूणिः।

उर्वशी एक अप्सरा (का नाम) है। वह विशाल क्षेत्र को व्याप्त करती है (उरु + √अश् = उर्वश् + इन् = उर्वशिः + ङीष् = उर्वशी, विद्युत—दुर्ग तथा स्कन्द)। अपनी जंघाओं (ऊरुभ्यां) के द्वारा [संभोगकाल में पुरुष को][1] व्याप्त करती है। अथवा उसकी इच्छा (वशः = कामः) बहुत बड़ी है (उरुवशिनी > उरुवशी > उर्वशी)।

'अप्सरा' (जल-परी) वह है जो जल में (अप्) संचरण करे (सरति)। अथवा 'अप्सस्' रूप का पर्याय है जो नञ् (अ) + √प्सा (भक्षण करना) से बना है। जिसका भक्षण नहीं किया जाता, प्रत्युत जिसे देखा जाता है (√दृश्) या व्याप्त किया जाता है (√आप् > अप्सस्)। शाकपूणि का कथन है कि [रूप] स्पष्ट दर्शन के लिए होता है (स्पष्ट > अप्सस् या दर्शनाय स्पष्टम् दस्प—दप्स > अप्स)।

---

१. द्र० दुर्गः—ऊरुभ्यां मैथुने धर्मे पुरुषम्। (निरुक्तसम्मर्शे—) उरुभ्यां विस्तृतभ्यां धाराभ्यां शुष्काद्राभ्यामश्नुते व्याप्नोति हि विद्युत्।

'यदप्सः' (कठ सं० ९।४, मै० सं० १।१०।१२) इत्यभक्षस्य। 'अप्सो नाम' (वाज० सं० १४।४) इति व्यापिनः। तद्रा भवति रूपवती। तदनयात्तमिति वा। तदस्यै दत्तमिति वा। तस्या दर्शनान्मित्रावरुणयोः रेतश्चस्कन्द। तदभिवादिनी एषा ऋग्भवति— ॥ १३ ॥

'जो निषिद्ध अन्न'—इसमें 'अप्सस्' अभक्ष्य के अर्थ में है। 'वस्तुतः व्यापक'—इसमें वह शब्द व्यापक के अर्थ में है। इस प्रकार निरुक्त होने वाले 'अप्सस्' (रूप) का आदान करने वाली (अप्सः रूपम् राति आदत्ते इति) को 'अप्सरा' कहते हैं अर्थात् रूपवती। अथवा उक्त अप्सस् (रूप) का आदान इसके द्वारा हुआ है अथवा वह (रूप) उसे दिया गया है (सर्वत्र 'अप्सस् + √रा = देना' से इसका निर्वचन हुआ है)।

उस (उर्वशी) को देखकर, मित्र और वरुण का वीर्य स्खलित हो गया[१] (√स्कन्द् = स्खलित होना, लिट् लकार)। इसका वर्णन करने वाली निम्नलिखित ऋचा है ॥ १३ ॥

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥

(ऋ० ७।३३।११)

(वसिष्ठ) हे वसिष्ठ ! (उत) और आप (मैत्रावरुणः) मित्र तथा वरुण के पुत्र (असि) हैं, (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन् ! आप (उर्वश्याः) उर्वशी नामक अप्सरा के (मनसः) मन से (अधिजातः) उत्पन्न हुए हैं। (दैव्येन ब्रह्मणा) देवताओं से सम्बद्ध स्तुतियों के द्वारा (विश्वेदेवाः) सभी देवों ने या विश्वदेव नामक देवताओं ने (पुष्करे) अन्तरिक्ष में (द्रप्सं) शुक्र के रूप में (स्कन्नं) स्खलित हुए (त्वा) आपको (आददन्त) धारण किया था।

विशेष—वसिष्ठ को मैत्रावरुण माना गया है। इन देवताओं का वीर्य उर्वशी को देखकर दिव्य उत्तेजना से (दैव्येन ब्रह्मणा) स्खलित हो गया था जिससे वसिष्ठ का जन्म हुआ—अन्तरिक्ष में स्थित वसिष्ठ को अन्य देवताओं ने पाया। दूसरे विद्वान् इसका प्राकृतिक दृश्य से सम्बद्ध अर्थ करते हैं—वसिष्ठ = आकाशीय जल। मित्र-वरुण = रश्मिसमूह वाला सूर्य तथा सूक्ष्म वाष्प से युक्त वायु, इन्हीं के सहयोग से जल उत्पन्न होता है। उर्वशी (विद्युत) के मन में (घर्षण) से तुम उत्पन्न हो। जल की बूँदें (द्रप्स drops) जब गिरने लगीं तब रश्मियों ने

१. तुलनीय—बृहद्देवता (५।१५५)।

अपने परिवृंहित तेज के द्वारा उन्हें अन्तरिक्ष में धारण कर लिया। द्र०—निरुक्त-सम्मर्श, पृ० ३१८। इस प्रकार यहाँ आलंकारिक वर्णन है।

अप्यसि मैत्रावरुणो वसिष्ठ ! उर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः। द्रप्सं स्कन्नम्। ब्रह्मणा दैव्येन। द्रप्सः संभृतः। प्सानीयो भवति। सर्वे देवाः पुष्करे त्वाधारयन्त। पुष्करमन्तरिक्षम्। पोषति भूतान्युदकं पुष्करम्। पूजाकरं पूजयितव्यम्। इदमपीतरत्पुष्करमेतस्मादेव। पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्पं पुष्पतेः।

वयुनं (४८) वेतेः। कान्तिर्वा प्रज्ञा वा ॥ ११ ॥

वसिष्ठ, आप सचमुच मित्र-वरुण के पुत्र हैं तथा हे ब्रह्मन्, आप उर्वशी के मन से उत्पन्न हुए हैं। शुक्र का स्खलन हुआ था—दिव्य उत्तेजना में (या देवसम्बद्ध स्तुतियों के द्वारा)। द्रप्स (बूँद) पूर्णतया पुष्ट है[1] तथा भक्षणीय भी है (√भृ+√प्सा > भृप्स > द्रप्स)। सभी देवताओं ने आपको अन्तरिक्ष (पुष्कर) में धारण किया। पुष्कर = अन्तरिक्ष क्योंकि सभी जीवों को पुष्ट करता है (√पुष्+√कृ)। जल को भी पुष्कर कहते हैं क्योंकि पूजा का सम्पादक है (√पूज्+√कृ) या स्वयं ही पूज्य है (√पूज्)। [कमल के अर्थ में] जो यह दूसरा पुष्कर शब्द है वह भी इसी प्रकार बना है (पूजा का साधन या पूज्य है)। अथवा वह पुष्कर शरीर को अलंकृत करने का साधन है (वपुष्कर > पुष्कर)। प्रसंगतः (कमल के एक पुष्प-विशेष होने के कारण 'पुष्प' का निर्वचन भी किया जाता है) 'पुष्प' का निर्वचन √पुष्प् (खिलना, विकास) से होता है।

'वयुन' शब्द √वी (गूँथना, गति, कान्ति) से बना है। इसका अर्थ इच्छा या बुद्धि है ॥ १४ ॥

'स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार' (ऋ० ६। २१।३)। स तमोऽप्रज्ञानं ततन्वत्। स तं सूर्येण प्रज्ञानवच्चकार।

वाजपस्त्यं (४९) वाजपतनम्। 'सनेम वाजपस्त्यम्' (ऋ० ९।९८।१२) इत्यपि निगमो भवति। वाजगन्ध्यम् (५०) गध्यत्युत्तरपदम्। 'अश्याम वाजगन्ध्यम्' (ऋ० ९।९८।१२) इत्यपि निगमो भवति।

उस (इन्द्र) ने ही इस अगम्य अन्धकार का प्रसारण किया, पुनः सूर्य के द्वारा उसे गम्य बनाया। उसने ऐसा अन्धकार फैलाया जिसमें कुछ सूर्य के द्वारा भी ज्ञान

---

१. दुर्ग—पुरुषस्याङ्गादङ्गात्सम्भृतः स्त्रीयोनेः प्सानीयो भवति भक्षणीयो भरणीयश्च।

नहीं हो सके (अवयुनम् = अप्रज्ञानम्)। उसी ने उसे प्रज्ञान से युक्त (ज्ञातव्य) बनाया।

'वाजपस्त्य' अर्थात् वाज (बल) का आधान कराने वाला (सोमरस)। इसका वैदिक उद्धरण भी है--हम सोम प्राप्त करें (वाज + √पत् > वाजपत्य > वाजपस्त्य)। 'वाजगन्ध्य' अर्थात् वाजगध्य (बल का मिश्रण करने वाला)। उत्तरपद में स्थित शब्द √गध् (मिश्रीकरण) से निष्पन्न है। हम शक्तियों का मिश्रण करने वाले सोम का भक्षण करें--यह वैदिक उद्धरण भी है।

गध्यं (५१) गृह्णातेः। 'ऋज्रा वाजं न गध्यं युयूषन्' (ऋ० ४।१६।११) इत्यपि निगमो भवति। गध्यतिः मिश्रीभावकर्मा। 'आ गधिता' परि गधिता' (ऋ० १।१२६।६) इत्यपि निगमो भवति।

कौरयाणः (५३) कृतयानः। 'पाकस्थामा कौरयाणः' (ऋ० ८।३।२१) इत्यपि निगमो भवति। तौरयाणः (५४) तूर्णयानः। 'स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः' इत्यपि निगमो भवति।

'गध्य' शब्द √ग्रह् (पकड़ना) से व्युत्पन्न है। 'हे इन्द्र, आप (ऋज्रा) ऋजु-मार्ग से जाते हैं तथा (गध्यं वाजं न) ग्रहण करने योग्य अन्न के समान (युयूषन्) शत्रुओं से मिश्रित होने की इच्छा करते हुए....'—यह वैदिक उद्धरण भी है।[1] ['गधिता' शब्द की व्याख्या करने के लिए उसमें स्थित धातु का अर्थ करते हैं—] गध्—धातु का अर्थ है मिश्रित करना। 'सब ओर से मिश्रित' 'चारों ओर से मिश्रित'—यह वैदिक उद्धरण भी है।

'कौर-याण' का अर्थ है कृत-यान (जिसका रथ सज्जित है)। यह वैदिक उद्धरण है—परिपक्व (पूर्ण) बल वाले तथा सज्जित रथ से युक्त (इन्द्र)। 'तौर-याण' का अर्थ है जिसका रथ (यान) तीव्र गति से (तूर्ण) चले। इसका वैदिक उद्धरण भी है—तीव्र गति वाले हे इन्द्र ! अपने मित्र मरुतों के साथ समान शक्ति (या प्रीति) से सम्पन्न होकर इस यज्ञ में आइए।[2]

अह्रयाणः (५५) अह्रीतयानः। 'अनुष्ठुया कृणुह्यह्रयाण' (ऋ० ४।४।१४) इत्यपि निगमो भवति। हरयाणः (५६) हरमाणयानः। 'रजतं हरयाणे' (ऋ० ८।२५।२२) इत्यपि निगमो भवति।

---

१. निरुक्तसम्मर्शः—(ऋजा) सीधे-सादे दोनों घोड़ों को, ग्राह्य अन्न के समान रथ से (युयूषन्) युक्त करने की इच्छा करते हुए....।

२. यह उद्धरण प्राप्त वैदिक शाखा के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

'य आरितः (५७) कर्मणिकर्मणि स्थिरः' (ऋ० १।१०१।४) प्रत्यृतः स्तोमान् । व्रन्दी (५८) व्रन्दतेः मृदुभावकर्मणः ॥ १५ ॥

'अह्रयाण' का अर्थ है जिसका रथ शिथिल नहीं (वह रथ उन्हें लज्जास्पद नहीं बनाता—नञ् (अ)+√ह्री > अह्र)। हे अशिथिल रथ वाले इन्द्र! अनुष्ठान-कर्म के द्वारा आप वही काम करें (जिसकी मैं याचना करूँ)। 'हरयाण' शब्द का अर्थ है जिसका रथ अविरतगति से चलता है। यह वैदिक उद्धरण भी है—जिसका रथ निरन्तर चलता है उस पर हमने रजत (पाया)।

['आरितः' शब्द का निगम है—] जो स्तोम में पहुँचकर प्रत्येक कर्म में स्थिर है। आरितः—स्तोमोंमें पहुँचा हुआ (√ऋ = जाना, ऋ + यङ् लुक् + क्त)। 'व्रन्दी' शब्द मृदुभाव अर्थ वाले व्रन्द-धातु से निष्पन्न है ॥ १५ ॥

'नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना (ऋ० १।५४।५)। निवृणक्षि यच्छ्वसनस्य मूर्धनि शब्दकारिणः शुष्णस्यादित्यस्य च शोषयितू रोरूयमाणो वनानीति वा। वधेनेति वा।

'अव्रदन्त वीळिता' (ऋ० २।२४।३) इत्यपि निगमो भवति। वीळयतिश्च व्रीळयतिश्च संस्तम्भकर्माणो पूर्वेण सम्प्रयुज्येते।

हे इन्द्र! जब आप (रोरुवत्) गर्जन करते हुए (श्वसनस्य) वायु की तथा (व्रन्दिनः) फलादि में मृदुता लाने वाले (शुष्णस्य) शोषक आदित्य की (चित्) भी (मूर्धनि) मूर्धा पर, ऊपर (वना-नि) जलों को (निवृणक्षि) स्थापित करते हैं, नीचे गिराते हैं। जब आप श्वसन अर्थात् शब्द करने वाले (वायु) के तथा शुष्ण अर्थात् शोषण करने वाले आदित्य के मस्तक पर, गरजते हुए (रोरूयमाणः), जलों की स्थापना करते हैं। अथवा [वना का अर्थ है] वध के द्वारा। [मेघ को मारकर आप जल का विसर्जन करते हैं।]

[इस शब्द में स्थित 'व्रन्द'-धातु का प्रयोगान्तर लें—] दृढ़ पदार्थ भी कोमल हो जाते हैं (अव्रदन्त = √व्रन्द + लङ्, झ)। यह भी वैदिक उद्धरण है। 'कठोर होना' के अर्थ वाले 'व्रीड्' तथा 'व्रीड्' क्रियायें पूर्वोक्त 'अव्रदन्त' के साथ जोड़ दी जाती हैं [= 'कोमल होता है' (व्रन्दते) का अर्थ सदा ही—'कठोर पदार्थ का कोमल होना' किया जाता है]।

निष्षपी (५९) स्त्रीकामो भवति। विनिर्गतसपः। सपः सपतेः स्पृशतिकर्मणः। 'मा नो मघेव निष्षपी परा दाः' (ऋ० १।१०४।५)। स यथा धनानि विनाशयति मा नस्त्वं परादाः। तूर्णाशम् (६०) उदकं भवति। तूर्णमश्नुते। 'तूर्णाशं न गिरेरधि' (ऋ० ८।३२।४)

इत्यपि निगमो भवति। क्षुम्पम् (६१) अहिच्छत्रकं भवति। यत्क्षुभ्यते ॥ १६ ॥

'निष्षपी' का अर्थ स्त्रीकामी पुरुष, जिसकी जननेन्द्रिय (सपः, शेपः) सदा विनिर्गत (उत्थित) रहे।[1] 'सप' शब्द√सप्-धातु से बना है जिसका अर्थ है स्पर्श करना (जिसके द्वारा स्त्री का स्पर्श किया जाय—दुर्गः)। हे इन्द्र ! जिस प्रकार लम्पट व्यक्ति (निष्षपी) अपने धन को (मघा-नि) [जिस-किसी को भी देता चलता है] उसी प्रकार आप हमें दूसरों को न दे दें। वह जिस प्रकार अपने धनों का अपव्यय दूसरों पर करता है, आप हमें उसी प्रकार दूसरों के अधिकार में नहीं दें।

'तूर्णाशम्' जल को कहते हैं जो शीघ्र फैल जाता है (तूर्ण+अश्)। इसका वैदिक उद्धरण भी है—गिरि (मेघ) के अन्तर्गत जल के समान। 'क्षुम्प' का अर्थ है अहिच्छत्र (mushroom) वर्षा में उगने वाला श्वेतवर्ण का वनस्पति-विशेष)। यह शीघ्रता से हिलाया जा सकता है (√क्षुभ् > क्षुम्प, तुलनीय—क्षुप = पौधा)।

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्।
कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग॥ (ऋ० १।८४।८)

(इन्द्रः) इन्द्र-देवता (कदा) कब (अराधसं मर्तम्) आराधना न करने वाले मनुष्य को (पदा क्षुम्पमिव) पैर से अहिच्छत्र के समान (स्फुरत्) कुचल देंगे ? (कदा) कब वे (नः गिरः) हमारी स्तुतियों का (अङ्ग) शीघ्र (शुश्रवत्) श्रवण करेंगे ?

कदा मर्तमनाराधयन्तं पादेन क्षुम्पमिवावस्फुरिष्यति। कदा नः श्रोष्यति च गिरः इन्द्रो अङ्ग। अङ्गेति क्षिप्रनाम। अञ्चितमेवाङ्क्तं भवति।

निचुम्पुणः (६२) सोमः। निचान्तपृणः। निचमनेन प्रीणाति॥ १७॥

(इन्द्र) कब आराधना न करने वाले (भक्ति-विहीन) मनुष्य को पैर से अहिच्छत्र के समान मार डालेंगे ? तथा कब इन्द्र हमारी स्तुतियों को शीघ्र सुनेंगे ? 'अङ्ग' का अर्थ है शीघ्र। जो अंचित (विगत, √अञ्च्) है वही अंकित (लक्षित, √अङ्क्) होता है। [बीती घटना को ही अंकित किया जा सकता है। यह

१. स्त्रीकामः पुंश्चलोऽभिधेयः। स हि नित्यं निर्गतशेप एव भवति (दुर्गः)। नित्योत्थितः शेपो यस्य (स्कन्दः)।

उक्त 'अङ्ग' शब्द की क्षिप्रार्थकता से इतना ही सम्बन्ध रखती है कि √अङ्क् = शीघ्र लक्षित करना, निरूपित करना—से 'अङ्ग' शब्द बना है।]

'निचुम्पुण' का अर्थ है सोम, निचान्त (भक्षित या गृहीत होने पर, √चम्) यह प्रसन्न करता है (पृणः) अर्थात् भक्षण के द्वारा प्रसन्न करता है। [नि + √चम् + √प्री > निचम् पृण > निचुम्पुण। स्वामी ब्रह्ममुनि नेनि + चुप् (मन्दगमन) से इसका निर्वचन माना है।] ॥ १७ ॥

पत्नीवन्तः सुता इम उशन्तो यन्ति वीतये।
अपां जग्मिर्निचुम्पुणः ॥ (ऋ० ८।९३।२२)

(पत्नीवन्तः) जल से युक्त (इमे) ये (उशन्तः) कामना करने वाले (सुताः) सोमरस (वीतये) इन्द्र के भोजनार्थ (यन्ति) जा रहे हैं। (निचुम्पुणः) सोमरस (अपां) जलों की ओर (जग्मिः) फैलता है।

पत्नीवन्तः सुता इमेऽद्भिः सोमाः कामयमानाः यन्ति वीतये पानाय। अपां गन्ता निचुम्पुणः। समुद्रोऽपि निचुम्पुण उच्यते। निचमनेन पूर्यते। अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते। नीचैरस्मिन्क्वणन्ति। नीचैर्दधति इति वा। 'अवभृथ निचुम्पुण' (वाज० ३।४८) इत्यपि निगमो भवति। निचुम्पुण निचुङ्क्रुणेति च। पदिः (६३) गन्तुर्भवति। यत्पद्यते ॥ १८ ॥

ये कामनायुक्त सोमरस पत्नीवान् अर्थात् जल से पूर्ण हैं, वीति अर्थात् पान के लिए चले जा रहे हैं। सोम (निचुम्पुण) जल की ओर जाता है। समुद्र भी 'निचुम्पुण' कहलाता है क्योंकि निचमन (जल) के द्वारा पूरा भरा रहता है (निचमनपूर्ण + निचुम्पुण)। अवभृथ (यज्ञ के अन्तिम स्नान) को भी निचुम्पुण कहते हैं क्योंकि इस अवसर पर निम्नस्वर से पाठ करते हैं (नीचैः क्वण् + नीचंकुण + निचुम्पुण) अथवा यज्ञपात्रों को (इस समय) अधोमुख करके जल में रख देते हैं। इस प्रसंग में वैदिक उद्धरण भी है—हे अवभृथ ! हे निचुम्पुण ! (मन्दस्वर पाठ से युक्त यज्ञान्त स्नान !) 'निचुम्पण' शब्द निचुंकुण के रूप में भी मिलता है (दोनों का अर्थ अवभृथ-स्नान ही हैं)।

'पदि' का अर्थ है जाने वाला क्योंकि वह चलता है (√पद्) ॥ १८ ॥

सुगुरसत् सुहिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति ॥
(ऋ० १।१२५।२)

[वही यजमान] (सुगुः) अच्छी गायों से युक्त (सुहिरण्यः) प्रचुर स्वर्णादि से युक्त तथा (स्वश्वः) अच्छे घोड़ों का अधिकारी (असत् = भवति) हो जाता है, (अस्मै) उसी को (इन्द्रः) इन्द्र-देवता भी (बृहत् वयः) प्रचुर अन्न (दधाति) देते हैं (यः) जो यजमान (आयन्तं त्वा) तुम्हें आते हुए जानकार, (प्रातरित्वः) हे प्रातःकाल के अतिथि ! (वसुना) हव्यरूप धन से उसी प्रकार (उत्सिनाति) बाँध लेता है (मुक्षीजया पदिम् इव) जिस प्रकार जाल के द्वारा कोई उड़ने वाले पक्षी को [बाध लेता है, पकड़ लेता है] ।

विशेष—'पदि' शब्द का निगम दिखलाने के लिए यह ऋचा दी गयी है। इसमें प्रातःकालीन अतिथि इन्द्र को माना गया है। उनके लिए जो यजमान हव्य प्रदान करता है उसे धन-धान्य, गाय-घोड़े सब हो जाते—अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों की यही विषय-वस्तु है।

सुगुर्भवति । सुहिरण्यः । स्वश्वः । महच्चास्मै वय इन्द्रो दधाति । यस्त्वायन्तमन्नेन प्रातरागामिन् अतिथे ! मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति कुमारः । मुक्षीजा मोचनाच्च सयनाच्च तननाच्च ।

वह अच्छी गायों वाला, प्रचुर स्वर्ण वाला तथा अच्छे घोड़ों वाला हो जाता है। और इन्द्र उसे विपुल अन्न (या जीवन) प्रदान करते हैं। हे प्रातःकाल आने वाले अतिथि, जो तुम्हें आते हुए जानकर हव्यान्न से (बाँध लेता है)। जैसे कोई बालक जाल के द्वारा पक्षी को पकड़ लेता है। 'मुक्षीजा' का निर्वचन [एक ही साथ तीन धातुओं से होता है—] मुच् (जिससे पक्षियों को मुक्त करना पड़े), सि-धातु (बाँधना) तथा तन्-धातु (फैलाना, जिसे फैलाया जाय) से। (मुच्+सि+तन्>मुक् षी ता>मुक्षीजा, त का ज)।

पादुः (६४) पद्यतेः ।

आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते । (ऋ० १०।२७।२४) आविष्कुरुते भासमादित्यः । गूहते बुसम् । बुस-मित्युदकनाम । ब्रवीतेः शब्दकर्मणः । भ्रंशतेर्वा । यद् वर्षन् पातयत्यु-दकं रश्मिभिस्तत्प्रत्यादत्ते ॥ १९ ॥

'पादु' (चरण, गति) शब्द √पद् (चलना) से बना है। (स्वः) ज्योति को (आविः कृणुते) प्रकाशित करता है (बुसं गूहते) जल को अपनी रश्मियों में छिपा लेता है, (अस्य निर्णिजः) इस स्वच्छ आदित्य का (स पादुः) वह चरण (न मुच्यते) कभी मुक्त नहीं होता, रुकता नहीं।

आदित्य प्रकाश को उत्पन्न करता है। जल को छिपाता है। 'बुस' जल का पर्याय है। यह 'शब्द करना' अर्थ वाले √ब्रू से बना है या √भ्रंश् (गिरना) से

हो सकता है। वृष्टि करते हुए जो कुछ भी जल गिराता है उसे अपनी किरणों से पुनः खींच लेता है ॥ १९ ॥

चतुर्थ पाद

वृकः (७५) चन्द्रमा भवति। विवृतज्योतिष्को वा। विकृतज्योतिष्को वा। विक्रान्तज्योतिष्को वा ॥ २० ॥

'वृक' का अर्थ है चन्द्रमा। इसकी ज्योति प्रकाशित (विवृत) होती है या इसकी ज्योति विकृत है (ज्योति में उष्णता-धर्म होता है जब कि चन्द्रमा की ज्योति शीतल है—यही विकृति है)। अथवा [अन्य तारों की अपेक्षा] इसकी ज्योति विक्रान्त (अत्यधिक) होती है।

अरुणो मासकृद्वृकः पथा यन्तं ददर्श हि।
उज्जिहीते निचाय्या तष्टेव पृष्ठ्यामयी वित्तं मे अस्य रोदसी ॥
(ऋ० १।१०५।१८)

(अरुण) समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाले (मासकृद्) तथा मास के उत्पादक (वृकः) चन्द्रमा ने (पथा यन्तं) मार्ग पर जाते हुए नक्षत्र-समूह को (ददर्श हि) देख लिया है। (निचाय्य) देखकर (पृष्ठ्य+आमयी) पीठ में रोग से युक्त (तष्टा इव) बढ़ई की भाँति (उज्जिहीते) ऊपर उठता है, (रोदसी) हे द्यावापृथिवी! (मे अस्य वित्तम्) आप दोनों मेरे इस वर्णन को जानते हैं।

विशेष—यहाँ द्यावापृथिवी की स्तुति है। चन्द्रमा ने अन्य नक्षत्रों को तो अपनी ज्योत्स्ना से उद्भासित किया है, हमलोगों को नहीं किया। अतः हमारा उद्धार नहीं हो रहा। चन्द्रमा तो नक्षत्रों को देखकर ही ऊपर उठ गये, हम लोग रह ही गये। बढ़ई लकड़ी का काम करते-करते थककर पृष्ठदेश में वेदना (आमय=रोग) का अनुभव करने लगता है तब विश्राम के लिए उठ जाता है, अंगड़ाई लेता है। इसी प्रकार चन्द्रमा भी अपना काम करके उठ रहे हैं—वे विश्राम की मुद्रा में हैं—अब हमारा उद्धार क्या करेंगे? अतः हे द्यावापृथिवी, आप ही मेरे उद्धारक बनें।

अरुण आरोचनः। मासकृन्मासानां चार्धमासानां च कर्ता भवति चन्द्रमाः वृकः। पथा यन्तं ददर्श नक्षत्रगणम्। अभिजिहीते निचाय्य येन येन योक्ष्यमाणो भवति चन्द्रमाः। तक्ष्णुवन्निव पृष्ठरोगी। जानीतं मेऽस्य द्यावापृथिव्याविति।

अरुण = चमकीला (√रुच् > अरुण)। मासकृत् मासों तथा अर्धमासों का कर्ता वह वृक या चन्द्रमा है। वह मार्ग से जाते हुए नक्षत्र-समूह को देख चुका है। यह देखकर कि चन्द्रमा किस-किस नक्षत्र से संयुक्त हो सकेगा, वह ऊपर उठता है।

मानो लकड़ी का काम करते हुए पृष्ठरोगी (बढ़ई) हो। हे द्यावापृथिवी! आप मेरे इस उद्योग को जान लें।

आदित्योऽपि वृक उच्यते। यदा वृङ्क्ते।

'अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो यत्सीममुञ्चतं वृकस्य।' (ऋ० १।११७।१६) आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता। तामश्विनौ प्रमुमुचतुः—इत्याख्यानम्। श्वापि वृक उच्यते। विकर्तनात्। 'वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः' (ऋ० ८।६६।८)। उरणमथिः। उरण ऊर्णावान् भवति। ऊर्णा पुनः वृणोतेः। ऊर्णोतेर्वा।

आदित्य को भी 'वृक' कहा जाता है क्योंकि वह (अन्धकार को) दूर करता है (वृज् = वर्जन करना)। हे अश्विन्-युगल! (वर्तिका) आवर्तनशील अर्थात् बार-बार आने जाने वाली उषा ने (वाम्) आप दोनों को (अजोहवीत्) बुलाया था (यत्) जब कि आप दोनों ने (वृकस्य) आदित्य के (आस्नः) मुख से (सीम्) उसे (अमुञ्चतम्) छुड़ा दिया था। आदित्य से अभिग्रस्त होकर उषा ने अश्विनों को पुकारा। उसे अश्विनों ने मुक्त कराया—यह वैदिक आख्यान (कथा) है।

कुत्ते (श्वन्) को भी वृक् कहते हैं क्योंकि यह विशेष रूप से काट लेता है (वि + √कृन्त् > विकृ > वृक)। 'उन इन्द्र का कुत्ता ही शत्रुओं का निवारक तथा (उरामथिः) मेघ को मर्दित करने वाला है।' (उरामथि =) उरणमथि (भेड़ों को विदलित करने वाला)। उरण = ऊर्णा (ऊन) से भरा हुआ। 'ऊर्णा' शब्द √वृ से (आच्छादन करना, जो शीतत्राण के लिए आवरण है)। अथवा उर्णुञ्-धातु से (= आच्छादन करना)।

वृद्धवाशिन्यपि वृक्युच्यते।

'शतं मेषान् वृक्ये' चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।' [ऋ० १।११६।१६] इत्यपि निगमो भवति।

जोषवाकम् [६६] इत्यविज्ञातनामधेयम्। जोषयितव्यं भवति॥ २१॥

जोरों से चिल्लाने वाली (शृगाली) को भी 'वृकी' कहते हैं। इसका वैदिक उद्धरण भी है—(वृक्ये) सियारिन को (शतं मेषान्) एक सौ भेड़ें (चक्षदानम्) दानवस्वरूप देने का आदेश करने वाले (तम् ऋज्राश्वम्) उस ऋज्राश्व नामक राजकुमार को (पिता) उसके पिता ने (अन्धं चकार) अंधा कर दिया (देखें—सायणभाष्य)।

'जोषवाक' अविज्ञात का पर्याय है, जिसे ज्ञात किया जाय॥ २१॥

विशेष—'वृक' का निर्वचन करने में यास्क की यान्त्रिक प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। विभिन्न अर्थों में आने वाले इस शब्द का अर्थान्तर सरलता से दिखलाया जा सकता था। किन्तु यास्क सभी अर्थों के लिए नये-नये निर्वचन देते हैं। तुल० ग्रीक—Lukas, जर्मन wulf, अंग्रेजी wolf, इसमें र—ल का अभेद द्रष्टव्य है। इसी प्रकार ऊर्णा की तुलना भी अंग्रेजी के woollen से की जा सकती है। 'चक्षदान' का अर्थ स्कन्द ने 'नाश करने वाले को' (√क्षद्+कानच्) ऐसा किया है। यही अर्थ ब्रह्ममुनि को भी अभीष्ट है। दुर्ग 'चक्षद्दानन्' पाठ रखते हैं—चक्षत् = आदेश दिया। दानम्=दान करने का। चक्ष-दान (आदिष्टं दानं येन सः) के रूप में इसे Governing Compound भी रखा जा सकता है।

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां स्तवत्तेष्वृतावृधा।
जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन॥

[ऋ० ६।५९।४]

(ऋतावृधा—ऋतवृधौ) यज्ञ की समृद्धि करने वाले (पज्रहोषिणा) प्रभूत हव्य भाग पाने वाले (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र तथा अग्नि (देवा-देवौ) देवता! (सुतेषु) सोम का सवन हो जाने पर (यः) जो यजमान (वाम्) आप दोनों की (स्तवत्) अर्थज्ञानसहित स्पष्ट रूप से स्तुति करता है (तेषु) उन्हीं यजमानों के [दिये हुए सोम का पान आप लोग करते हैं, दूसरी ओर] (जोषवाकं) अस्फुट शब्दों में, अर्थज्ञान से शून्य (वदतः) स्तुति करने वाले का [दिया हुआ सोम आप] (न भसथः चन) कभी भी ग्रहण नहीं करते।

विशेष—इसमें अर्थज्ञान से युक्त स्तोत्रपाठ का माहात्म्य वर्णित है। 'ऋतावृधा' का अर्थ सायण तथा स्कन्द ने 'सत्य, यज्ञ या उदक को बढ़ाने वाले' किया है।

य इन्द्राग्नी सुतेषु वां सोमेषु स्तौति तस्याश्नीथः। अथ योऽयं जोषवाकं वदति विजञ्जपः प्रार्जितहोषिणौ न देवौ तस्याश्नीथः।

कृत्तिः [६७] कृन्ततेः। यशो वान्नं वा। 'महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र' [ऋ० ८।९०।६)। सुमहत्त इन्द्र शरणमन्तरिक्षे कृत्तिरिवेति। इयमपीतरा कृत्तिरेतस्मादेव सूत्रमयी, उपमार्थे वा।

कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि—[यजु० १६।५१]

अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः—[यजु० ३।६१] इत्यपि निगमौ भवतः।

हे इन्द्र तथा अग्नि ! सोम का सवन हो जाने पर जो स्तवन करता है उसका सोम आप ग्रहण (भक्षण) करते हैं। किन्तु जो अस्पष्ट वाणी में बोलता है, कुत्सित जप करने वाला है (जंजप्यते विशेषेण = विजंजपः) प्रकृष्ट रूप से हव्य (होष) को अर्जित करने वाले देवद्वय ! उसका सोम आप ग्रहण नहीं करते।

'कृत्ति' का निर्वचन √कृत् (छेदन) से होता है जिसके दो अर्थ हैं—यश या अन्न। [यश से शत्रुओं का हृदय छिन्न-भिन्न होता है, अन्न का यदि अनुचित उपयोग हो तो आयु काट देता है—दुर्ग।] हे इन्द्र ! आपका शरणस्थल (रक्षा) (अन्तरिक्ष) कृत्ति (यश या अन्न) के समान विस्तीर्ण है। हे इन्द्र ! आपका अन्तरिक्षस्थ गृह (या रक्षाविधि) आपके यश (या आपके द्वारा दिये गये अन्न) के समान ही विस्तीर्ण है।

यह जो [वस्त्र या कन्था के अर्थ में] दूसरा 'कृत्ति' शब्द है वह भी उसी (√कृत्) धातु से बना है सूतों से निर्मित (कृत्ति)। अथवा उपमा का अर्थ [प्रकाशित करने के कारण] वस्त्र को कृत्ति कहते हैं। कन्था को कटे हुए वस्त्रों से बनाते हैं, अथवा यह कृत्ति (चर्म) के समान होता है]। कृत्ति (चर्म या वस्त्र) पहने हुए विचरण करें, पिनाक (त्रिशूल) धारण करके आएँ। धनुष की डोरी गिराये हुए, चर्म पहने हुए तथा हाथ में त्रिशूल किये हुए। ये दोनों वैदिक उद्धरण हैं।

विशेष—दूसरा उद्धरण निरुक्त ३।२० में आ चुका है। प्रथम उद्धरण ही सम्भवतः यहाँ पर रहा होगा। किन्तु डा० सरूप ने उसे ही प्रक्षिप्त माना।

श्वघ्नी [६८] कितवो भवति। स्वं हन्ति। स्वं पुनराश्रितं भवति। 'कृतं न स्वघ्नी वि चिनोति देवने' (ऋ० १०।४३।५, अथ० २०।१७।५)। कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति देवने। कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः। कृतवान्वा। आशीर्नामकः।

समम् इति परिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम् ॥ २२ ॥

'श्वघ्नी' का अर्थ है जुआ खेलने वाला (कितव)। इसका निर्वचन है—जो धन को नष्ट करे (स्व + हन् > श्वघ्न)। स्व (धन) का निर्वचन है—आश्रित होने वाला (श्रि > स्व)। जिस प्रकार कोई जुआड़ी 'कृत' (पासे का वह तल जिसमें चार बिन्दु होते हैं, जिससे विजय मानी जाती है) का अन्वेषण जुए के खेल में (देवने) करता है [उसी प्रकार इन्द्र मेघ का अन्वेषण करते हैं।] जुए के खेल में द्यूतकार 'कृत' का जिस प्रकार अन्वेषण करता है। 'कितव' शब्द 'किं तवास्ति' (तुमने क्या प्राप्त किया है) के शब्दानुकरण से बना है या 'तुम कृतवान् (कृतार्थ) हो जाओ' इस आशीर्वाद से सम्बद्ध है।

'सम' शब्द परिग्रह (सर्व) के अर्थ में सर्वनाम तथा अनुदात्त है ॥ २२ ॥

विशेष—'कितव' शब्द के निर्वचन में यास्क शब्दानुकृति का आश्रय लेते हैं। प्रायः द्यूत में लोग पूछते हैं 'किं तवास्ति ?' (तुम्हारे पास क्या है जिसे बाजी पर लगाना चाहते हो ?) यही घिसते हुए कितव बन गया। इसी प्रकार जुआड़ी को लोग आशीर्वाद देते हैं—कृतवान् भव (सफल हो)। यही कृतवान् कितव बन गया। प्राकृत भाषा में ऐसा होता है। किन्तु कहना कठिन है कि प्राकृत प्रभाव यास्क पर था। सायण ने 'एहिमायासः' की सिद्धि भी इसी प्रक्रिया से की है (द्र० ऋ० भाष्य १।३।९)। संस्कृत में 'वदान्यः' (वद अन्यत् किं ते दास्यामि) इत्यादि शब्दों की सिद्धि इसी प्रक्रिया से होती है।

मा नः समस्य (६९) दूढच १ः परिद्वेषसो अंहतिः।
ऊर्मिर्न नावमावधीत् ॥ [ऋ० ८।७५।९]

मा नः सर्वस्य दुर्धियः पापधियः सर्वतो द्वेषसो अंहतिः। ऊर्मिरिव नावमावधीत्। ऊर्मिरूर्णोतेर्नौः प्रणोत्तव्या भवति, नमतेर्वा।

(समस्य) समस्त (दूढ्यः) दुष्ट बुद्धिवाले (परिद्वेषसः) सर्वद्वेषी शत्रु के द्वारा होने वाला (अंहतिः) वध-कार्य (मा नः आवधीत्) हमारा नाश उसी प्रकार नहीं करे, (ऊर्मिर्न) जिस प्रकार ऊर्मि (नावम्) नौका का [विनाश कर देती है] हम लोगों को सभी दुष्ट या पापबुद्धि वाले, सर्वद्वेषी शत्रु का वधकार्य···क्षति न पहुँचाए, जैसे तरंग नाव को क्षति पहुँचाती है।

'ऊर्मि' शब्द √ऊर्णुञ् (आच्छादित करना) से निष्पन्न है [क्योंकि तरंग जल के अन्दर की सारी वस्तुओं को आच्छन्न किये रहती है।] 'नौ' (नाव) अच्छी तरह नोदन (प्रेरण) करने योग्य होती है (√नुद् > नौ) अथवा √नम् (वशीभूत होना) से बनी है।

तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्याद्, दृष्टव्ययं तु भवति। 'उतो समस्मिन्ना शिशीहि नो वसो' [ऋ० ८।२१।८] इति सप्तम्याम्। शिशीतिर्दानकर्मा। 'उरुष्या णो अघायतः समस्मात्' [ऋ० ५।२४-।३] इति पञ्चम्याम्। उरुष्यती रक्षाकर्मा। अथापि प्रथमा बहुवचने—'नभन्तामन्यके समे' [ऋ० ८।३९।१-१०] ॥ २३ ॥

वह ('सम' शब्द) अनुदात्त-स्वभाव होने पर 'नाम' कैसे हो सकता है ? [नाम या प्रातिपदिक तो अन्तोदात्त होते हैं (फिषोऽन्त उदात्तः) अथवा एक स्वर का उदात्त होना आवश्यक है। प्रातिपदिक का अनुदात्त स्वभाव नहीं होता।] किन्तु 'सम' शब्द का रूप विभिन्न सुप्-विभक्तियों में होता है [जिससे उसे नाम

कहा जा सकता है] जैसे—हे धनवान् इन्द्र ! आप हमें सभी कार्यों में धन प्रदान कीजिए। यहाँ 'सम' सप्तमी में है। यहाँ 'शिशीति' क्रिया दानार्थक है। पुनः—पाप करने के इच्छुक समस्त (जनसमुदाय) से हमारी रक्षा कीजिए। यहाँ 'सम' पंचमी में है। 'उरुष्यति' क्रिया रक्षा के अर्थ में होती है। इसके अतिरिक्त, प्रथमा बहुवचन में भी होता है—हमारे सभी (समे) शत्रुगण (अन्यके) नष्ट हो जायें (नभन्ताम्) ॥ २३ ॥

हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा।
पिता कुटस्य [७०] चर्षणिः [७१] ॥ [ऋ० १।४६।४]

हविषापां जरयिता। पिपर्ति पपुरिरिति पृणातिनिगमौ वा, प्रीणातिनिगमौ वा। पिता कृतस्य कर्मणश्चायिता आदित्यः।

(नरा, नरौ) हे पौरुषपूर्ण अश्विन्-युगल ! (अपां जारः) जल का शोषण करने वाला, (पपुरिः) कामनाओं को पूर्ण करने वाला, (पिता) जगत् का पालक तथा (कुटस्य) कृत कर्मों का (चर्षणिः) द्रष्टा या निरूपण करने वाला [आदित्य आप दोनों को] (हविषा) हव्य के द्वारा (पिपर्ति) पूर्ण, प्रसन्न करता है। हव्य के द्वारा, जलों का शोषक, पूरा करता है। 'पपुरि' शब्द √पॄ (पूरा करना) से अथवा √प्री (प्रसन्न करना) से निष्पन्न है। कृत कर्म का द्रष्टा तथा पालक आदित्य है। (कृत>कुट)।

शम्बः [७२] इति वज्रनाम। शमयतेर्वा शातयतेर्वा। 'उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन' [ऋ० १०।४२।७] इत्यपि निगमो भवति। केपयः [७३] कपूया भवन्ति। कपूयमिति पुनातिकर्म कुत्सितं, दुष्पूयं भवति ॥ २४ ॥

'शम्ब' वज्र का पर्याय है जो णिजन्त शम्-धातु (उपशम करना) या णिजन्त शद्-धातु (मार डालना) से व्युत्पन्न है। इसका वैदिक उद्धरण भी है—हे पुरुहूत इन्द्र ! जो अत्यन्त उग्र (अप्रसह्य) वज्र है उसके द्वारा.... ।

'केपयः' का अर्थ है कपूय (दुर्गन्धपूर्ण) होना। 'कपूय' शब्द का भी अर्थ है जिसे लोग पवित्र करें अर्थात् कुत्सित या निन्दनीय काम। इसे पवित्र करना कठिन है (कु+√पूञ्>केपयः) ॥ २४ ॥

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥
[ऋ० १०।४४।६]

(प्रथमा देवहूतयः) देवताओं का आह्वान करने वाले श्रेष्ठजन (पृथक्) परस्पर पृथक् होकर के (प्रायन्) गये तथा (दुष्टरा = दुस्तराणि) दुष्प्राप्य (श्रव-

स्यानि) यशोराशि का (अकृण्वत) उपार्जन उन्होंने किया। (ये) जो लोग (यज्ञियां नावम्) यज्ञ-सम्बन्धी नौका पर (आरुहम् = आरोढुम्) आरोहण करने में (न शेकुः) समर्थ नहीं हुए (ते) वे (केपयः) पापकर्म करने वाले (इर्मं एव) इस लोक में ही (न्यविशन्त) निविष्ट हुए, पाप का फल भोगते रहे।

विशेष—यज्ञ करने के माहात्म्य का वर्णन है। प्रधानतया देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाले यजमान अलग-अलग कर्मानुरूप यश का अर्जन करते हुए पितृयान या देवयान मार्ग पर जाते हैं किन्तु जिन्होंने यज्ञ-सम्पादन कभी नहीं किया वे इसी लोक में सड़ते रहते हैं। आरुहम् = आ + √रुह् + कमुल्।

पृथक्प्रायन्। पृथक् प्रथतेः। प्रथमा देवहूतयः। ये देवानाह्वयन्त। अकुर्वत श्रवणीयानि यशांसि। दुरनुकराण्यन्यैः। येऽशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्। अथ ये नाशक्नुवन् यज्ञियां नावमारोढुम्। ईर्मैव ते न्यविशन्त। ईहैव ते न्यविशन्त। ऋणे हैव ते न्यविशन्त। अस्मिन्नेव लोक इति वा। ईर्मं इति बाहुनाम। समीरिततरो भवति।

पृथक्-पृथक् गये। 'पृथक्' शब्द प्रथ्-धातु (फैलना, अजि-प्रत्यय) से बना है। प्रथम देवहूति अर्थात् जिन्होंने देवताओं को बुलाया था। श्रवणीय (दूर तक सुने जाने योग्य) यश प्राप्त किया। जो दूसरों के लिए अनुकरण करना भी कठिन है। [यह उनकी दशा है] जो यज्ञ-नौका पर चढ़ सके (जिन्होंने यज्ञ किया है)। किन्तु जो यज्ञ की नौका पर नहीं चढ़ सके, वे इसी स्थान में (ईर्म) निविष्ट हुए—वे यहीं रह गये। अथवा पुनः ऋण में ही (= जन्म लेने के कारण) प्रविष्ट हुए। अथवा इसी लोक में रह गये। (ऊपर नहीं जा सके)। 'ईर्म' शब्द बाहु का पर्याय भी है (ईर्मः) क्योंकि अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक सञ्चालित होता है (√ईर > ईर्मः)।

एत विश्वा सवना तूतुमाकृषे (७४) स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे। (ऋ० १०।५०।६। एतानि सर्वाणि स्थानानि तूर्णमुपाकुरुषे। स्वयं बलस्य पुत्र यानि धत्स्व।

अंसत्रम् (७५) अंहसस्त्राणं धनुर्वा कवचं वा। कवचं कु अञ्चितं भवति। काञ्चितं भवति। कायेऽञ्चितं भवतीति वा ॥ २५ ॥

हे बलपुत्र (सहसः सूनो)! जिन्हें तुम धारण करते हो, उन सभी सवनों को स्वयं शीघ्र (तूतुम्) सम्पादित करो (आकृषे)। इन सभी स्थानों को शीघ्र उपकृत करते हो (कार्य में लगाते हो)। बल के पुत्र! जिन्हें तुम स्वयं धारण करते हो।

'अंसत्रम्' का अर्थ है पाप (अंहस्) से त्राण देने वाला धनुष या कवच। [पाप के फलस्वरूप जो प्रहारादि हों उनसे रक्षा करे वह अंसत्र है। वास्तव में अंसं त्रायते = कन्धे की रक्षा करने वाला, शरीर-रक्षक।] 'कवच' शब्द कुत्सित रूप से (शरीरानुसार वक्र होकर) शरीर पर चढ़ा रहता है (कु + √अञ्च्)। अथवा थोड़ा-थोड़ा शरीर पर चढ़ा रहता है (का = ईषत् + अञ्चित)। अथवा काय (शरीर) में चढ़ा हुआ हो (काय + अञ्चित > कवच) ॥ २५ ॥

प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् ॥
(ऋ० १०।१०१।७)

(अश्वान् प्रीणीत) अपने घोड़ों को भोजनादि से प्रसन्न करो, (हितं जयाथ) हितपूर्वक विजय लाभ करो [जिसमें अपने पक्ष के वीरों का अधिक नाश न हो]; (स्वस्तिवाहं) कल्याणमय वाहनों से युक्त (रथमित् कृणुध्वम्) रथ का निर्माण करो। पुनः (द्रोणाहावम्) रथ के रूप में लकड़ी के बने हुए आहाव अर्थात् नाँदों से युक्त, (अश्मचक्रम्) फैले हुए शत्रु-समूह के रूप में पाषाण-चक्र से युक्त, [अंसत्रकोशम्) तथा धनुष-कवच के रूप में जल में जल निकालने वाले पात्र से युक्त (अवतम्) संग्राम रूपी कूप को (नृपाणम्) नरों के रूप में पेयजल से सिञ्चत) सींचो, प्लावित करो, भर दो।

विशेष—इसके उत्तरार्ध में संग्राम-भूमि को कूप का रूपक दिया गया है। अवतम् = कूप। सभी विशेषण संग्राम को गौण बनाकर कूप की विशेषता बतलाने में लगे हैं और यह कूप ही संग्राम है। द्रोणाहाव—कूप के पास पशुओं के जल पीने के लिए दारु-निर्मित (लकड़ी का) आहाव (नाँद या कुण्ड) रहता है तो संग्राम में लकड़ी का रथ है, वही नाँद के स्थान पर है। अश्मचक्र—कुएँ के पास चक्राकार पत्थर के खण्ड रहते हैं या कुआँ ही ऐसे पत्थरों से बनता है। उधर संग्राम भी चक्राकार होता जो व्यापक (अश्म, √अश्) रहता है। अंसत्रकोश—कुएँ पर कोश (जल निकालने का पात्र, बाल्टी) रहता है तो संग्राम में अंसत्र (धनुष या कवच) रहते हैं। नृपाण—कुएँ में पेयजल भरा रहता है तो संग्राम में मनुष्य ही रहते हैं। कोई आदेश दे रहा है कि ऐसे संग्राम-कूप को नर-रूप पेयजल से भर दो। संग्राम में वीरों की संख्या बढ़ाओ। यह रूपक अलंकार से युक्त अच्छा वैदिक काव्य है।

प्रीणीताश्वान्, सुहितं जयथ। जयनं वो हितमस्तु। स्वस्तिवाहनं रथं कुरुध्वम्। द्रोणाहावम्—द्रोणं द्रुममयं भवति। आहाव आह्वानात्। आवह आवहनात्। अवतोऽवतितोमहान् भवति। अश्मचक्रम-

शनचक्रमसनचक्रमिति वा। अंसत्रकोशम्—अंसत्राणि वः कोशस्थानीयानि सन्तु। कोशः कुष्णातेः। विकुषितो भवति। अयमपीतरः कोशः एतस्मादेव। सञ्चय आचितमात्रो महान्भवति सिञ्चत नृपाणं नरपाणम्। कूपकर्मणा संग्राममुपमिमीते।

अश्वों को तृप्त (प्रसन्न) करो, हितपूर्वक विजय करो—अर्थात् तुम्हारी विजय हितकारक हो।[1] अपने रथ को कल्याणमय वाहनों से युक्त सजाओ। द्रोण के आहाव (नाँद) से युक्त—द्रोण अर्थात् जो द्रुममय (लकड़ी का बना) हो। 'आहाव' शब्द आ + √ह्वे (पुकारना) से निष्पन्न है (नाँद से पानी पीने के लिए पशुओं को पुकारा जाता है)। 'आवह' की निरुक्ति आ + वह् (ढोकर लाना) से है (क्योंकि जिसमें जल ढोकर लायें वह जलपात्र 'आवह' कहलाता है)।

'अवत' इसलिए कहलाता है कि अत्यन्त गहराई में जाता है (अव + √अत् + क्त अव-अतित > अव अत > अवत) अर्थात् महान् होता है। [प्राचीन काल में कुएँ बहुत बड़े-बड़े बनते थे जिसमें से कई लोग एक साथ पानी निकाल सकें।] अश्मचक्र का अर्थ है व्यापक (शत्रुओं का) चक्र या शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला चक्र (√अश् या √अस् से अश्मन्)। अंसत्रकोश का अर्थ है—तुम्हारे अंसत्र (धनुष या कवच) कोश (या जल निकालने वाले पात्र) के स्थान पर हों। 'कोश' शब्द √कुष् (निकालना) से बना है क्योंकि इसे कुएँ से खींच कर निकाला जाता है। 'कोश' का दूसरा अर्थ भी उसी धातु से निकला है (= √कुष् > कोश = खजाना)। यह संचय है अर्थात् थोड़ी-थोड़ी मात्रा में संग्रह करने से (आ-चितमात्रः) बड़ा होता है।

'नृपाण' अर्थात् नर-रूप पेय जल डालो। इस प्रकार कूप के अर्थ से संग्राम की तुलना की जाती है।

विशेष—'आहाव' की निरुक्ति देते हुए प्रसंगतः 'आवह' की भी निरुक्ति दी गयी है। यास्क ने उक्त रूपक की सरल तथा संतोषजनक व्याख्या की है।

काकुदं (७६) तास्वित्याचक्षते। जिह्वा कोकुवा। सास्मिन् धीयते। जिह्वा कोकुवा। कोकूयमाना वर्णान्नुदतीति वा। कोकूयतेर्वा स्याच्छब्दकर्मणः। जिह्वा जोहुवा। तालु तरतेः। तीर्णतममङ्गम्। लततेर्वा स्यात् लम्बकर्मणः विपरीतात्। यथा तलम्। लतेत्यविपर्ययः॥ २६॥

---

१. दुर्ग—अहितोऽपि जयः कश्चिद्भवति, यह सुहृद्भ्रातृपुत्रादयो हन्यन्ते।

'काकुद' तालु को कहते हैं। जिह्वा को 'कोकुचा' कहा जाता है, वह जिस पर स्थापित की जाय (वही काकुद = तालु है—कोकुवा + √धा > काकुद)। जिह्वा को कोकुवा इसलिए कहते हैं कि वह पुनः पुनः शब्द करती हुई (√कु + यङ् लुक् + अच् > कोकूया > कोकुवा) वर्णों को प्रेरित करती है (कोकुवा + √नुद् = काकुद)। अथवा √कु के यङ् लुक् रूप से, जिसका अर्थ 'शब्द करना' है, 'काकुद' बना है (कोकुवानः > काकुद)। जिह्वा पुनः पुनः पुकारती है (√ह्वे + यङ् लुक् > जोहुवा > जिह्वा; √हु + यङ्लुक् > जोहुवा > जिह्वा—जिसने अन्न की आहुति दी जाय)।

'तालु' शब्द √तॄ (पार करना) से निष्पन्न है। यह मुख का विस्तीर्ण-तम अङ्ग है। अथवा 'लम्बा होना' के अर्थ वाले √लत् के वर्ण-विपर्यय (metathesis) से बना है (लत > तल > तालु)। जैसे तल-शब्द (लत् के विपर्यय से बना है)। 'लता' शब्द में विपर्यय नहीं हुआ है (लतति लम्बते इति लता)॥ २६॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥
(ऋ० ८।६९।१२)।

हे वरुण ! आप कल्याकारी देवता हैं जिसके तालु (काकुदम्) में सात नदियाँ उसी प्रकार प्रवाहित होती हैं जिस प्रकार अच्छी तरंगों से पूर्ण नाले में।

सुदेवस्त्वं कल्याणदेवः। कमनीयदेवो वा भवसि वरुण। यस्य ते सप्तसिन्धवः। सिन्धुः स्रवणात्। यस्य ते सप्त स्रोतांसि। तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मि कल्याणोर्मि स्रोतः सुषिरमनु यथा।

बीरिटं (७७) तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह—पूर्वं वयतेः, उत्तरमीरतेः। वयांसीरन्त्यस्मिन्। भांसि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्ति। अपि निगमो भवति॥ २७॥[1]

तुम सुदेव अर्थात् कल्याणकारी देवता हो। या हे वरुण ! तुम कमनीय देवता हो। जिसकी ये सात नदियाँ (सिन्धवः) हैं। सिन्धु √स्रु (प्रवाहित होना) से। जिसकी ये सात धाराएँ हैं, वे तुम्हारे तालु पर प्रतिक्षण प्रवाहित होती रहती हैं।

१. उपर्युक्त अंश का संक्षिप्त पाठ डा० लक्ष्मण सरूप ने दिया है—'सुदेवस्त्वं कल्याणदानः। यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिवेति। अपि निगमो भवति॥ २७॥' दुर्गाचार्य ने भी यही पाठ रखा है। उक्त पाठ प्रक्षिप्त हैं।

सूर्मि अर्थात् सुन्दर तरंगों वाला स्रोत जिस प्रकार सुषिर (शहरी नाले) की ओर प्रवाहित होता है।

'बीरिट' शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष करते हुए तैटीकि नामक आचार्य इस प्रकार कहते हैं—इस शब्द का पूर्वार्ध √वी (जाना) से तथा उत्तरार्ध √ईर (गति) से निष्पन्न है (वी + ईरिट = वीरिट > वीरिट)। जिस (अन्तरिक्ष) में पक्षिगण जाते हैं (वयस् + ईर्) अथवा ज्योतियाँ (भांसि) इसमें जाती हैं। इस शब्द का इस ऋचा में उदाहरण हैं—वैदिक उद्धरण देते हैं ॥ २७ ॥

विशेष—'अपि निगमो भवति' यह अंश निरर्थक है।

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥
(ऋ० ७।३९।२)

(एषाम्) इन यजमानों का (सुप्रयाः) सरलता से गमन योग्य[1] (बर्हिः) कुश (प्र वावृजे) बिछाया जा चुका है। (बीरिटे) अन्तरिक्ष में स्थित, (विश्पती इव) सर्वपालक राजाओं के समान (विशां स्वस्तये), प्रजाओं के लिए (अक्तोः), रात्रि के अवसान काल में तथा (उषसः) उषा के आगमन काल में (पूर्वहूतौ) सर्वप्रथम आहूत होकर (वायुः) वायु-देव तथा (नियुत्वान्) नियुक्त होने वाले घोड़ों से युक्त (पूषा) पूषा नामक देवता भी (आ इयाते) आते हैं।

प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषाम्। एयाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा। बीरिटमन्तरिक्षम्। भियो वा भासो वा ततिः। अपि वोपमार्थे स्यात्। सर्वपती इव राजानौ। बीरिटे = गणे मनुष्याणाम्। रात्र्या विवासे पूर्वस्यामभिहूतौ। वायुश्च नियुत्वान् पूषा च। स्वस्त्ययनाय। नियुत्वान् = नियुतोऽस्याश्वाः। नियुतो नियमनाद्वा नियोजनाद्वा।

उन यजमानों का कुश जो सरलता से अभिगमन (देवताओं के आने) के योग्य है, बिछाया जाता है। सबों के पाता (रक्षक) या पालक (√पा या √पाल् से पति) आते हैं। बीरिट = अन्तरिक्ष जो भीति या प्रकाश का समूह (तति) है। [√भी √ + तन् से बीरिट; √भास् + तन् से बीरिट—यह यास्क का मत है।] अथवा उपमा के अर्थ में हो—सबों के पालक राजाओं के समान। बीरिट में = मनुष्यों के समूह में।

[अक्तोः उषसः =] रात्रि के विवसन (निर्गत) होने पर, पूर्व आह्वान के समय। ('उषसः' का अर्थ 'विवासे' किया गया है—√वस् > उषा)। वायु तथा

१. दुर्गः—यत्सुखमभिगच्छन्ति देवताः प्रास्तीर्णे तस्मिन्।

नियुत्-वान् पूषा कल्याण के लिए (आते हैं)। नियुत्वान् = जिनके घोड़े नियुत् हैं। नियुत् वे हैं जो नियमित हों (नि + √यम्) अथवा नियुक्त या संयुक्त किये जायें (नि + √युज्)।

अच्छ (७८) अभेराप्तुमिति शकपूणिः। परि (७९) ईम् (८०) सीम् (८१) इति व्याख्याताः। एनम् (८२) एनाम् (८३) अस्या अस्येत्येतेन व्याख्यातम्। सृणिः (८४) अङ्कुशो भवति सरणात्। अङ्कुशोऽञ्चतेराकुचितो भवतीति वा। 'नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्' (ऋ० १०।१०१।३) इत्यपि निगमो भवति। अन्तिकतममङ्कुशादायात्। पक्वमौषधमागच्छत्विति। आगच्छत्विति ॥ २८ ॥

'अच्छ' शब्द 'अभि' (आभिमुख्य,....की ओर) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शाकपूणि के अनुसार इसका अर्थ है प्राप्त करना। परि (निरुक्त १।३), ईम् (नि० २।८) तथा सीम् (नि० १।६) की व्याख्या हो चुकी है। एनम् तथा एनाम् की व्याख्या 'अस्य' तथा 'अस्याः' के द्वारा (निरुक्त ४।२५) हो चुकी।

'सृणि' अङ्कुश को कहते हैं क्योंकि यह सरण (गमन) करता है (√सृ)। 'अङ्कुश' अञ्च्-धातु (चलना) से निष्पन्न है या यह झुका हुआ रहता है (आ + √कुच्)। सृणि (हँसुआ) के प्रयोग के पूर्व ही घर के निकट वाला शस्य पक जाय। [घर के निकट वाली फसल पक जाय जिसे काटने की आवश्यकता न पड़े—हाथों से ही उखाड़कर घर में डाल दें।] अति समीपवर्ती शस्य आ जाय—अङ्कुश द्वारा काटने के पूर्व ही। पकी हुई फसल आ जाए। (अध्याय के अन्त में द्विरुक्ति हुई है) ॥ २८ ॥

॥ इति निरुक्ते पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठ अध्याय

प्रथम पाद

त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः॥
(ऋ० २।१।१, वाज० सं० ११।२७)

(नृणां नृपते) मनुष्यों के पालक (अग्ने) हे अग्निदेव ! (द्युभिः) अपनी ज्वालाओं से (आशुशुक्षणिः शीघ्रतापूर्वक चमकते हुए (शुचिः) प्रकाशरूप (त्वं.... त्वम्) तुम (अद्भ्यः) जल से, (अश्मनस्परि) पाषाणों से, अथवा मेघों से [घर्षण के द्वारा] (वेनभ्यः) जंगली वृक्षों से, तथा (ओषधीभ्यः) अन्य वनस्पतियों से (जायसे) उत्पन्न होते हो।

विशेष—निरुक्त के षष्ठाध्याय में नैगम काण्ड के १३२ (लक्ष्मण सरूप १३०) पदों का निगम दिखलाते हुए व्याख्यान हुआ है। प्रथम पद 'आशुशुक्षणिः' है जिसका उदाहरण (निगम) दिखलाने के लिए प्रस्तुत मन्त्र दिया गया है। इस मन्त्र में अग्नि देवता के विभिन्न उत्पत्ति-स्थलों का उल्लेख है—जल (विद्युत् के रूप में), अश्म (अरणि, पाषाण या मेघ से अग्नि का जन्म), वन (वृक्षों में लगने वाली दावाग्नि), औषधियों में ऊष्मा के रूप में वर्तमान अग्नि। 'द्युभिः' का अर्थ 'अहोभिः' करते हुए टीकाकारों ने कहा है कि पौर्णमासीप्रभृति दिनों में मथित होने के कारण अग्नि उत्पन्न होते हैं (दुर्ग तथा स्कन्द),[1] दिनों के साथ अर्थात् अनायास आने वाले आतप के साथ उत्पन्न होते हैं (ब्रह्ममुनि)। किन्तु 'द्युभिः = प्रकाशैः आशुशुक्षणिः' का अन्वय कहीं अच्छा प्रतीत होता है। 'शुचिः' के द्वारा अग्नि के स्थायी प्रकाशस्वरूप का निर्देश है। 'आशुशुक्षणि' की व्याख्या स्वयं यास्क ने विविध रूपों में की है।

त्वमग्ने द्युभिरहोभिः। त्वमाशुशुक्षणिः। आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः। क्षणिरुत्तरः क्षणोतेः। आशु शुचा क्षणोतीति वा, सनोतीति वा। शुक् शोचतेः। पञ्चम्यर्थे वा प्रथमा तथा हि वाक्य-

---

१. अहोभिर्निमित्तभूतैः पौर्णमास्याद्यैः, एषां मध्यमानो नृणां जायसे। 'पौर्णमास्याममावास्यायां वादधीत' इत्युक्तम् (दुर्गः)। सप्तम्यर्थे एषा तृतीयाः द्युषु दिवसेषु अमावास्यादिषु आधानकाल इत्यर्थः (स्कन्दः)।

संयोगः। आ इत्याकार उपसर्गः पुरस्तात्। चिकीर्षितज उत्तरः। आशु-शोचयिषुरिति। शुचिः शोचतेः, ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतरः शुचि-रेतस्मादेव। निःषिक्तमस्मात्पापकमिति नैरुक्ताः।'

हे अग्निदेव ! आप प्रकाशमय दिनों के साथ (उत्पन्न हुए हैं)। आप आशु-शुक्षणि (शीघ्र प्रकाशित होने वाले) हैं। [इस पद का निर्वचन इस प्रकार है—] आशु और शु क्षिप्र के पर्याय हैं। अन्त में जो 'क्षणि' अंश है वह √क्षण् (हिंसा) से निष्पन्न है। जो अपनी ज्वाला से (शुचा) शीघ्र नष्ट करता है, या धन-दान करता है (सनोति)। इस स्थिति में शुक् (ज्वाला) शब्द √शुच् (चमकना, दीप्ति) से बना है। अथवा यहाँ पंचमी-विभक्ति के अर्थ में प्रथमा-विभक्ति समझें क्योंकि ऐसा करने से ही वाक्य की संघटना होती है (= आप जल से, अश्म से उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार आशुशुक्षणि से = अग्नि को प्रकाशित करने वाले मनुष्य से उत्पन्न होते हैं)।[1]

इस पद के आरम्भ में 'आ' उपसर्ग है। उसके बाद का अंश (शुशुक्षणिः) √शुच् के सन्नत (चिकीर्षित) रूप से निष्पन्न है। तब अर्थ होगा—अच्छी तरह (आ) प्रज्वलित करने की इच्छा वाला (√शुच् + णिच् + सन् + उ = शुशोचयिषुः)।

'शुचि' (चमकने वाला, दीप्तिपूर्ण) शब्द √शुच् से निष्पन्न है जो ज्वलन के अर्थ में होता है। दूसरे अर्थ (पवित्र) में प्रयुक्त यह 'शुचि' शब्द भी इसी धातु से बना है क्योंकि उससे सारे कलंक (मलिनता, दोष) दूर कर दिये गये हैं (निस् + सिञ्च् = अपाकरण)। यह निरुक्तकारों का कथन है।

विशेष—'आशुशुक्षणिः' का निर्वचन यास्क ने चार प्रकार से किया है—(१) आशु + शु + √क्षण्। प्रथम दोनों शब्द शीघ्रता के वाचक हैं। जो शीघ्रातिशीघ्र पदार्थों को जला दे, नष्ट करे (क्षण् = हिंसा)। (२) आशु + शुक् (शुचा = ज्वाला से) + √क्षण् (नष्ट करना) = जो अपनी ज्वाला से पदार्थों को शीघ्र नष्ट करे। (३) आशु + शुक् (शुचा) + √सन् (दान करना, प्राप्त करना) = जो अपनी ज्वाला से यजमानों को धन दे, या पदार्थों तक पहुँचे (क् + स् = कृष् = क्ष)। (४) आ (उपसर्ग) + √शुच् + सन् (इच्छार्थक) = द्वित्व होकर = आ—शुशुच् सन्—'अनि' प्रत्यय लगकर आशुशुक्षणिः। जो खूब जलाने की (णिच् अन्तर्भूत रहने पर) इच्छा रखता हो। यास्क ने इसकी संगति वाक्य

---

१. त्वमद्भ्यः···इत्येनान्यक्षराणि बहूनि पदानि पञ्चम्यन्तानि। तस्मादनेनापि पञ्चम्यन्तेनैव भवितव्यमित्युपपद्यते पञ्चमीत्वेन विपरिणामः (दुर्ग)।

के अन्य शब्दों से बैठाने के लिए इसके पंचमी-विपरिणाम का सुझाव दिया है जो अनावश्यक है।

'इन्द्र आशाभ्य (२) स्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।' (ऋ० २। ४१।१२)। आशा दिशो भवन्ति, आसदनात्। आशा उपदिशो भवन्ति, अभ्यशनात्।

इन्द्र-देवता हमें सभी दिशाओं से (उनमें वर्तमान लोगों से) अभय बना दें। 'आशा' दिशाओं को कहते हैं क्योंकि ये स्थित या आसन्नवर्ती हैं [आ + √सद् > आशा]। 'आशा' उपदिशाओं को भी कहते हैं क्योंकि ये चारों ओर व्याप्त हैं (अभि + √अश्)।

विशेष—देवराज तथा स्कन्द आशा का निर्वचन आ + √शद् [गत्यर्थक] से मानते हैं जिसमें 'ड' प्रत्यय हुआ। दिशाएँ सभी लोगों के लिए आसन्न हैं। आशा के अन्य अर्थ हैं—उपदिशा, इच्छा, वासना। डा० सिद्धेश्वर वर्मा इसके दूसरे निर्वचन [अभि + √अश् = पहुँचना] को भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रायः स्वीकार्य मानते हैं। अश् के समानान्तर भारोपीय—enek (पहुँचना) तथा ग्रीक—enenkein [ले जाना] धातु हैं। प्रथम निर्वचन तो अग्राह्य है।

काशिः (३) मुष्टिः। प्रकाशनात्। मुष्टिः मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा।

इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते' (ऋ० ३।३०।५)। इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ। विरोधनात्। रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः। कूलं रुजतेः। विपरीतात्। लोष्टोऽविपर्ययेण। अपारे दूरपारे। यत्संगृभ्णासि मघवन्। काशिस्ते महान्।

'अहस्तमिन्द्र सं पिणक् कुणारुम् (४)'–(ऋ० ३।३०।८)। अहस्तमिन्द्र कृत्वा सम्पिण्ढि परिक्वणनं मेघम्॥ १॥

'काशि' का अर्थ है मुट्ठी क्योंकि यह प्रकाशित होती है (लोग शीघ्रता से मुष्टि निकाल लेते हैं—√काश् + इन् = काशिः)। [प्रसंगवश] 'मुष्टि' का निर्वचन है—जो बन्धन से मुक्त करे (मुच् > मुष्टि), या चोरी करे (मुष् > मुष्टि—दोनों स्थितियों में क्तिच्-प्रत्यय), या [भयादि का प्रदर्शन करने से दूसरे लोगों को] जो मूढ़ कर दे (√मुह + क्तिच्)।

['काशि' का निगम इस प्रकार है–] हे धन के स्वामी इन्द्र! जिस अपार द्यावापृथिवी को आपने पकड़ रखा है [उसका साधन] वास्तव में आपकी मुष्टि

ही है। हे इन्द्र ! इस रोदसी = सीमायुक्त, दोनों स्वर्ग और पृथ्वी को (आपने पकड़ा है)। विशेष रूप से रुद्ध होने (सीमित किये जाने) के कारण इन्हें 'रोदसी' कहते हैं (= रुध् + असुन् = रोधस्, नपुं० द्विवचन—रोधसी>रोदसी)। रोधस् कूल (तट) को कहते हैं जो नदी की धारा को रोके रखता है।[1] 'कूल' शब्द—रुज् (टूटना) से आद्यन्तविपर्यय के द्वारा बना है (रुज्—रूज—रूक—कूर—कूल = टूटने वाला, क-प्रत्यय)। इसी धातु से बिना उक्त विपर्यय के ही 'लोष्ट' शब्द बना है (रुज्—रोष्ट—लोष्ट = टूटने वाला, ढेला)। अपार = जिसे पार करना कठिन (दूर की बात) हो (= अत्यन्त विस्तृत)। हे धनस्वामी ! जिसे आपने पकड़ रखा है, वह वास्तव में आपकी विशाल मुष्टि है।

['कुणारुम्' शब्द का निगम तथा निर्वचन—] हे इन्द्र ! उस गर्जनशील मेघ को [कुणारुम्] हस्तरहित (प्रतीकार करने में असमर्थ) बनाकर आप कुचल दें (सं पिणक् = √पिष् संचूर्णने लोट्)। हे इन्द्र ! आप हस्तहीन करने के बाद उस मेघ को अच्छी तरह पीस दें जो चारों ओर से गरज रहा है। (√क्वण् + आरु, सम्प्रसारण—कुणारु = गर्जनशील)॥ १॥

अलातृणो (५) वल इन्द्र व्रजो गोः पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार।
सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः प्रावन्वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः॥
(ऋ० ३।३०।१०)

(इन्द्र) हे इन्द्र-देवता ! (अलातृणः) सरलता से छिन्न-भिन्न हो जाने वाला, (वल) आवरक, आच्छादक तथा (व्रजः) अन्तरिक्ष में गमनशील (वह मेघ] (गोः) आपकी अन्तरिक्षस्थ वाणी से (भयमानः) भयभीत होकर, [हन्तोः पुरा) आपके वज्र से मारे जाने के पूर्व ही (व्यार). छिन्न-भिन्न हो गया। तब आपने (गाः निरजे) मेघस्थ जलों के निर्गमन के लिए (सुगान् पथः) सुगम मार्गों का (अकृणोत् = अकृणोः) निर्माण किया तथा (पुरुहूतं) सभी लोगों के द्वारा आहूत या आकांक्षित जल को, आपकी (धमन्तीः वाणीः) गमनशील माध्यमिक वाणियों ने (प्रावन्) प्रवाहित किया, सुरक्षित रखा।

अलातृणोऽलमातर्दनो मेघः। वलो वृणोतेः। व्रजो व्रजत्यन्तरिक्षे। गोः एतस्या माध्यमिकाया वाचः। पुरा हननाद् भयमानो व्यार। सुगान्पथो अकृणोन्निरजे गाः। सुगमनान्पथोऽकरोत्। निरजनाय गवाम्। प्रावन् वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः। आपो वा वहनात्। वाचो वा वदनात्। बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा॥ २॥

---

१. रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते। (काव्यप्रकाश, उल्लास १)

'अलातृण' का अर्थ है सरलता से भिन्न होने वाला मेघ। 'वल' √वृ (ढँक देना) से निष्पन्न है (वर्>वल)। 'व्रज' वह है जो अन्तरिक्ष में गमन करे (= मेघ)। गोः = इस माध्यमिक वाणी (गर्जन) से। भयभीत होकर, मारे जाने के पूर्व ही शिथिल (विच्छिन्न) हो गया। उसने गौ (जल) के निकलने के लिए सुगम पथों का निर्माण किया—जलों के निकलने के लिए (निरजनाय) मार्गों को सुगम किया। गमनशील वाणियों ने पुरुहूत (जल) की अच्छी तरह रक्षा की। 'वाणी' का अर्थ जल है जिस अर्थ में यह √वह् (प्रवाहित होना) से निकला है, या वाणी को अभिहित करता हो जिस अर्थ में यह √वद् (बोलना से निष्पन्न है। (वह् या वद् से 'वाणी'—शब्द बना है)। [पुरुहूत का अर्थ है] वर्षा का जल जो अनेक लोगों के द्वारा आहूत या आकांक्षित होता है। [धमन्ती में स्थित] धम्—धातु गत्यर्थक है ॥ २ ॥

विशेष—'अलातृण' शब्द की सिद्धि देवराज ने अपने निघण्टु-भाष्य में दो प्रकार से की है—(१) अलम् + √तृद् (हिंसा) + ण। निपातन से द-लोप, गुण का अभाव, अलम् के म् का आकार। (२) अलम् + √तृद् + ल्युट्। द् का लोप, गुण का अभाव इत्यादि। रॉथ ने √रा (दान) से इसका सम्बन्ध मानकर अर्थ किया है—कुछ न देने वाला, कृपण। अरातृ √अलातृण।

उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र वृश्चा मध्यं प्रत्यग्रं शृणीहि।
आ कीवतः सललूकं (६) चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य॥

(ऋ० ३।३०।१७)

(इन्द्र) हे इन्द्र-देव ! (रक्षः) राक्षसों को (सहमूलम्) मूल के साथ (उद् वृह) उखाड़ फेंकिए। (मध्यं) उन्हें बीच से (वृश्च) काट डालिए। (अग्रं) उन्हें आगे से (प्रति शृणीहि) छिन्न-भिन्न कर दीजिए। (आ कीवतः = कियतः) चाहे वे किसी भी स्थान से (सललूकम् संलुब्ध होकर, बढ़े चले आ रहे हों, उन्हें (चकर्थ) कतर दीजिए। (ब्रह्मद्विषे) वेद, स्तुतियों या ब्राह्मणों के द्वेषी नास्तिक पर (तपुषिं हेतिम्) सन्तापकर अस्त्र (अस्य) फेंकिए।

विशेष—'सललूकम्' का निगम दिखाने के लिए यह ऋचा दी गयी है जिसमें शत्रुओं के सर्वनाश की याचना है

उद्धर रक्षः सहमूलमिन्द्र। मूलं मोचनाद्वा, मोषणाद्वा, मोहनाद्वा। वृश्च मध्यम्। प्रति शृणीह्यग्रम्। अग्रमागतं भवति। आ कियतो देशात्। सललूकं संलुब्धं भवति। पापकमिति नैरुक्ताः। सररूकं वा स्यात् सर्तेरभ्यस्तात् तपुषिस्तपतेः। हेतिर्हन्तेः।

हे इन्द्र, राक्षसों को समूल उखाड़ फेंकिए। 'मूल' शब्द √मुच् (छोड़ना—अंकुरादि को यह मुक्त करता है) से, √मुष् (चोरी करना—चोर के समान पृथ्वी से अपना भोजन लेना है) से या √मुह् (चकित करना—मनुष्यों को मूढ़ करता है कि मूल किस प्रकार रस चूसता है या इतने भारी वृक्ष को धारण करता है) से निष्पन्न है। मध्यभाग को काट दो, अग्रभाग को विच्छिन्न कर दो। अग्र उसे कहते हैं जो निकट में आया हुआ हो (आ + गम् > अग्र)। किसी भी देश से (आये हुए को)। सललूक संलुब्ध को कहते हैं। निरुक्तकारों के अनुसार इसका अर्थ 'पापी' है। अथवा √सृ (गमन) के अभ्यस्त रूप से 'सररूकम्' (प्रत्येक स्थान पर घूमने वाला) बनकर [सललूकम् हुआ हो]। 'तपुषि' (सन्तापक) तप्–धातु (जलाना) से बना है। 'हेति' हन् (मारना) से।

विशेष—'सललूक' का सम्बन्ध निश्चित रूप से √सृ-धातु से है–निपातन से द्वित्व होकर ससरूक > सररूक > सललूक हुआ है। निरुद्देश्य घूमने वाला (मोनियर विलियम्स)।

'त्यं चिदित्था कत्पयं (७) शयानम्' (ऋ० ५।३२।६)। सुखपयसम्। सुखमस्य पयः। विस्रुहः (८) आपो भवन्ति। विस्रवणात्। 'वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः (ऋ० ६।७।६) इत्यपि निगमो भवति। वीरुधः (९) ओषधयो भवन्ति। विरोहणात्। 'वीरुधः पारयिष्णवः' (ऋ० १०।९७।३) इत्यपि निगमो भवति।

(इन्द्र ने) वस्तुतः सुखद जल वाले तथा शयन करते हुए (मेघ को मारा)। 'कत्पय' का अर्थ सुखद जलवाला है अर्थात् जिसका जल सुख दे (मीठे जल वाला मेघ)। 'विस्रुहः' जलों को कहते हैं क्योंकि ये बहते हैं (वि + √स्रु = प्रवाहित होना)। शाखाओं के समान सात जलधाराएं उगीं, यह वैदिक उद्धरण भी है। 'वीरुधः' ओषधियों (वनस्पति) को कहते हैं, क्योंकि ये उगती हैं (वि + √रुह् + क्विप्, ह > ध)। यह वैदिक उद्धरण भी है—ओषधियाँ हमारी आयु को पूर्ण करने वाली हैं।

नक्षद्दाभम् (१०) अश्नुवानदाभम्। अभ्यशनेन दभ्नोतीति वा) 'नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम्' (ऋ० ६।२२।२) इत्यपि निगमो भवति। अस्कृधोयुः (११) अकृध्वायुः। कृध्विति ह्रस्वनाम। निकृत्तं भवति। 'यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान्' (ऋ० ६।२२।३) इत्यपि निगमो भवति। [निश्रृम्भाः (१२) निश्रथ्यहारिणः]॥ ३॥

'नक्षद्दाभ' का अर्थ है 'जो समीप आने वाले व्यक्ति पर (अश्नुवान) प्रहार करे' (√नक्ष्=गति,√दभ्=हिंसा)। अथवा समीप जाकर जो प्रहार करे। वैदिक उद्धरण भी है—समीप आते हुए विरोधी पर प्रहार करने वाले, शीघ्रगामी तथा पर्वत पर रहने वाले (इन्द्र) को।

अस्कृधोयु (दीर्घायु) का अर्थ है जिसका जीवनकाल अल्प (कृधु) नहीं है। 'कृधु' ह्रस्व का पर्याय है। यह कटा-छँटा (छोटा किया हुआ √कृन्त) होता है। इसका वैदिक उद्धरण भी है—'जो अनल्प आयु से युक्त, अनश्वर तथा दीप्ति से पूर्ण है।' ['निशृम्भाः' का अर्थ है अशिथिल या दृढ़ गति से ले जाने वाले।] ॥ ३ ॥

आजासः पूषणं रथे निश्रृम्भास्ते जनश्रियम्।
देवं वहन्तु बिभ्रतः ॥ (ऋ० ६।५५।६)।

(जनश्रियं) मनुष्यों के आश्रयभूत (पूषणं देवं) पूषा-नामक देवता को (रथे) रथ पर (बिभ्रतः) धारण किये हुए (निश्रृम्भाः) दृढ़ गति से चलने-वाले (ते अजासः) वे बकरे, या गति-सम्पन्न घोड़े (आवहन्तु) ले आएँ।

आवहन्त्वजाः पूषणं रथे। निश्रथ्यहारिणस्ते। जनश्रियं जातश्रियम्। बृबदुक्थः (१३) महदुक्थः। वक्तव्यमस्मा उक्थमिति। बृबदुक्थो वा। 'बृबदुक्थं हवामहे' (ऋ० ८।३२।१०) इत्यपि निगमो भवति। ऋदूदरः (१४) सोमो मृदूदरः मृदूदरेष्विति वा। 'ऋदूदरेण सख्या सचेय' (ऋ० ८।४८।१०) इत्यपि निगमो भवति। ऋदूपे (१५) इत्युपरिष्टाद् व्याख्यास्यामः (निरु० ६।३३)।

रथ पर पूषा को बकरे ले आएँ। वे (बकरे) दृढ़ चरणों से खींचते हैं (नि+√श्रथ्)। मनुष्यों के आश्रय = समस्त उत्पन्न जीवों के आश्रय (देव को वे ले आएँ)। 'बृबद्-उक्थ' का अर्थ है महान् स्तोत्र। अथवा वह (देवता) जिसे कोई सूक्त या बड़ा सूक्त सम्बोधित किया जाए। इसका वैदिक उद्धरण भी है—महान् सूक्त से सम्बोध्य इन्द्र को हम बुलाते हैं।

'ऋदूदर' सोम को कहते हैं जिसका उदर मृदु हो या जो उदर में जाने पर मृदु हो (मृदूदर>ऋदूदर)। 'अपने मित्र सोम के साथ मैं संसक्त हो जाऊँ' यह वैदिक उद्धरण भी है। 'ऋदूपे' की व्याख्या बाद में (निरु० ६।३३) करेंगे।

विशेष—'बृबदुक्थ' का अर्थ महदुक्थ करने में यास्क के मन में इसका अवगतरूप बृहदुक्थ रहा होगा, किन्तु ह् का ब् होना ध्वनिशास्त्र की समस्या है। किन्तु

'वक्तव्यमस्मै उक्थम्' कहने पर इसका अवगम √ब्रू-धातु से (ब्रुवदुक्थ) होगा। यह शब्द इन्द्र का विशेषण है।

पुलुकामः (१६) पुरुकामः। 'पुलुकामो हि मर्त्यः' (ऋ० १।१७९।५) इत्यपि निगमो भवति। असिन्वती (१७) असंखादन्त्यौ। 'असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः' (ऋ० १०।७९।१) इत्यपि निगमो भवति। कपनाः (१८) कम्पनाः क्रिमयो भवन्ति। 'मोषथा वृक्षं कपनेव वेधसः' (ऋ० ५।५४।६) इत्यपि निगमो भवति। भाऋजीकः (१९) प्रसिद्धभाः। धूमकेतुः समिधा भाऋजीकः' (ऋ० १०।१२।२, अथर्व० १८।१।३०) इत्यपि निगमो भवति।

'पुलुकाम' का अर्थ है बहुत (पुरु) कामनाओं से युक्त व्यक्ति। यह वैदिक निगम भी है—मनुष्य बहुत-सी कामनाओं वाला है।

'असिन्वती' का अर्थ है अच्छी तरह न खाते हुए (शीघ्रता से खाते हुए—नञ् + √षिञ् + शतृ + ङीष्-प्रथमा द्विव०)। इसका वैदिक उद्धरण है—अति शीघ्रता से खाते हुए (बिना चबाये), नष्ट करते हुए, वे बहुत खाते हैं (भूरि अत्तः)। 'कपनाः' का अर्थ है रेंगते हुए कीड़े (कृमि घुन, √कपि चलने + युच्, नुम् का अभाव)। हे बुद्धिमान् मरुद्गण ! जिस प्रकार कीड़े वृक्ष के (रस या चूर्ण को साफ कर देते हैं) वैसे ही आप (जल को) साफ कर दें (चुरा लें)—यह वैदिक निगम भी है।

'भाऋजीक' का अर्थ है प्रसिद्ध प्रकाश वाला। [ऋजु + कन् = ऋजुका० अकुटिला० अप्रतिहता० प्रसिद्धा भा दीप्तिर्यस्य स ऋजुकभाः (देवराजः)। उससे ऋजीकभाः (अग्निः) बना है।] इसका वैदिक उदाहरण है—धूमरूप केतु से युक्त, अपनी समिधाओं से प्रज्वलित प्रकाशवाला।

रुजानाः (२०) नद्यो भवन्ति। रुजन्ति कूलानि। 'सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः' (ऋ० १।३२।६) इत्यपि निगमो भवति। जूर्णिः (२१) जवतेर्वा, द्रवतेर्वा, दुनोतेर्वा। 'क्षिप्ता जूर्णिर्न वक्षति' (ऋ० १।१२९।८) इत्यपि निगमो भवति।

परि घ्रंसमोमना (२२) वां वयो गात्' (ऋ० ७।६९।४)। पर्यगाद् वां घ्रंसमहरवनायान्नम्॥ ४॥

'रुजानाः' नदियों को कहते हैं, क्योंकि ये अपने कूलों को तोड़ती हैं (√रुज्)। इन्द्र को शत्रु समझने वाले (दैत्य) ने नदियों को कुचल दिया—यह भी वैदिक निगम है। 'जूर्णि' (शक्ति, सेना) √जू (गतिमान् करना), या √द्रु (दौड़ना)

या √दु (क्षति करना) से निष्पन्न है। [तुल० भारोपीय—guere (चमकना, गर्म करना), लेटिश—zuers (स्फुलिंग फेंकना)।] इसका वैदिक निगम है—हमारी ओर भेजी गयी सेना (या शक्ति) हमें नहीं पा सकती।

['ओमना' शब्द का निगम—] तुम दोनों (अश्विनों) के पास यह अन्न (वयः) प्रतिदिन (घ्रंसम्) सुरक्षापूर्वक (ओमना) पहुँचा है। यह अन्न रक्षा के लिए (अवनाय) तुम दोनों के निकट प्रत्येक घ्रंस अर्थात् प्रतिदिन पहुँचता रहा ॥ ४ ॥

विशेष—'ओमना' शब्द में अव्-धातु है। इसमें मन् प्रत्यय करने पर ओमन् (रक्षा) बना। तृतीया में—ओमना (रक्षया)। यास्क चतुर्थी-परिणाम करके अर्थ देते हैं। कहीं-कहीं 'अवनाय' के स्थान पर 'अवनेन' पाठ भी है।

द्वितीय पाद

उपलप्रक्षिणी (२३) उपलेषु प्रक्षिणाति। उपलप्रक्षेपिणी वा। [इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ। दुर्भिक्षे केन जीवतीति ? तेषामेकः प्रत्युवाच—

शकटं शाकिनी गावो जालमस्यन्दनं वनम्।
उदधिः पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तयः ॥

इति सा निगदव्याख्याता।][1] ॥ ५ ॥

'उपल-प्रक्षिणी' का अर्थ है वह स्त्री जो शिलाओं पर (उपलेषु) अन्न कूटती है, या जो शिलाओं पर अन्न फेंकती है (पीसती है)।

[इन्द्र ने ऋषियों से पूछा कि दुर्भिक्ष में मनुष्य किस साधन से जीवित रहता है ? तब उनमें से एक ने उत्तर दिया—'शकट, साग-भाजी, गाएँ, जाल, जल-प्रवाह को रोकना, वन, समुद्र, पर्वत तथा राजा—ये नौ साधन दुर्भिक्ष में जीविका-यापन के हैं।—इसकी व्याख्या तो उच्चारणमात्र से हो गयी।

विशेष—'उपलप्रक्षिणी' का वास्तविक अर्थ है 'सत्तू तैयार करने वाली'। इसके लिए उस स्त्री को वालुकाओं में अन्न को भूँजना पड़ता है। प्रथम निर्वचन का यही अर्थ दुर्ग तथा स्कन्द ने किया है—सा हि उपलेषु यवान् प्रक्षिणाति—हिनस्ति (कूटती है—दुर्गः)। उपलेषु श्लक्ष्णेषु वालुकासु यवान् प्रक्षिणाति—हिनस्ति, रुजतीत्यर्थः (स्कन्दः)। भृज्जतीत्यर्थः (देवराजः)। अतः अन्न को कूटकर भूँजना उसका प्रथम संस्कार है। पुनः उपलों पर (चक्कियों में) अन्न को फेंककर पीसा

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रक्षिप्त है। न तो दुर्ग ने इसकी व्याख्या की है, न स्कन्द ने ही। दुर्भिक्ष में जीविका-निर्वाह के साधन बतलाने के लिए किसी भाष्यकार ने बहुत पहले ही यह अंश जोड़ दिया था, ऐसा प्रतीत होता है।

जाता है—यह द्वितीय निर्वचन का अर्थ है । इस प्रकार यह शब्द उपलपूर्वक√क्षि या√क्षिप् से बना है ।

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव ।
(ऋ० ९।११२।३ ।

(अहं कारुः) मैं स्तोता हूँ, (ततः भिषक्) मेरे पिता वैद्य हैं, (नना उपलप्रक्षिणी) मेरी माता चक्की पीसती है । [इस प्रकार हमलोग] (नानाधियः) विविध कर्म करते हुए (वसूयवः) धन की कामना या उपार्जन करते हैं, (गाः इव) गायों के समान (अनुतस्थिम) परस्पर अनुकूलता-पूर्वक रहते हैं । (इन्दो) हे सोम ! (इन्द्राय परिस्रव) इन्द्र की तृप्ति के लिए प्रवाहित हो ।

विशेष—इस ऋचा में ८ अक्षरों के पाँच चरण हैं अतः इसे पंक्ति-छन्द कहते हैं । स्कन्द के अनुसार इसमें दुर्भिक्षानन्तर सोमयाग की चर्चा है । अपने विविध कर्मों से युक्त परिवार की एकता तथा अनुकूलता का वर्णन इसमें हुआ है । गौओं का उपमान भी अत्यन्त सार्थक है । गायें लोगों का कार्य करने में (खेत जोतना, गाड़ी खींचना, दूध देना प्रभृति) पारिवारिक सामंजस्य का प्रदर्शन करती हैं— ये विविध कार्य करते हुए परिवार की इकाई स्थिर रहती है । ऐसा ही हमारा परिवार भी है । सभी सदस्य धनोपार्जन में प्रवृत्त होने पर भी एक परिवार के हैं । अन्त में इसीलिए सोम-प्रवाह की याचना है ।

कारुरहमस्मि, कर्ता स्तोमानाम् । ततो भिषक् । तत इति सन्तानना म । पितुर्वा पुत्रस्य वा । उपलप्रक्षिणी सक्तुकारिका । नना नमतेः । माता वा, दुहिता वा । नानाधियो नानाकर्माणः । वसूयवो वसुकामाः । अन्वास्थिताः स्मो गाव इव लोकम् । इन्द्रायेन्दो परिस्रव—इत्यध्येषणा ।

मैं कारु (गायक, स्तोता) अर्थात् सूक्तों का रचयिता हूँ । मेरे पिता (ततः) वैद्य हैं । 'तत' शब्द सन्तान का पर्याय है (√तनु विस्तारे) । अतः इसका अर्थ पिता या पुत्र भी है । उपलप्रक्षिणी अर्थात् सत्तू तैयार करने वाली मेरी माता (नना) है । 'नना' का निर्वचन—नम् (झुकना) से है अतः यह माता या दुहिता का बोधक है (माता अपनी सन्तान के प्रति स्तनपान कराने के लिए झुकती है, दुहिता भी पिता की सेवा के लिए या अनुकूल वर के चयन के लिए पिता के प्रति विनत होती है) ।[1]

१. दुर्गः—यस्मिन्पक्षे पिता भिषक्, तस्मिन्पक्षे ननाशब्देन मातोच्यते । यस्मिन्पुनः पक्षे पुत्रो भिषक्, तस्मिन्पक्षे ननाशब्देन दुहितोच्यते ।

'नानाधियः' = नाना प्रकार के कर्म करते हुए। वसूयवः = धन की कामना करते हुए [वसु + क्यच् + उ = वसूयु, बहुव०]। हम लोक का गौओं के समान अनुसरण करते हैं। हे सोम ! इन्द्र के लिए तुम प्रवाहित हो—यह याचना है।[1]

'आसीन ऊर्ध्वामुपसि (२४) क्षिणाति' (ऋ० १०।२७।१३)। उपस्थे। प्रकलविद् (२५) वणिग्भवति। कलाश्च वेद प्रकलाश्च। 'दुर्मित्रासः प्रकलविन्मिमानाः' (ऋ० ७।१८।१५) इत्यपि निगमो भवति।

अभ्यर्धयज्वा (२६) अभ्यर्धयन्यजति। 'सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा' (ऋ० ६।५०।५) इत्यपि निगमो भवति। ईक्षे (२७) ईशिषे। 'ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन्' (ऋ० ६।१९।१०) इत्यपि निगमो भवति। क्षोणस्य (२८) क्षयणस्य। 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय' (ऋ० १।११७।८) इत्यपि निगमो भवति॥ ६॥

(द्युलोक के) अङ्क में (उपसि) आसीन होकर सूर्य ऊर्ध्व जलधारा को नीचे गिराते हैं। (उपसि =) उपस्थ अर्थात् अङ्क में। [उप + √आस् = उपस्, सप्तमी।] 'प्रकलविद्' वणिक् को कहते हैं जो किसी वस्तु के लघुरूप तथा लघुतम रूप को भी जानता है। [टीकाकारों के अनुसार, कला = मान, उन्मान, प्रतिमान आदि विषय। प्रकला = गणित, रत्न-परीक्षा इत्यादि।] इसका वैदिक उदाहरण है—'दुष्ट [निरन्तर धन की सेवा में लगे हुए] मित्र गण, वणिक् के समान मापते हुए…।'

'अभ्यर्धयज्वा' का अर्थ—पृथक् भागों में विभाजित करके यज्ञ करने वाला (या अल्प पदार्थ को भी समृद्ध बनाकर यज्ञ करने वाला)। पूषा देवता, जो छोटे को भी बड़ा बनाकर प्रतिदान करने वाले हैं, (स्तोताओं पर धन) उडेल रहे हैं। यह वैदिक उदाहरण है। 'ईक्षे' का अर्थ है 'तुम शासन करते हो' [ईश्—>ईशिषे >ईक्षे]। हे राजन्, आप वास्तव में दोनों लोकों की सम्पत्तियों पर शासन करते हैं। यह वैदिक उदाहरण है।

'क्षोणस्य' का अर्थ है निवास-स्थान का (क्षयणस्य)। वैदिक उदाहरण है—हे अश्विन्-युगल ! आपने कण्व को विशाल निवासस्थान (प्रदान किया)। [√क्षि निवासे, ल्युट्—क्षयण>क्षवण>क्षोण।]॥ ६॥

'अस्मे (२९) ते बन्धुः' (यजु० ४।२२)। वयमित्यर्थः। 'अस्मे यातं नासत्या सजोषाः' (ऋ० १।११८।११)। अस्मानि-

---

१. स्कन्दः—अध्येषणा सत्कारपूर्विका व्यापारणा।

त्यर्थः। 'अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः' (ऋ० १।१६५।७)। अस्माभिरित्यर्थः। 'अस्मे प्र यन्धि मघवन्नृजीषिन्' (ऋ० ३।३६।१०। अस्मभ्यमित्यर्थः। 'अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु' (ऋ० (६।४७।१३)। अस्मदित्यर्थः। ऊर्व इव पप्रथे कामो अस्मे' ऋ० ३।३०।१९)। अस्माकमित्यर्थः। 'अस्मे धत्त वसवो वसूनि' (यजु० ८।१८)। अस्मास्वित्यर्थः।

['अस्मे' शब्द विभिन्न विभक्तियों का अर्थ रखता है यथा—] हम तुम्हारे बन्धु हैं—यहाँ 'वयम्' (प्रथमा) का अर्थ है। समान प्रीति वाले हे अश्विनो! हमारी ओर आओ—यहाँ 'अस्मान्' (द्वितीया) का अर्थ है। हे वृषभ, समान शक्तियों से युक्त हम लोगों के साथ—यहाँ 'अस्माभिः' (तृतीया) का अर्थ है। हे धन-स्वामी वज्रधर इन्द्र! इसे हमें प्रदान कीजिए—यहाँ 'अस्मभ्यम्' (चतुर्थी) का अर्थ है। हमसे दूर रहने वाला भी शत्रु गुप्त रूप से (सनुतः) पृथक् हो जाय—यहाँ 'अस्मत्' (पंचमी) का अर्थ है। वडवाग्नि के समान हमारी कामना फैलती है—यहाँ 'अस्माकम्' (षष्ठी) का अर्थ है। हे वसुगण! हमें धन दें—यहाँ 'अस्मासु' का अर्थ है (सप्तमी)।

विशेष—पाणिनि ने 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) सूत्र के अनुसार अस्मद् + शे के द्वारा 'अस्मे' की सिद्धि की है। यह शे-प्रत्यय किसी भी सुप्-विभक्ति के स्थान में हो सकता है। यास्क ने सातों विभक्तियों में इसके प्रयोग बतलाये हैं।

पाथः (३०) अन्तरिक्षम्। पथा व्याख्यातम्। 'श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः' (ऋ० ७।६३।५) इत्यपि निगमो भवति। उदकमपि पाथ उच्यते पानात्। 'आ चष्ट आसां पाथो नदीनाम्' (ऋ० ७।३४। १०) इत्यपि निगमो भवति। अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव। 'देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्' (ऋ० १०।७०।१०) इत्यपि निगमो भवति।

'पाथस्' का अर्थ है अन्तरिक्ष—इसकी व्याख्या पथिन्-शब्द के द्वारा हुई है [निरुक्त २।२८]। इसका वैदिक उदाहरण है—उड़ते हुए [दीयन् = उड्डीयमानः) बाज के समान वह अन्तरिक्ष (पाथः) का अनुगमन करता है। जल को भी 'पाथस्' कहते हैं, क्योंकि यह पिया जाता है (√पा > पाथस्)। वह इन नदियों के जल को देखता है—यह वैदिक उदाहरण है। खाये जाने के कारण अन्न को भी 'पाथस्' कहते हैं, जिसका वैदिक उदाहरण है—विद्वान् होने के कारण आप देवताओं के इस हव्यरूप अन्न को समीप में पहुँचा दें। [√पा = पीना, खाना—दोनों अर्थ हैं।]

सवीमनि (३१) प्रसवे। 'देवस्य वयं सवितुः सवीमनि' (ऋ० ६।७१।२) इत्यपि निगमो भवति। सप्रथाः (३२) सर्वतः पृथुः। 'त्वमग्ने सप्रथा असि' (ऋ० ५।१३।४) इत्यपि निगमो भवति। विदथानि (३३) वेदनानि। 'विदथानि प्र चोदयन्' (ऋ० ३।२७।७) इत्यपि निगमो भवति ॥ ७ ॥

'सवीमनि' का अर्थ है उत्पन्न होने पर (प्रेरित होने पर)। वैदिक निगम है—हम दिव्य सवितृ-देव की प्रेरणा पर (जाते हैं)। 'सप्रथाः' का अर्थ है सभी ओर से फैला हुआ। हे अग्निदेव ! आप सभी ओर से विस्तृत हैं। यह इसका वैदिक उदाहरण है। 'विदथानि' का अर्थ ज्ञान-समूह (√विद्), ज्ञानों को प्रेरित करता हुआ—यह वैदिक उद्धरण भी है ॥ ७ ॥

विशेष—सवीमनि = √सु + इमनिच्। गुण, दीर्घत्व—सवीमन्। सप्तमी में सवीमनि = प्रेरणा पाने पर। **सप्रथाः**—√प्रथ् + असुन् = कीर्तिः। कीर्तिमान्। **विदथानि** = √विद् + अथक् = विदथ = ज्ञान।

श्रायन्त (३४) इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥
(ऋ० ८।९९।३)

(सूर्यं श्रायन्त इव) मानो सूर्य का आश्रय लेते हुए (इन्द्रस्य) इन्द्र की (विश्वा-नि) सारी (वसूनि) सम्पत्तियों को (जाते) उत्पन्न हुए लोगों में तथा (जनमाने) उत्पन्न होने वाले लोगों में (भक्षत) विभक्त कर देंगे। हमलोग (ओजसा) अपने बल या अधिकार से (भागं) अपने भाग या अंश को (न प्रतिदीधिम) ध्यान में रखते हैं।

विशेष—यह मन्त्र चारों वेदों में आया है—यजु० ३३।४१; साम० १।२६७, २।६६९, अथर्व० २०।५८।१। यहाँ कहा गया है कि सूर्य पर आश्रित किरणें इन्द्र की जलरूप सम्पत्ति को प्रजामात्र में विभक्त कर देती हैं। हम भी अपने अधिकार से अपने अंश का ध्यान करते हैं। 'न' शब्द की संगति कठिन है। दुर्गाचार्य तथा स्वयं यास्क भी इसे 'अनु' के अर्थ में लेते हैं—न दीधिम = अनुध्यायामः। वयम् ओजसा भागं प्रति न दीधिम। स्कन्द का कथन है कि 'न' उपमार्थक है तथा 'प्रति' का अर्थ है 'अनु'। अर्थ होगा—अपने अंश के समान हम उस जलरूप सम्पत्ति का ध्यान करें।

समाश्रिताः सूर्यमुपतिष्ठन्ते। अपि वोपमार्थे स्यात्। सूर्यमिवेन्द्रमुपतिष्ठन्त इति। सर्वाणीन्द्रस्य धनानि विभक्षमाणाः। स यथा

धनानि विभजति जाते च जनिष्यमाणे च। तं वयं भागमनुध्यायाम। ओजसा बलेन। ओजः ओजतेर्वा। उब्जतेर्वा।

सूर्य पर पूर्णतः आश्रित होकर वे उसके पास पहुँचते हैं अथवा यह वाक्य उपमार्थक होगा। सूर्य के समान इन्द्र के पास पहुँचते हैं (इन्द्र को सूर्य समझ कर)। इन्द्र के सभी धनों का वितरण करते हुए—जिस प्रकार वह (इन्द्र) अपने धनों को उत्पन्न हो चुके तथा उत्पन्न होने वाले लोगों में वितरित करता है। हम उस भाग के विषय में ओजस्विता अर्थात् शक्ति के साथ चिन्तन करें। 'ओजस्' शब्द √उज (सामर्थ्य) या √उब्ज (आर्जव) से निष्पन्न है। [उणादि ४।१९३—'उब्जेर्बले वलोपश्च' से बल के अर्थ में ओजस्। असुन्-प्रत्यय।]

आशीः (३५) आश्रयणाद्वा, आश्रपणाद्वा। अथेयमितराशीः आशास्तेः। 'इन्द्राय गाव आशिरम्' (ऋ० ८।६९।६) इत्यपि निगमो भवति। 'सा मे सत्याशीर्देवेषु' (तै० सं० ३।२।७।२, मै० सं० १।४।५) इति च।

'यदा ते मर्तो अनु भोगमानळादिद् ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः (३६)।' (ऋ० १।१६३।७, १०।७।२, यजु० २९।१८)। यदा ते मर्तो भोगमन्वापदथ ग्रसितृतम ओषधीरगारीः। जिगर्तिः गिरतिकर्मा वा, गृणातिकर्मा वा, गृह्णातिकर्मा वा।

'आशीः' (सोम के साथ दुग्ध का मिश्रण) शब्द मिश्रित करने के कारण (आ + √श्रि = मिश्रित करना) या थोड़ा पकाये जाने के कारण (आ + √श्रा = पकाना) निष्पन्न है। यह दूसरा 'आशीः' शब्द (मङ्गल कामना, आशीर्वाद के अर्थ में) आ-पूर्वक शास्-धातु (मङ्गल की इच्छा करना) से बना है। पूर्व अर्थ का वैदिक निगम है—इन्द्र के लिए गाएँ मिश्रण (आशीः—दुग्ध, घृत) प्रदान करती हैं। दूसरा निगम है (मङ्गल कामना के अर्थ में)—देवताओं के प्रति मेरी वह सत्य आकांक्षा है।

['अजीगः' शब्द का निगम—] जब तक मनुष्य तुम्हारे लिए भोग्य वस्तु उपस्थित करता है (आवट् √अश्) तब तक सर्वाधिक ग्रास (भक्षण) करने वाले तुम सारे पेड़-पौधों को निगल चुके रहते हो। जब तक तुम्हारे लिए मनुष्य भोग-विषय लाता है तब तक उधर भक्षक-तम बनकर तुम सभी ओषधियों को निगल चुके। ['अजीगः में जो] 'जिगर्ति' (√गॄ) क्रिया है उसका अर्थ है—निगलना (निगरण), आह्वान करना (गॄ) या ग्रहण करना (√ग्रह्)।

'मूरा अमूर (३७) न वयं चिकित्वो महित्वमग्ने त्वमङ्ग वित्से।' (ऋ० १०।४।४) मूढा वयं स्मः। अमूढस्त्वमसि। न वयं विद्मो महित्वमग्ने। त्वं तु वेत्थ। शशमानः (३८) शंसमानः। 'यो वां यज्ञैः शशमानो ह दाशति' (ऋ० १।१५१।७ इत्यपि निगमो भवति।

'देवो देवाच्या कृपा (३९)' (ऋ० १।१२७।१, साम० १।४६५, २।११६३, यजु० १५।४७, अथर्व० २०।६७।३)। देवो देवान्प्रत्यक्तया कृपा। कृप् कृपतेर्वा कल्पतेर्वा ॥ ८ ॥

हे अग्निदेव ! हम अज्ञानी हैं, आप ज्ञानी (अमूर) हैं, आपकी महिमा हम नहीं जान सके, किन्तु आप वस्तुतः (अङ्ग) उसे जानते हैं। हम मूढ़ हैं, आप अमूढ़ हैं। हे अग्नि ! हम आपका माहात्म्य नहीं जानते। आप तो जानते हैं। 'शशमान' का अर्थ है प्रशंसा (स्तुति) करता हुआ (√शंस्)। जो आप दोनों की स्तुति करता हुआ यज्ञों के द्वारा [आहुतियाँ] प्रदान करता है—यह वैदिक उद्धरण भी है।

देवताओं की ओर उन्मुख (देवाच्या–देवाची + टा) कृपा के द्वारा वह देवता····। देवता देवों की ओर अभिमुख (प्रत्यक्तया) कृपा के द्वारा। 'कृप्' (कृपा) शब्द √कृप् (दया करना) से बना है या √क्लृप् (व्यवस्था करना) से ॥ ८ ॥

विशेष—'देवो देवाच्या कृपा' इसे निघण्टु में एक साथ पढ़ा गया है जिसमें 'देवाच्या' तथा 'कृपा' पद अनवगत हैं। ये क्रमशः देवाची कृप् के तृतीयान्त रूप हैं। देवाची = देव + √अञ्च् + क्विन् + ङीप्। कृप् = √कृप् + क्विप्। मूर का सम्बन्ध मूढ से दिखलाना यह सिद्ध करता है कि यास्क ।वभाषाजन्य ध्वनि-परिवर्तनों से परिचित थे—अमूर > अमूढ, शशमान > शंशमान। इन शब्दों की निरुक्तियाँ अन्यथा संदिग्ध हैं।

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातु (४०) रुत वा घा स्यालात्।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥
(ऋ० १।१०९।२)

(अश्रवं हि) चूंकि मैंने सुना है कि (वां) आप दोनों (विजामातुः) धन देकर कन्या को खरीद ले जाने वाले जामाता से तथा (उत वा घ स्यालात्) साले से भी (भूरिदावत्तरा,-रौ) अधिक धन देने वाले हैं, (अथ) अतः (इन्द्राग्नी) हे इन्द्र तथा अग्नि ! मैं (सोमस्य प्रयती—प्रयत्या, प्रदानेन) सोमरस के प्रदान के साथ-साथ (युवभ्यां) आप दोनों के लिए (नव्यं स्तोमं) एक नवीन स्तवन की (जनयामि) रचना करता हूँ।

विशेष—विजामातुः (विजामातृ) शब्द का निगम दिखलाने के लिए यह ऋचा दी गयी है। जिसमें जामाता के पूर्ण गुण न हों वह विजामाता है। धन देने की उसमें शक्ति है किन्तु कुलीनतादि गुण नहीं। वह कन्या को धन से खरीद लेता है, उसके पिता को बहुत धन देता है। इन्द्र तथा अग्नि ऐसे विजामाता की अपेक्षा अधिक दानी हैं। दूसरी ओर, साला अपनी बहन के हित के लिए अपने बहनोई को खूब ही धन देता है किन्तु इन्द्राग्नी ऐसे साले से भी अधिक दानी हैं। द्रष्टव्य—(दुर्गः)→स हि जामातृगुणहीनत्वाद् बहुदानेन कन्यापितॄनाराध्य तेभ्य आत्मानं रोचयति। ··· स्यालोऽपि हि भगिनीप्रियचिकीर्षया बह्वेव ददाति। (स्कन्दः)→ धनादन्ये कुलीनत्वादयो विगता जामातृगुणा यस्मात्सोऽसमाप्तगुणोऽपि जामाता क्रीतापतिरुच्यते। स हि निर्गुणत्वाद् धनेनोपप्रलम्भयन्निति शतेन बहु ददाति। ततोऽपि युवां बहुदातृनरौ। इस स्थल पर यास्क द्वारा कई सूचनाएँ दी गई हैं जो सामाजिक महत्त्व की हैं।

अश्रौषं हि बहुदातृतरौ वाम्। विजामातुः, असुसमाप्ताज्जामातुः। विजामातेति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते। असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः। जामाता—जा अपत्यम्, तन्निर्माता। उत वा घा स्यालात्। अपि च स्यालात्। स्यालः आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः। स्याल्लाजान् आवपतीति वा। लाजाः लाजतेः। स्यं शूर्पं स्यतेः। शूर्पमशनपवनम्। शृणातेर्वा। अथ सोमस्य प्रदानेन युवाभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यं नवतरम्।

ओमासः (४१) इत्युपरिष्टात् (निरु० १२।४०) व्याख्यास्यामः॥ ९॥

चूंकि मैंने सुना है कि आप दोनों अत्यधिक उदार हैं, विजामाता अर्थात् अपूर्ण गुणों वाले जमाता की भी अपेक्षा अधिक। दक्षिण-देश में उत्पन्न लोग निरन्तर क्रीता कन्या के पति को 'विजामाता' कहते हैं। इसका अभिप्राय है वह वर जिसका सम्बन्ध अभी पूर्ण-सा नहीं है। 'जामाता' इसलिए कहते हैं कि वह 'जा' अर्थात् अपत्य का निर्माता है (जा + √मा + तृच्)। इतना ही नहीं, साले की अपेक्षा भी अधिक उदार हो। 'स्याल' के विषय में नैदानों (लोकाचार-कुशल लोगों) का यह कहना है कि यह सम्बन्ध की दृष्टि से बहुत निकट है (आ + √सद् + ड्यालच् = स्यालः)। अथवा इसका निर्वचन 'स्यात् लाजान् आवपति' (सूप से लावा, भुने अन्न को विवाह में छींटता है) इस वाक्य से हो। [स्यात् + लाज् + ड = स्यालः। विवाह में साले के द्वारा वर-वधू के सिर पर लाजा

छींटने की प्रथा कहीं-कहीं है। रघुवंश (२।१०) में 'आचारलाजैरिव पौरकन्याः' के द्वारा स्त्रियों-द्वारा लाजा-वपन की चर्चा है।]

लाजा√लाज् (भूँजना) से निष्पन्न है। 'स्य' का अर्थ है सूप जो√सो (अन्तकर्म, स्यति) से निष्पन्न है। 'शूर्प' का अर्थ है अशन (भोज्य अन्न) को पवित्र (साफ, पवन) करने वाला [√अश् + √पू > शूर्प।] अथवा यह√ शॄ (दूर पर गिरना) से बना हो। अब सोम की आहुति-प्रदान द्वारा, हे इन्द्र और अग्नि ! आप दोनों के लिए नव्य अर्थात् नवीनतर स्तवन रचता हूँ।

'ओमासः' की व्याख्या हम बाद में करेंगे (निरुक्त १२।४०) ॥ ९ ॥

सोमानं (४२) स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ (ऋ० १।१८।१, यजु० ३।२८)।

(ब्रह्मणस्पते) हे स्तुतियों के स्वामी, ब्रह्मणस्पति-देवता ! (कक्षीवन्तं) कक्षीवान् ऋषि के सदृश, (यः औशिजः) जो उशिज् के पुत्र हैं, आप (सोमानं) सोम-सवन करने वाले को (स्वरणं) अतिशय प्रकाशपूर्ण या यशस्वी (कृणुहि) बना दें।

तृतीय पाद

सोमानां सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते। कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावान्। औशिजः उशिजः पुत्रः। उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः। अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानां सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते ॥ १० ॥

हे स्तुतियों के स्वामी ! सोम का सवन करने वाले मनुष्य को तेजस्वी बनाओ। कक्षीवान् के समान जो (कक्षीवान्) औशिज है। कक्षीवान् = कक्ष्या (बन्धन, कौपीन) से युक्त। औशिज = उशिज् का पुत्र। 'उशिज्' शब्द इच्छार्थक√वश् से बना है। अथवा इस ऋचा में मनुष्य के कक्ष (काँख) का अर्थ ही अभिप्रेत हो सकता है (कक्षीवान् = मनुष्यः)। [सुन्दर कक्ष या स्कन्ध से युक्त] मुझे, जो सोम का सवन करने वाला हूँ, हे ब्रह्मणस्पति-देव ! आप प्रकाशनयुक्त (तेजस्वी) बना दें। (स्वरण = स्वर् + युन् मतुबर्थीयः, √स्वर् + ल्युट् वा) ॥ १० ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं
तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे
द्वेषो धत्तमनवायं (४३) किमीदिने (४४) ॥
(ऋ० ७।१०४।२, अथर्व० ८।४।२)।

(इन्द्रासोमा) हे इन्द्र तथा सोम ! (अघशंसम्) पाप की प्रशंसा करने वाले को तथा (अभ्यघम्) स्वयं पाप के प्रति अभिमुख होने वाले दुष्ट को, [आप दोनों]

(सं० तापयतम्) सन्तप्त करें । (तपुः) वह सन्तप्त होकर (अग्निवान् चरुः इव) अग्नि में पड़े हुए चरु-पात्र के समान (ययस्तु) समाप्त हो जाए । (ब्रह्मद्विषे) स्तुतियों या ब्राह्मणों के शत्रु (क्रव्यादे) कच्चा मांस खाने वाले[1] (घोरचक्षसे) भयंकर दिखलाई पड़ने वाले (किमीदिने) पिशुन या सूचक के लिए (अनवायं) न झुकाये जा सकने के योग्य (द्वेषः) द्वेष या क्रोध (धत्तम्) आप दोनों धारण करें । [चुगली करने वाले तथा उक्त दोषों से युक्त व्यक्ति पर ऐसा क्रोध रखें कि उसके मित्रगण कभी उस क्रोध को झुका न सकें ।]

इन्द्रसोमौ ! अघस्य शंसितारम् । अघं हन्तेः । निर्ह्रसितोपसर्गः । आहन्तीति । तपुस्तपतेः । चरुर्मृच्चयो भवति । चरतेर्वा । समुच्चरन्त्यस्मादापः । ब्रह्मद्विषे ब्रह्मणद्वेष्ट्रे । क्रव्यादे क्रव्यमदते । घोरचक्षसे घोरख्यानाय । क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः । द्वेषो धत्तम् । अनवायम् = अनवयवम् । यदन्ये न व्यवेयुः अद्वेषस इति वा । किमीदिने । किमिदानीमिति चरते । किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते । पिशुनः पिंशतेः । विपिंशतीति ॥ ११ ॥

हे इन्द्र और सोम ! अपने पाप के प्रशंसक (अर्थात् उस पर गर्व करने वाले) को (पीड़ित करो) । 'अघ' (दुष्कर्म) √हन् (मारना) से बना है जिसमें (आ–) उपसर्ग ह्रस्व होकर लगा है अर्थात् जो आघात पहुँचाए (आ + √हन्) वह 'अघ' है । 'तपु'—शब्द तप्-धातु से बना है । 'चरु' (पात्र) इसलिए कहलाता है कि यह मृत्तिका का चय (समूह) है । अथवा यह √चर् (चलना) से बना है क्योंकि जल इससे [बाष्प-रूप में] ऊपर उठता है (सम् + उद् + √चर्) ।

ब्रह्मद्विषे = ब्राह्मण से द्वेष रखने वाले को । क्रव्यादे = क्रव्य (कच्चा मांस) खाने वाले को । घोरचक्षसे = घोर दृष्टि वाले को । निरुक्तकारों का कथन है कि 'क्रव्य' इसलिए कहते हैं कि [शरीर को] काटने से प्राप्त होता है (√कृत् > क्रव्य) । आप दोनों द्वेष रखें । अनवायम् = जिसके अवयन न हों (संपूर्ण रूप से अथवा द्वेषमुक्त रहने वाले दूसरे व्यक्ति भी जिसे शान्त न कर सकें (वि + अव + √इ) । किमीदिने = उस आवारे को, जो यह कहता चलता है कि 'अब क्या' । अथवा 'यह क्या है' 'यह क्या है' इस प्रकार कहते फिरने वाले पिशुन (चुगलखोर) को । 'पिशुन' पिश्-धातु (सजाना) से बना है क्योंकि वह पीठ पीछे निन्दा करने वाले को । यही

१. पृष्ठमांसभक्षयित्रे (दुर्गः) अर्थात् पीठ पीछे निन्दा करने वाले को । यही अर्थ स्कन्द ने भी रखा है ।

[छोटी-सी बात को भी] खूब सजाकर प्रस्तुत करता है (√पिश् + उनन् = पिशुन) ॥ ११ ॥

विशेष—'अनवायम्' का अवयव-रहित अर्थ मानना भ्रम है। अन + अव + √इ + घञ् = अनवायः। क्रिया-विशेषण के रूप में यह प्रयुक्त है—'जिसे पृथक् न किया जाय, इस रूप में' (आप कोप करें)। 'अन्येऽद्वेषसोऽपि यन्न व्यवेयुः' यह निर्वचन शुद्ध है। 'किमीदिने' किमिदम् वाक्य से सम्बद्ध है—किमिदमिति भृशुमुच्चारयति। किमिदिन्>किमीदिन्। ग्रासमंन इसे 'परम दुष्ट, राक्षस' के अर्थ में लेते हैं (ऋग्वेद-कोश, पृ० ३२५)। भारतीय टीकाकार इसे पिशुन या निन्दक के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ (४५) इभेव।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः॥
(ऋ० ४।४।१, यजु० १३।९)

[हे अग्निदेव !] (पृथ्वीं प्रसितिं न) विस्तृत जाल के समान (पाजः) अपने सैन्यबल को (कृणुष्व) संघटित करें तथा (अमवान्) अमात्यादि आत्मीय जनों से युक्त (राजा इव) राजा के समान (इभेन) हाथी के साथ[1] (याहि) जाएँ। (तृष्वीं) क्षिप्र (प्रसितिम् अनु) गति से फैली हुई सेना के साथ (द्रूणानः) हिंसा करते हुए (अस्तासि) आप अस्त्रों को फेकेंगे, पुनः (तपिष्ठैः) अत्यन्त सन्ताप कर. अस्त्रों के द्वारा (रक्षसः) राक्षसों को (विध्य) विद्ध कीजिए।

कुरुष्व पाजः। पाजः पालनात्। प्रसितिमिव पृथ्वीम्। प्रसितिः प्रसयनात्। तन्तुर्वा जालं वा। याहि राजेव। अमात्यवान् अभ्यमनवान्। स्ववान्वा। इराभृता गणेन गतभयेन। हस्तिनेति वा। तृष्व्यानु प्रसित्या द्रूणानः। तृष्वीति क्षिप्रनाम। तरतेर्वा, त्वरतेर्वा। असितासि। विध्य रक्षसः। तपिष्ठैः तप्ततमैः, तृप्ततमैः, प्रपिष्टतमैरिति वा।

अपनी सैन्यशक्ति संघटित करो। 'पाजस्' पाल्-धातु से बना है (क्योंकि इसका पालन किया जाता है)। विस्तृत जाल के समान। 'प्रसिति' इसलिए कहते हैं कि इसे बाँधा जाता है (प्र + √सि), जो पाश या जाल कहाता है। राजा के समान जाएँ। [अमवान् =] अमात्य से युक्त या जो अपने शत्रुओं के

१. अन्य अर्थ—इराभृतेन अन्नभृतेन गणेन युक्तः। इतं गतं भयं यस्य स तथाभूतेन सैनिकगणेन युक्तः।

लिए रोग (अमन) का कार्य करता है या आत्मीय जनों से युक्त। [इभेव =] अन्न (इरा) ढोने वाले समूह के साथ, विगत-भय समूह के साथ या हाथी के साथ। क्षिप्र गनि वाले सैन्य से संहार करते हुए। [तृतीया के अर्थ में द्वितीया है।] 'तृष्वी' क्षिप्र का पर्याय है जो तृ या त्वर-धातु से निष्पन्न है (पार होना, शीघ्रता करना)। आप फेंकने वाले (अस्ता > असिता) हैं। राक्षसों को विद्ध कीजिए ! तपिष्ठैः = तप्ततम अर्थात् सर्वाधिक सन्तापकर, या प्रज्वलित होने वाले, या प्रकृष्ट रूप से पीसने वाले (प्रपिष्टतम) अस्त्रों से। [वस्तुतः √तप् + तृच् + इष्ठन् = सन्तापकर।]

'यस्ते गर्भममीवा (४६) दुर्णामा योनिमाशये' (ऋ० १०।१६२।२)। अमीवा अभ्यमनेन व्याख्यातः। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा। क्रिमि क्रव्ये मेद्यति। क्रमतेर्वा स्यात्सरणकर्मणः। क्रामतेर्वा।

'अतिक्रामन्तो दुरितानि (४७) विश्वा' (पैप्पलाद सं० १७।३२।८)। अतिक्रममाणा दुर्गतिगमनानि सर्वाणि।

[हे नारी !] जो रोग (अमीवा) कठिनता से पहचान में आने योग्य (दुर्णामा) है तथा तुम्हारी योनि पर आक्रमण करके गर्भ में स्थित है [उस अन्तःस्थित मांस के भक्षक रोग या क्रिमि को यह चित्रक रूप अग्नि नष्ट कर देगा—आयुर्वेदीय मन्त्र]। 'अमीवा' की व्याख्या अभ्यमन के द्वारा (√अम्-धातु = रोग) हो गयी। 'दुर्णामा' रोग के कीटाणु (क्रिमि) को कहते हैं जिसका नाम पापपूर्ण है (या पापप्रदेश, योनि में परिणत होता है—दुर्ग)। [दुस्—दुःखेन नमति शाम्यति निदानीक्रियते वा—दुर्णामा। जो कठिनता से पकड़ में आये।] 'क्रिमि' इसलिए कहते हैं कि क्रव्य (कच्चे मांस) में स्निग्ध या लुब्ध रहता है (क्रव्य + √मिद् = क्रिमि)। अथवा 'रेंगना' अर्थवाले √क्रम्-धातु से या √क्राम् (हिंसा, दौड़ना) से निष्पन्न हो।

समस्त दुष्कर्मों (या दुर्गतियों) का अतिक्रमण करते हुए····(अथर्ववेद)। दुर्गति की ओर ले जाने वाले सारे कर्मों का अतिक्रमण करते हुए। [दुरित = दुस् + √इ + क्त = दुर्गतिपूर्ण कर्म। इस शब्द का ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर प्रयोग है, तथापि यास्क अथर्ववेद का ही उदाहरण देते हैं।]

अप्वा (४८) यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा भयं वा। 'अप्वे परेहि' (ऋ० १०।१०३।१२) इत्यपि निगमो भवति। अमतिः (४९) अमामयी मतिः। आत्ममयी। 'ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्यु-

तत्सवीमनि' (अथर्व० १।१४।२, साम० १।४६४, यजु० ४।२५) इत्यपि निगमो भवति ।

श्रुष्टी (५०) इति क्षिप्रनाम । आशु अष्टीति ।। १२ ।।

'अप्वा' (रोग, भय) वह है जिससे विद्ध होने या पकड़े जाने पर मनुष्य [अपने प्राणों से] पृथक् कर दिया जाये (अप + √वी = खाना, समाप्ति; अपवाय > अप्वा) । व्याधि या भय इसका निर्गलित अर्थ है । उदाहरण है—हे रोग दूर हो जा ।

'अमति' (भार, धूप—ग्रासमैन) का अर्थ है अमा से युक्त बुद्धि अर्थात् आत्ममयी मति (आत्मा पर नियंत्रण रखने वाली बुद्धि । आत्ममति > अमामति > अमति) । जिसकी आत्ममति के रूप में स्थित ज्योति (ज्ञानज्योति) उत्तम है तथा प्रेरणा पाकर चमकती है—यह वैदिक उदाहरण भी है ।

'श्रुष्टी' क्षिप्र का पर्याय है जो शीघ्रता से व्याप्त होता है (आशु अष्टि > शु अष्टि > श्रुष्टी, श्रुष्टिः वा) ।

ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् । ऋ० १।३९।४) तानध्वरे यज्ञे । उशतः कामयमानान् । यजाग्ने । श्रुष्टी भगम् । नासत्यो चाश्विनौ । सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः । सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः । नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा ।

हे अग्निदेव, यज्ञ में अपने भाग की कामना करने वाले बुद्धिमान् भग तथा नासत्यों (अश्विनों) के लिए शीघ्र यज्ञ कीजिए । उनके लिए जो अध्वर अर्थात् यज्ञ में । उशतः = कामना करने वालों के लिए । अग्निदेव, आप यज्ञ करें । शीघ्र ही, भग के लिए तथा नासत्यों अर्थात् अश्विनों के लिए । ['नासत्यौ' शब्द के निर्वचन के विषय में] और्णवाभ का कथन है कि वे सत्य ही हैं, कभी असत्य नहीं हैं । आग्रायण कहते हैं कि वे सत्य के प्रणेता हैं । अथवा [वे 'नासत्या' इसलिए कहलाते हैं कि] नासिका से उत्पन्न हुए थे—ऐसा इतिहासवेत्ताओं का कहना है (स्कन्द) । [नासिका से उत्पन्न प्राण तथा उदान वायु को नासत्य कहते हैं (ब्रह्ममुनि) ।]

पुरन्धिः (५१) बहुधीः । तत्कः पुरन्धिः । भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम् । इन्द्र इत्यपरम् । स बहुकर्मतमः । पुरां च दारयितृतमः । वरुण इत्यपरम् । तं प्रज्ञया स्तौति । 'इमामू नु कवितमस्य मायाम्' (ऋ० ५।८५।६) इत्यपि निगमो भवति ।

रुशत् (५२) इति वर्णनाम । रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः । समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः' (ऋ० ५।१।२, साम० २।१०९७) इत्यपि निगमो भवति ॥ १३ ॥

'पुरन्धिः' का अर्थ है अत्यन्त बुद्धिमान् । तव उपर्युक्त मन्त्र में 'पुरन्धिः' किसका बोधक है ? कुछ लोगों के अनुसार जो पूर्व में 'भग' देवता का निर्देश है उन्हीं का यह विशेषण (अनु-निर्दिष्ट) है । कुछ लोगों के अनुसार यह इन्द्र का बोधक है, क्योंकि वे अनेक (पुरु) कर्मों (धि-धिया) से सर्वाधिक सम्पन्न हैं । साथ ही वे पुरों (नगरों) को विदीर्ण करने वालों में श्रेष्ठ हैं (पुर्+√दृ = पुरन्धिः) फिर भी कुछ लोग इसे वरुण का बोधक मानते हैं, जिसकी स्तुति प्रज्ञा का निर्देश करते हुए की जाती है (पुरु+धी = प्रज्ञा, अत्यन्त बुद्धिमान् वरुण) । इस तथ्य का निर्देश करने वाला वैदिक उद्धरण भी है—पूर्वश्रेष्ठ मेधावी (कवि-तम) की इस प्रज्ञा को····।

'रुशत्' शब्द वर्ण का पर्यायवाची है तथा 'चमकना' अर्थ वाले √रुच् से निष्पन्न है । इसका वैदिक निगम है—'प्रज्वलित की प्रदीप्त शक्ति देखो गयी ।' [अग्नि के प्रज्वलित होने पर उनकी प्रदीप्त ज्वाला प्रातःकाल में देखी गयी ।] ॥ १३ ॥

विशेष—'पुरन्धि' का बहुकर्मयुक्त अर्थ बिल्कुल शुद्ध है । तुल० भारो० —pelu (अधिक), ग्रीक—polus (अधिक)√पुरु । धि√धा, अंग्रेजी—deed. (कर्म) ।

'अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसो (५३) देवासो अस्त्याप्यम्' (ऋ० ८।२७।१०) । अस्ति हि वः । समानजातिता रेशयदासिनो देवाः । अस्त्याप्यम् । आप्यमाप्नोतेः ।

सुदत्रः (५४) कल्याणदानः । 'त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः' (ऋ० ७।३४।२२; यजु० २।२४; ८।१४) इत्यपि निगमो भवति ।

सुविदत्रः (५५) कल्याणविद्यः । 'आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ्' (ऋ० १०।१५।९; अथर्व० १८।३।४८) इत्यपि निगमो भवति ।

'हिंसकों (दुष्टों) को मारने वाले हे देवगण ! आप लोगों में सजातीयता है, भ्रातृत्व (आप्य=सुलभत्व) है ।' आप में, हिंसकों को (रेशयत) दूर फेंकने वाले (√अस्—आसिनः) हे देवगण, समानजातिता है (आप सब समान स्थान से उत्पन्न हैं या सबों में देवत्व है) । आप्य (भ्रातृत्व या सुगमता) भी है । 'आप्य' शब्द √आप् (प्राप्त करना) से बना है ।

'सुदत्र' शब्द का अर्थ है पर्याप्त देने वाला। इसका वैदिक निगम है—पर्याप्त दान करने वाला त्वष्टा हमलोगों में धन का वितरण करे।

'सुविदत्र' का अर्थ है उत्तम ज्ञान वाला। इसका वैदिक उदाहरण है—हे अग्नि! श्रेष्ठ ज्ञान वाले (देवताओं) के साथ इसी ओर चले आइए।

विशेष—'रिशादसः' की निरुक्ति दो प्रकार की है—(१) √रिश्+क = रिशः (हिंसकः)। रिश + √अद् (भोजन)+असुन् = रिशशादाः (हिंसकान् अत्ति यः स)। (२) √रिश्+(अन्तर्भूत णिच्)+शतृ = रेशयत् (हिंसक)+√अस् (फेंकना) = रेशयद् अस्>रिशदस्>रिशादस्। पूर्व निरुक्ति सायण की है और दूसरी यास्क की। निश्चय ही सायण की निरुक्ति अधिक संगत है। यास्क 'रेशयदासिनः' के द्वारा हिंसकों पर शस्त्र-प्रहार करने वाला अर्थ मानते हैं। इसका दूसरा पाठ 'रेशयदारिणः' के रूप में भी मिलता है जो दुर्गाचार्य की टीका में भी 'केचित्' के द्वारा निर्दिष्ट है। स्कन्द यह पाठ नहीं मानते। दुर्ग ने इसका अर्थ भो दिया है—रेशयन्तं हिंसन्तं दारयन्तीत्यर्थः।

आनुषक् (५६) इति नामानुपूर्व्यस्य। अनुषक्तं भवति। 'स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्' (ऋ० ८।४५।१, यजु० ७।३२) इत्यपि निगमो भवति।

तुर्वणिः (५७) तूर्णवनिः। 'स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये' (ऋ० १।५६।३) इत्यपि निगमो भवति।

गिर्वणाः (५८) देवो भवति। गीर्भिरेनं वनयन्ति। 'जुष्टं गिर्वणसे बृहत्' (ऋ० ८।८९।७; साम० २।७८१) इत्यपि निगमो भवति॥ १४॥

'आनुषक्' आनुपूर्व्य (एक क्रम से) का नाम (पर्याय) है। यह एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। अनु+√षञ्ज = सटा रहना)। इसका वैदिक निगम है—वे लोग कुशों को एक-दूसरे से सटा-सटाकर क्रमशः बिछाते हैं।

'तुर्वणि' का अर्थ है शीघ्र अभिभूत करने वाला (या देने वाला)। इसका वैदिक उदाहरण भी है—वे (इन्द्र) शीघ्रता से प्रदान करने वाले हैं तथा रेणु-रहित संग्राम में (शोभते हैं)। 'गिर्वणाः' देवता को कहते हैं क्योंकि इन्हें स्तुतियों से प्रसन्न किया जाता है (गीः+√वन सम्भक्तौ+असुन्)। इसका वैदिक निगम है—देवता के लिए मनोनुकूल या प्रिय (जुष्टं) बृहत् सूक्त····॥ १४॥

विशेष—'तुर्वणि' शब्द में यास्क ने तूर्ण तथा वनि (√वन् = सेवा, दान) ये दो पद माने हैं तूर्ण>तुर्। शीघ्रता से प्रदान करने वाला। किन्तु इसका अन्य

अर्थ 'विजेता, हिंसक' भी है क्योंकि इन्द्र का विशेषण है। उस स्थिति में यह √तुर्वी (हिंसा) + अनि से बना है। अन्यथा इसकी व्युत्पत्ति तूर्ण + √वन् + इन् से होगी।

'असूर्ते सूर्ते (५८) रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।' (ऋ० १०।८२।४; यजु० १७।२८)। असुसमीरिताः सुसमीरिते वातसमीरिताः। माध्यमका देवगणाः। ते रसेन पृथिवीं तर्पयन्तः। भूतानि च कुर्वन्ति। त आयजन्त—इत्यतिक्रान्तं प्रतिवचनम्।

(असूर्ते = असु-समीरिताः) वायु के द्वारा प्रेरित, जिन देवताओं ने (सूर्ते रजसि = सुष्ठु ईरिते स्थाने) अच्छी तरह प्रेरित, विस्तीर्ण अन्तरिक्ष लोक में (निषत्ते = निषण्णाः) बैठकर, इन समस्त जीवों का निर्माण किया। [असूर्ते तथा निषत्ते प्रथमा बहुव० के पद हैं।]

असु (वायु, प्राण) से सम्यक् रूप में प्रेरित (देवगण) अर्थात् वायु से समीरित मध्यम लोक वाले देवगण जो अच्छी तरह प्रेरित (विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में बैठे हैं)। वे रस (जल) से पृथ्वी को तृप्त करते हुए, जीवों का निर्माण करते हैं। इस का प्रधान वाक्य खण्ड (Principal clause) 'उन्होंने यज्ञ किया' छोड़ दिया गया है।

'अम्यक् (५९) सा त इन्द्र ऋष्टिः' (ऋ० १।१६९।३) अमाक्तेति वा। अभ्यक्तेति वा। 'यादृश्मिन् (६०) धायि तमपस्यया विदत्' (ऋ० ५।४४।८) यादृशेऽधायि तमपस्ययाविदत्। 'उस्रः पितेव जारयायि (६१) यज्ञैः' (ऋ० ५।१२।४) उस्र इव गोपिता अजायि यज्ञैः॥ १५॥

हे इन्द्र! आपका वह भाला बिल्कुल सीधा है। [अभ्यक् =] एक साथ अथवा मेरी ओर (अमा) फेंकी गयी (अक्ता)। शत्रुओं की ओर (अभि) फेंकी गयी। [अमा + √अञ्च् + क्विन् > अमाक् > अम्यक्। अभि + √अञ्च् + क्विन् = अभ्यक् > अम्यक्।]

(यादृश्मिन्) जिस प्रकार के पदार्थ पर (धायि = अधायि) दाँव लगाया गया (तम्) उसे (अपस्यया = अपः कर्म एव अपस्या) अपने कर्म या चातुर्य से (विदत्) प्राप्त किया। जिस वस्तु का ध्यान किया उसे चतुरता से जीत लिया।

['जारयायि' का उदाहरण—] वह यज्ञों से उसी प्रकार उत्पन्न हुआ (जारयायि = अजायत, *अजायि।) जैसे वृषभ (उस्रः) पिता के रूप में उत्पन्न हो। यज्ञों के साथ वृषभ के समान गो-पिता के रूप में उत्पन्न हुआ॥ १५॥

विशेष—'जारयायि' का अर्थ दयानन्द ने शरीर किया है—जारं जरावस्थां यातुं शीलमस्य तच्छरीरम् । जार + √या + णिनि (पा० सू० ३।२।७८) ।

'प्र वोऽच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्व अग्रियोत वाजाः ।' (ऋ० ४।३४।३) । प्रास्थुर्वै जोषयमाणा अभवत सर्वे । अग्रगमनेति वा । अग्रगरणेनेति वा । अग्रसम्पादिन इति वा । अपि वा 'अग्रम्' इत्येतदनर्थकमुपबन्धमाददीत ।

'अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवींषि चनो दधिष्व पचतोत सोमम्' (ऋ० १०।११६।८) अद्धीन्द्र प्रस्थितानीमानि हवींषि चनो दधिष्व । च न इत्यन्ननाम । पचतिर्नामीभूतः ।

['अग्रिया' (६३) पद का निगम—) हे ऋभुगण ! आप लोगों के सामने (अच्छ) [ये विद्वान्] अत्यधिक आनन्दित होकर प्रतिष्ठित हो चुके हैं (प्र-अस्थुः); आप लोग भी सब-के-सब प्रधान (अग्रियाः) तथा ज्ञान-सम्पन्न बनें (अभूत—लोडर्थे लुङ्) । आनन्दित होते हुए ये सभी प्रतिष्ठित हुए (या चल पड़े) । सभी (प्रधान) हो चुके हैं —आगे जाने के कारण, आगे निगलने के कारण या सर्वप्रथम कार्य सम्पन्न करने के कारण (अग्र>अग्रियाः) । अथवा अग्र-शब्द स्वार्थ में ही प्रत्यय ग्रहण कर रहा हो (अग्र = अग्रिय) ।

[चनः (६४) तथा पचता (६५) का निगम—] हे इन्द्र ! इन प्रस्तुत हव्यों का भोजन कीजिये, अन्न (चनः) को तथा पक्व सोमरस को भी ग्रहण कीजिए । हे इन्द्र ! इन प्रस्तुत हव्यों का भक्षण करें, अन्न ग्रहण करें । 'चनः' शब्द अन्न का पर्याय है । 'पचति' का नाम (सुबन्त) के रूप में प्रयोग है । ['पचत' शब्द क्रिया नहीं है, प्रत्युत 'पक्व' के अर्थ में सोम का विशेषण है ।]

तं मेदस्तः प्रति पचताग्रभीष्टाम्' (मैत्रा० सं० ४।१३।९) इत्यपि निगमो भवति । अपि वा मेदसश्च पशोश्च । सात्त्वं द्विवचनं स्यात् । यत्र ह्येकवचनार्थः, प्रसिद्धं तद् भवति । 'पुरोळा अग्ने पचतः' (ऋ० ३।२८।२) इति यथा ।

शुरुधः (६६) आपो भवन्ति । शुचं संरुन्धन्ति । 'ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः' (ऋ० ४।२३।८) इत्यपि निगमो भवति । अमिनः (६७) अमितमात्रो महान्भवति । अभ्यमितो वा । 'अमिनः सहोभिः' (ऋ० ६।१९।१) इत्यपि निगमो भवति ।

स्नेह-पूर्ण घृत से पके हुए (पचता) पदार्थ को ग्रहण करें (अग्रभीष्टाम्)—यह वैदिक उदाहरण भी है । अथवा घृत से (मेदसः) तथा पुरोडाश से (पशोः)

पृथक्-पृथक् पदार्थों के पके होने के कारण सत्ता-विषयक द्विवचन [इस 'पचता' में] हो। जहाँ एकवचन का अर्थ होता है—वह तो प्रसिद्ध ही है। जैसे—हे अग्नि! पका हुआ पुरोडाश। [पचत' का अर्थ पक्व है जिसके बहुवचन, द्विवचन तथा एकवचन में भी अर्थ होते हैं—पचत (पक्वानि) हवींषि, पचत (पक्वौ) पदार्थौ, पचतः (पक्वः) पुरोडाः।]

'शुरुधः' (पुष्टिकर पेय—ग्रासमैन) जल को कहते हैं, क्योंकि वे उष्णता को अच्छी तरह रोकते हैं (शुच् + √रुध् > शुरुध्)। इसका वैदिक निगम है—वे वस्तुतः यज्ञ के प्रथम जल हैं। [शुरुधः = ओषधियाँ, गाएँ, पृथ्वी, दुष्ट प्रजा, जल।]

'अमिनः' का अर्थ है जिसकी मात्रा (परिमाण) मापी न जा सके, यह महान् होता है। अथवा जिसे मारा न गया हो (अनभिहिंसित)। इसका वैदिक उदाहरण है—शक्तियों के द्वारा न मापे जाने योग्य।

जज्झतीः (६८) आपो भवन्ति। शब्दकारिण्यः। 'मरुतो जज्झतीरिव' (ऋ० ५।५२।६) इत्यपि निगमो भवति। अप्रतिष्कुतः (६९) अप्रतिष्कृतः। अप्रतिस्खलितो वा। 'अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः' (ऋ० १।७।६; साम० २।९७१; अथर्व० २०।१७।१२) इत्यपि निगमो भवति। शाशदानः (७०) शाशाद्यमानः। 'प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः' (ऋ० १।३३।१३) इत्यपि निगमो भवति ॥ १६ ॥

'जज्झतीः' जलों को कहते हैं क्योंकि ये इस प्रकार (जज्झ) की ध्वनि करते हैं (अर्थात् यह शब्दानुकारी पद है)। इसका वैदिक उदाहरण है—मरुद्-गण जलों के समान।

'अप्रतिष्कुत' का अर्थ है अप्रतिष्कृत (जिसका विरोध किया न जा सके)। अथवा जो प्रतिस्खलित (निरुद्ध) न हो। इसका वैदिक उदाहरण है—हमारे लिए जो विरोध-रहित (या प्रतिशब्द-रहित—सायण) है। 'शाशदान' का अर्थ है पुनः-पुनः मारे जाने पर (शाशाद्यमान √शद् = मारना)। इसका वैदिक निगम भी है—बार-बार मारे जाने पर (उस वृत्र ने) अपनी मति का अतिक्रमण किया (प्र अतिरत्—इन्द्र के प्रति नम्र होने के लिए अपनी हठधर्मिता छोड़ दी) ॥ १६ ॥

चतुर्थ पाद

सृप्रः (७१) सर्पणात्। इदमपीतरत्सृप्रमेतस्मादेव। सर्पिर्वा तैलं वा। 'सृप्रकरस्नमूतये' (ऋ० ८।३२।१०) इत्यपि निगमो भवति। करस्नौ बाहू। कर्मणां प्रस्नातारौ।

सुशिप्रम् (७२) एतेन व्याख्यातम् । 'वाजे सुशिप्र गोमति' (ऋ० ८।२१।८) इत्यपि निगमो भवति । शिप्रे हनू नासिके वा । हनुर्हन्तेः । नासिका नसतेः ।

'विष्यस्व शिप्रे वि सृजस्व धेने' (ऋ० १।१०१।१०) इत्यपि निगमो भवति । धेना दधातेः ।

'सृप्र' (कोमल) शब्द सर्पण करने के कारण (√सृप्) निष्पन्न है । यह दूसरे अर्थ का 'सृप्र' भी उसी धातु से बना है । यह अर्थ है—घृत या तेल । इसका वैदिक उदाहरण है-–नमनशील भुजाओं वाले (इन्द्र) को रक्षा के लिए (बुलाते हैं) । 'करस्न' का अर्थ है भुजाएँ क्योंकि ये कार्यों को समाप्त करने वाली हैं (कर्म + √स्ना > करस्न) । [√सृप् + रक् = सृप्रः, नमनशीलः, सर्पः, सर्पिः, तैलं वा ।]

'सुशिप्र' की व्याख्या भी इसी से हो गयी है (सुन्दर ओठों से युक्त) । [यास्क का कथन है कि यह शिप्र भी सृप्र के समान √सृप् (गतौ) से बना है । 'शिप्र' का अर्थ भी नमनशील है किन्तु यह ओठ के अर्थ में रूढ़ हो गया है ।] सुन्दर ओठों वाले इन्द्र ! गौओं से युक्त अन्न के विषय में····। यह इसका वैदिक उद्धरण है । 'शिप्र' का अर्थ है दोनों जबड़े (हनू) या नाक । 'हनु' शब्द √हन् (मारना) से बना है [= भोज्य वस्तु को ये जबड़े चबाकर समाप्त करते हैं] । 'नासिका' √नस् (संयुक्त करना) से बना है [क्योंकि गन्ध प्राप्त करती है] । इस अर्थ का वैदिक निगम है—अपने जबड़ों को खोल दें (विष्यस्व—वि + √सो + लोट्) तथा धेनाओं (बाह्य तथा आन्तर वाणियों) को मुक्त करें (कुछ बोलिए) । धेना √धा (धारण करना) से निष्पन्न है ।

विशेष—'धेना' का निर्वचन √धा से होता है जिसमें शानच् प्रत्यय लगाकर एत्व तथा अभ्यास-लोप व्यत्यय से हुए हैं—दधाना > धेना (अपने अभिधेय को धारण करने वाली-वाणी) दूसरा निर्वचन है—√धेट् (पीना) + न (उणादि ३।१०—धेट इच्च) । धयन्ति पिबन्ति तामिति धेना (वाणी) । पानमत्र स्वीकारः । तीसरा निर्वचन है—√धिवि (प्रसन्न करना) + न । प्रीणयति हि वाक् सुष्ठु प्रयुक्ता । ये सभी निर्वचन देवराज ने निघण्टु (१।११) की व्याख्या में दिये हैं जहाँ 'धेना' शब्द वाणी के ५७ पर्यायों में अन्यतम है । 'धेना' का इसी से अतिदेश होकर 'जिह्वा' अर्थ भी है । दुर्गाचार्य ने इसका अर्थ प्रस्तुत स्थल में 'नीचे वाले जबड़े (आधस्त्ये दंष्ट्रे)' या जिह्वा—उपजिह्विका (uvula) किया है । उन्होंने निर्वचन भी किया है—तयोर्हि अन्नं धीयते ।

रंसु (७३) रमणीयेषु । रमणात् । 'स चित्रेण चिकिते रंसु भाषा' (ऋ० २।४।५) इत्यपि निगमो भवति । द्विबर्हाः (७४) द्वयोः स्थानयोः परिवृढः । मध्यमे च स्थान उत्तमे च । 'उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः' (ऋ० ६।१९।१, यजु० ७।३९) इत्यपि निगमो भवति । अक्रः (७५) आक्रमणात् । 'अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम्' (ऋ० ३।१।१२) इत्यपि निगमो भवति। उराणः (७६) उरु कुर्वाणः । 'दूत ईयसे प्रदिव उराणः' (ऋ० ४।७।८) इत्यपि निगमो भवति ।

'रंसु' का अर्थ रमणीय पदार्थों में । यह √रम् (रमण करना) से बना है । इसका वैदिक उदाहरण भी है—उसने इन रमणीय शरीरों में (रंसु) विचित्र ज्योति के द्वारा (चैतन्य गुण के कारण) पहचान लिया (चिकिते √चित्) ।

'द्विबर्हाः' का अर्थ है दोनों मे परिवृढ (वढ़ा हुआ, महान्—√वृह् >बर्हाः) अर्थात् मध्यम स्थान (अन्तरिक्ष लोक) में तथा उत्तम स्थान (द्युलोक) में । इसका वैदिक उद्धरण है—अपनी शक्तियों से अपरिमित जो दोनों स्थानों में महान् है । 'अक्र' आक्रमण होने के कारण कहलाता है (जो आक्रमण करे, दूसरों से अनाक्रान्त, किला) । इसका वैदिक निगम है—बहुत वड़ी सेना को धारण करने वाले आक्रान्तविजेता (अक्रः) के समान संग्राम में (विदथे)····। [यास्क के अनुसार - आ + √क्रम् >अक्र, सायण—नञ् (अ) + √क्रम् + ड = अक्रः (दुर्ग, किला, अनाक्रान्त पुरुष) ।]

'उराणः' का अर्थ है प्रचुर कार्य करने वाला (उरु + कुर्वाण > उर्वाण > उराण) । वैदिक निगम है—बहुत प्राचीन काल से (प्रदिवः) अल्प हव्य को भी प्रगुणित करने वाले (उराणः) दूत के रूप में आप जाते हैं ।

स्तियाः आपो भवन्ति । स्त्यायनात् । 'वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् (७७)' (ऋ० ६।४४।२१) इत्यपि निगमो भवति । स्तिपाः (७८) स्तियापालनः । उपस्थितान्पालयतीति वा । 'स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः' (ऋ० १०।६९।४) इत्यपि निगमो भवति ।
जवारु (७९) जवमानरोहि, जरमाणरोहि, गरमाणरोहीति वा । 'अग्रे रुप आरुपितं जवारु' (ऋ० ४।५।७) इत्यपि निगमो भवति । जरूथं (८०) गरूथम् । गृणातेः । 'जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम्' (ऋ० ७।९।६) इत्यपि निगमो भवति ।

'स्तियाः' जल को कहते हैं क्योंकि इसका संग्रह किया जाता है (√स्त्यै) । इसका वैदिक उदाहरण भी है—नदियों की वृद्धि करने वाला तथा जल की वृष्टि

करने वाला। 'स्तिपाः' का अर्थ है जल (स्तिया) का पालक (रक्षक)। अथवा वह जो उपस्थित पादर्थों की रक्षा करे [स्तिया-पा>स्तिपा। स्थित+पा> स्थिपा>स्तिपा।] इसका वैदिक उदाहरण भी है—वही आप (हे अग्नि !) हमारे जलों के रक्षक तथा शरीर के रक्षक बन जायँ।

'जवारु' का अर्थ है जो गति के साथ आगे बढ़े (जव+√रुह्>जवारु); या जो नष्ट करते हुए आगे बढ़े (√जॄ+√रुह) या जो (अन्धकार को) निगलते हुए आगे बढ़े (√गॄ+√रुह्)। [जव-जर-गर>जव+√रुह् = जवारु। दुर्गाचार्य इसका अर्थ 'सूर्य-मण्डल' करते हैं। ग्रासमैन—'शीघ्रता करने वाला'।] इसका वैदिक उदाहरण भी है—सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी के (रुपः) ऊर्ध्वभाग में सूर्यमण्डल आविर्भूत हुआ। 'जरूथ' का अर्थ है सूक्त (गरूथ) जो √गॄ (स्तुति करना) से बना है। [जॄ+ऊथन्=जरूथम्; गॄ>गरूथम्।] इसका वैदिक निगम है—(जरूथं) स्तोत्र को (हन्=गमयन्) [अग्नि के प्रति] प्रेषित करते हुए (राये) धन प्राप्ति के लिए (पुरन्धिम्) बुद्धिमान् अग्नि की (यक्षि) पूजा करो।

कुलिशः (८१) इति वज्रनाम। कूलशातनो भवति।

'स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः।' (ऋ० १।३२।५) स्कन्धो वृक्षस्य समास्कन्नो भवति। अयमपीतर-स्कन्ध एतस्मादेव। आस्कन्नं काये। अहिः शयत उपपर्चनः पृथिव्याः।

तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः ॥ १७ ॥

'कुलिश' शब्द वज्र का पर्याय है, यह कूलों को छिन्न-भिन्न कर देता है (कूल +√शद्+ड = कूलशः>कुलिशः=नद, कुठार, वसूला, वज्र)। (कुलिशेन) वज्र के द्वारा, कुठार द्वारा (विवृक्णा-नि) काट डाली गई (स्कन्धांसि इव) वृक्ष-शाखाओं के समान (अहिः) मेघ (पृथिव्याः) पृथ्वी के (उपपृक्) निकट सम्पर्क में आकर (शयते) उपस्थित है।

वृक्ष का स्कन्ध (इसलिए कहा जाता है कि उससे सम्बन्ध रखे हुआ है (√स्कन्द्)। कन्धे के अर्थ में यह दूसरा 'स्कन्ध' भी उसी धातु से बना है क्योंकि शरीर में सम्बद्ध (√स्कन्द्) है। मेघ पृथ्वी के समीप से सम्पर्क करता हुआ (उपपर्चनः=उपरि सम्पर्कस्य कर्ता) स्थित है।

'तुञ्जः' (भेंट, दान) देना के अर्थ वाले √तुज् से निष्पन्न है ॥ १७ ॥

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

(ऋ० १।७।७; अथर्व० २०।७०।३०)

(तुञ्जेतुञ्जे) प्रत्येक दानकर्म के अवसर पर (वज्रिणः) वज्र धारण करने वाले (इन्द्रस्य) इन्द्र-देवता के (ये उत्तरे स्तोमाः) जो उत्कृष्ट स्तोत्र हैं उनसे (अस्य) इन इन्द्र की (सुष्टुतिं) सुन्दर स्तुति, मैं (न विन्धे) नहीं पाता, समझता हूँ। [सायण ने अर्थ दिया है कि फल प्रदान करने वाले दूसरे प्रत्येक देवता के लिए जो उत्कृष्ट स्तोत्र कहे जाते हैं उन्हें मैं इन्द्र की अच्छी स्तुति के योग्य नहीं समझता हूँ। क्योंकि इन्द्र की महत्ता सर्वोपरि है।]

दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्तिं स्तुतेः।

बर्हणा (८३) परिबर्हणा। 'बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणा कृतः' (ऋ० १।५४।३) इत्यपि निगमो भवति ॥ १८ ॥

प्रत्येक दानकर्म के अवसर पर जो वज्रधर इन्द्र के उत्कृष्ट स्तोम हैं, उनसे मैं इन (इन्द्र) की स्तुतियों की पूर्णता या समाप्ति नहीं मानता (पाता—विन्धे = विन्दामि। ['तुञ्ज' = चोट, प्रहार (मोनियर विलि०), दौड़ (ग्रासमैन), फलदाता देवता (सायण)। इसके अन्य अर्थ हैं—वज्र, पालन, बल, स्वीकरण, गृह (ब्रह्ममुनि)।]

'बर्हणा' का अर्थ है परिवृद्धि या हिंसा (√बर्ह हिंसायाम्)। इसका वैदिक उदाहरण भी है—अत्यधिक कीर्ति या शब्द (श्रवस्) से युक्त असुर (मेघ) अच्छी तरह क्षीण या जर्जर (बर्हणा) कर दिया गया ॥ १८ ॥

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।
अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः।
(ऋ० ५।३४।३)

(यः) जो यजमान (अस्मै) उस इन्द्र के लिए (घ्रंसे) दिन में (उत वा यः) और जो (ऊधनि) रात्रि में भी (सोमं सुनोति) सोम का सवन करता है, वह (द्युमान् अह भवति) निश्चित रूप से प्रकाशवान्, प्रसिद्ध हो जाता है। (शक्रः) समर्थ तथा (मघवा) धनदाता इन्द्र (तनूशुभ्रं) अपने शरीर को सुशोभित करने वाले, (ततनुष्टिम्) अनेक प्रकार से धन-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को (अप ऊहति, अप-ऊहति) बार-बार नष्ट कर देते हैं, (यः कवासखः) साथ ही जो दुष्ट लोगों का साथी है [उसे भी इन्द्र नष्ट करते हैं]।

विशेष—इस मन्त्र में 'ततनुष्टिम्' (८४) का उदाहरण प्रदर्शित है। इसका अर्थ है—तितनिषुः (विस्तार करने का इच्छुक)। √तन् + सन् = तितनिष् + क्तिच् = तितनिष्टिः > ततनुष्टि। इट् के स्थान में उट् का आगम, 'सन्यतः' का

अभाव । 'अप' उपसर्ग की द्विरुक्ति से क्रिया की भी नित्यता के अर्थ में द्विरुक्ति समझनी चाहिए । पूरे मन्त्र में दानी की स्तुति तथा स्वार्थी की निन्दा है ।

घ्रंस इत्यहर्नाम । ग्रस्यन्तेऽस्मिन्नसाः । गोरूधः उद्धततरं भवति । उपोन्नद्धमिति वा । स्नेहानुप्रदानसामान्याद्रात्रिरप्यूध उच्यते । स योऽस्मा अहन्यपि वा रात्रौ सोमं सुनोति भवत्यह द्योतनवान् । अपोहत्यपोहति शक्रः । तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलंकरिष्णुमयज्वानम् । तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम् । मघवा यः कवासखः = यस्य कपूयाः सखायः ।

'घ्रंस' शब्द दिन का पर्याय है । यह इसलिए कहते हैं कि इस काल में रसों का (जलीय पदार्थों का) वाष्पीकरण होता है (√ग्रस्>घ्रंस) । ['ऊधस्' का अर्थ है] गाय का थन (ऊधस्) क्योंकि यह अन्य भागों की अपेक्षा अधिक उठा हुआ होता है (उद्धत>ऊधस्; उत्+ √हन्) । अथवा यह उदर से संसक्त होता है (उप+उद्+√नह्+क्त) । [अतः ऊधस् का निर्वचन उद्+हन् से या उद्+नह् से असुन् करके होता है । तुल० भारोपीय-udh (स्तन, थन), लातिन तथा ऐंग्लो सैक्सन--uder, अंग्रेजी udder, आयरिश uth, जर्मन euter (सर्वत्र गाय के थन का ही अर्थ है) ।]

[जिस प्रकार थन से दूध निकलता है, उसी प्रकार रात्रि में ओस के रूप में दुग्ध स्रवण होता है ।] इस स्नेहयुक्त द्रव पदार्थ को देने के सादृश्य के आधार पर रात्रि को भी 'ऊधस्' (ऊधन् भी)[1] कहते हैं । [मन्त्रार्थ है--] वह जो इसे दिन में तथा रात्रि में सोम का सवन करके देता है, निश्चय ही प्रसिद्धि-युक्त होता है । शक्र (सामर्थ्यवान् इन्द्र) उसे निरन्तर नष्ट करते हैं, जो सम्पत्ति का संग्रह करता है (तितनिषुं), जो धर्म के विस्तार से अलग (विरुद्ध) है, सदा अपने को सजाता रहता है, यज्ञानुष्ठान नहीं करता । तनूशुभ्रम् = अपने शरीर को सुशोभित करने वाले को । मघवा (इन्द्र) उन्हें भी, कवासख है, अर्थात् जिसके मित्र स्वार्थी या दुष्ट हैं (कपूयाः) । ['मघवा' तथा 'शक्र' सम्बद्ध शब्द हैं, तथापि मन्त्र की आनुपूर्वी से व्याख्या करने के कारण यास्क दोनों को जहाँ-तहाँ देते हैं ।]

'न्याविध्यदिलीबिशस्य (८५) दृळ्हा
वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।' (ऋ० १।३३।१२)

---

१. ऊधस् तथा ऊधन् की पर्यायता से आधार पर ही पाणिनि ने 'ऊधसोऽनङ्' (५।४।१३१) सूत्र दिया है, जिसके अनुसार बहुव्रीहि समास में इसे अनङ्-आदेश होता है ।

निरविध्यदिलाबिलशयस्य दृढानि। व्यभिनत् शृङ्गिणं शुष्ण-मिन्द्रः ॥ १९ ॥

[इलीविशः (८५) का निगम—] इन्द्र ने मेघ के (या दस्यु के) दृढ दुर्गों को तोड़ दिया तथा शृङ्गधारी (ऊँचाई पर स्थित, या पर्वताकार) शुष्ण-राक्षस (अकाल, सूखा, पानी रोकने वाले मेघ) को छिन्न-भिन्न कर दिया। इला (पृथ्वी) के विल (छेद) में शयन करने वाले राक्षस (मेघ) के दृढ़ दुर्गों को तोड़ दिया। इन्द्र ने शिखरयुक्त शुष्ण को (वलवान् मेघ—दुर्गाचार्य) छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ १९ ॥

विशेष—दुर्गाचार्य 'इलाबिलशय' का अर्थ मेघ करते हैं—स हि इलाहेतोरुदकस्यालीमानि निर्गमनबिलानि संरुध्य शेते, तस्यैव वा बिलेषु इलाहेतुरुदकं शेते इति इलीविशः। पुनः 'शृङ्गिणम्' को दुर्ग तथा स्कन्द दोनों 'दीप्तिमन्तम्' के अर्थ में भी रखते हैं।

अस्मा इदु प्रभरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः (८६)। गोर्न पर्व विरदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥
(ऋ० १।६१।१२; अथर्व० २०।३५।१२)

[हे इन्द्र !] आप (ईशानः) समर्थ तथा (कियेधाः = कियत् दधाति) अत्यधिक वल धारण करने वाले हैं (अस्मै इत् वृत्राय) इसी वृत्र के ऊपर, उसे मारने के लिए (तूतुजानः) शीघ्रतापूर्वक (वज्रं प्रभर = प्रहर) वज्र का प्रहार कीजिए। (अपां चरध्यै = चरणाय) जल के संचरण के लिए (अर्णांसि इष्यन्) वृष्टिजल की कामना करते हुए, आप (गोः पर्व न) गायों की सन्धि या पृथ्वी की संधि के समान [उस वृत्र या मेघ को] (तिरश्चा) तिरछे वज्र ने (विरद) विदीर्ण कर दें। [जिस प्रकार गौ के चर्म की सन्धियाँ तिरछे काट दी जाती हैं, उसी प्रकार मेघ को भी आप फाड़ दें (दुर्ग तथा स्कन्द)। 'गौ' का अर्थ पृथ्वी करने पर—पृथ्वी की सन्धियों का जैसे हल—द्वारा विदारण होता है उसी प्रकार····।]

विशेष—दुर्गाचार्य 'कियेधाः' को मेघ का विशेषण मानते हैं तथा इस पर बल भी देते हैं—एवमत्र कियेधाः मेघः, शब्दसारूप्यादर्थाविरोधाच्च। किन्तु स्कन्द इसे 'इन्द्र' का विशेषण तथा 'ईशानः' के समानान्तर मानते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि भी इसे ही स्वीकार करते हैं।

अस्मै प्रहर तूर्णं त्वरमाणो वृत्राय वज्रमीशानः। कियेधाः कियद्धा इति वा, क्रममाणधा इति वा। गोरिव पर्वाणि विरद मेघस्य। इष्यन्नर्णांसि। अपां चरणाय।

समर्थ इन्द्र देवता ! आप इस वृत्र पर त्वरित अर्थात् शीघ्रता करते हुए वज्र का प्रहार करें। कियेधाः = कोई इतना या कितना धारण कर सकता है (कियद् + √धा = बहुधारी) अथवा आक्रमण करने वालों को धारण कर लेता है (इन्द्र)। गौ की सन्धियों के समान उस मेघ (की सन्धियों) का विदारण करें। जलों के बहने के लिए, वृष्टिजल की कामना करते हुए।

भृमिः (८७) भ्राम्यतेः। 'भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्' (ऋ० १।३१।१६) इत्यपि निगमो भवति। विष्पितः (८८) विप्राप्तः। 'पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन्' (ऋ० ७।६०।७) इत्यपि निगमो भवति ॥ २० ॥

'भृमि' शब्द √भ्रम् (भ्रमण करना) से बना है (अर्थात् गमनशील अग्नि चक्रवात, चञ्चल, दरिद्र)। इसका वैदिक उद्धरण भी है--हे अग्निदेव ! मनुष्यों को दार्शनिक (ऋषि) बनाने वाले तुम चक्रवात हो (अर्थात् मनुष्यों को पुनः-पुनः जन्म के चक्र में डालते हो)। 'विष्पितः' का अर्थ है सर्वतः प्राप्त। इसका वैदिक उद्धरण है--इस विशाल विस्तार वाले संसार के पार हमें ले जाएँ ॥ २० ॥

विशेष—'भृमि' का निगम दिखाने वाले मन्त्र में पुनर्जन्म, बन्धन तथा मोक्ष की अच्छी चर्चा है। इसका काव्यानुवाद इस प्रकार है—

मृत्यु की यह वेदना,
संसार का यह विकट पथ--
चल रहे जिस पर सभी हम,
अग्नि ! इसका नाश कर।
व्याप्त अणु-अणु में पिता मतिमान् !
सोम-सम्पादक नरों के ज्ञान-रूप महान् !
दार्शनिक की दृष्टि मानव को—
दे रहे, भवचक्र के चालक ! (ऋषि)

तन्नस्तुरीप (८९) मद्भुतं पुरुवारं पुरु त्मना।
त्वष्टा पोषाय वि ष्यतु राये नाभानो अस्मयुः ॥
(ऋ० १।१४२।१०; यजु० २७।२०; अथर्व० ५।२७।१०)

(नः) हमारा (तद् तुरीपम्) वह जल (अद्भुतं) आश्चर्यकारक, (पुरुवारं) अनेक स्थानों को आच्छन्न करने वाला तथा (पुरुत्मना) अनेक पदार्थों की आत्मा है। (नाभानः = न अदीप्यमानः) अत्यधिक तेजस्वी (त्वष्टा) त्वष्टा

नामक देवता, जो (अस्मयुः) हमारे शुभैषी हैं, (पोषाय राये) हमारी पुष्टि तथा सम्पत्ति के लिए, उस जल को (विष्यतु) मुक्त करे।

विशेष——'नाभानः' का यह अर्थ यद्यपि दुर्गाचार्य को स्वीकृत है तथापि उन्होंने 'नाभा नः' इस प्रकार दो पद करके भी इसका अर्थ किया है——हमारी नाभि अर्थात् मध्य में ये त्वष्टा वृष्टिजल का विसर्जन करें। 'तुरीपम्' का अर्थ है शीघ्र व्याप्त होने वाला जल। स्वामी ब्रह्ममुनि इसका अर्थ 'वीर्य' करते हैं——तूर्णं क्षिप्रं देहभावं पुत्रभावं प्राप्नुवद् रेतः। वीर्यरूप जल पूरे शरीर में व्याप्त है। त्वष्टा (परमात्मा) हमारे हितकारी बनकर पोषक धन (अपत्यादि) देने के लिए, अत्यन्त आत्मभाव से (पुरुत्मना) हमारी नाभि के निकट उस जल को विकसित करें। पुरु वहु, वा = अथ च, अरम् = समर्थम्। 'तुरीप' अथर्ववेद नवजात शिशु को भी कहा गया है। ग्रासमैन भी इसका अर्थ द्रव या वीर्य ही मानते हैं (ऋग्वेद कोश, पृ० ५४२)।

तन्नः, तूर्णापि महत् सम्भृतम्। आत्मना। त्वष्टा धनस्य पोषाय विष्यतु। इत्यस्मयुः। अस्मान् कामयमानः।

रास्पिनः (९०) रास्पी, रपतेर्वा रसतेर्वा। 'रास्पिनस्यायोः' (ऋ० १।१२२।४) इत्यपि निगमो भवति।

उस शीघ्र-प्रवाही जल को (तुर्+ईप=त्वर+√आप्) जो विशाल तथा संचित है, त्वष्टा अपने-आप ही (आत्मना) धन की पुष्टि के लिए मुक्त करे (वि+√सो)। इसीलिए वह हमारा हितैषी है अर्थात् हमारी कामना करता है।

'रास्पिनः' का अर्थ है रास्पी (कोलाहलपूर्ण)। यह√रप् (प्रलाप करना) या√रस् (शब्द करना) से बना है। इसका वैदिक उद्धरण भी है——कोलाहल करने वाले (जल) की आयु का (अथवा आस्वादन या शब्द करने वाले मनुष्य का——आयुः=मनुष्यः।)

ऋञ्जतिः (९१) प्रसाधनकर्मा। ['आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिषु' (ऋ० १०।७६।१) इत्यपि निगमो भवति।] ऋजुरित्यप्यस्य भवति। 'ऋजुनीती (९२) नो वरुणः' (ऋ० १।९०।१, साम० १।२१८) इत्यपि निगमो भवति।

प्रतद्वसू (९३) प्राप्तवसू। 'हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभि स्वर' (ऋ० ८।१३।२७) इत्यपि निगमो भवति॥ २१॥

'ऋञ्जति' (ऋज्+तिप्) का अर्थ है अलंकृत करना। [इसका निगम है——तुम अपनी शक्ति को प्रभातकाल में अलंकृत करते हो।] 'ऋजु' शब्द भी उसी

धातु से बना है। इससे [सम्वद्ध 'ऋजुनीति = ऋजुनीत्या' का] निगम है—वरुण हमारा उचित मार्ग-प्रदर्शन के साथ (नेतृत्व करें)।

'प्रतद्वसू' का अर्थ वे जो संपत्ति प्राप्त कर चुके हैं (प्राप्त > प्रतद्)। इसका वैदिक उदाहरण है—हे इन्द्र, आप के लिए धन प्राप्त किए हुए घोड़ों की ओर जाइये। (या उन्हें हमारी ओर भेजिए) ॥ २१ ॥

विशेष—मूल में कोष्ठांकित पाठ निरुक्त के सभी संस्करणों में नहीं है। दुर्ग तथा स्कन्द कहते हैं कि यास्क ने 'ऋञ्जति' का निगम दिया ही नहीं था। फिर भी दोनों ने अपने मन से ऋ० ४।८।१ दूतं वो विश्ववेदसम्० इत्यादि मन्त्र देकर ऋञ्जसे का निगम दिखाया है। देवराज ने भी उसी मन्त्र का अंश (यजिष्ठ-मृञ्जसे गिरा) उद्धृत किया है।

हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत (९४) ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्त योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥

(ऋ० १०।३०।११)

[हे ऋत्विग्गण !] (नः) हमारे (अध्वरं) यज्ञ को (देवयज्या) देवताओं की पूजा के लिए (हिनोत) प्रेषित करो, (धनानां सनये) धन की प्राप्ति के लिए (ब्रह्म) स्तुतियों को भी (हिनोत) प्रेषित करो। (ऋतस्य योगे) यज्ञ के आयोजन के लिए (ऊधः) सोमरस के भाण्डागार को (विष्यध्वम्) खोल दो। (आपः) हे जल-देवियो ! (अस्मभ्यं) हमारे लिए (श्रुष्टीवरीः) सुख देनेवाली (भूतन = भवत) हो जाओ।

प्रहिणुत नोऽध्वरं देवयज्यायै। प्रहिणुत ब्रह्म धनस्य सवनाय (सनयाय ?)। ऋतस्य योगे यज्ञस्य योगे। याज्ञे शकटे इति वा। शकटं शकृदितं भवति। शनकैस्तकतीति वा। शब्देन तकतीति वा। 'श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः।' सुखवत्यो भवतास्मभ्यमापः।

'चोष्कूयमाण (९५) इन्द्र भूरि वामम्' (ऋ० १।३३।३)। ददिन्द्र बहु वननीयम्।

हमारे यज्ञ को देव-पूजा के लिए भेज दो। हमारी स्तुतियों को धन की प्राप्ति के लिए भेज दो। यज्ञ के सम्पादन में (ऋतस्य योगे) अथवा यज्ञ शकट में (नीचे या ऊपर की ओर रखे हुए ऊधस् अर्थात् अधिषवण—चर्म को खोल दो—दुर्ग)।

'शकट' इसलिए कहते हैं कि पशु के मल (शकृत—गोबर) में युक्त रहता है[१] (शकृत + इत > शकट), या धीरे-धीरे चलता है (शनैः + √तक् > शन्

१. दुर्ग—यदानड्वान् युक्तः, शकृन्मुञ्चति, तेनेतमिति।

तक>शकत>शकट)। अथवा शब्द करते हुए चलता है (शब्द+√तक्>शकट)। अन्तिम चरण का अर्थ है—हे जलदेवियो ! हमारे लिए सुखद बन जाओ !

[चोष्कूयमाण का निगम—] हे इन्द्र, उत्कृष्टपदार्थ का प्रचुर मात्रा में दान करते हुए····। इन्द्र ! अनेक सेव्य (भोग्य) पदार्थ देते हुए।

'एधमानद्विळुभयस्य राजा
चोष्कूयते (९६) विश इन्द्रो मनुष्यान्।' (ऋ० ६।४७।१६)
व्युदस्यति। एधमानानहद्वेष्टि असुन्वतः। सुन्वतोऽभ्यादधाति। उभयस्य राजा। दिव्यस्य च पार्थिवस्य च। चोष्कूयमाण इति चोष्कूयतेश्चर्करीतवृत्तम्।

सुमत् (९७) स्वयमित्यर्थः। 'उप प्रागात्सुमन्मेऽधायि मन्म' (ऋ० ४।१६२।७; यजु० २४।३०) उप प्रैतु मां स्वयं यन्मे मनोऽध्यायि यज्ञेन। इत्याश्वमेधिको मन्त्रः।

[यज्ञ न करके निरन्तर] अपने को पुष्ट करते जाने वाले लोगों का द्वेष्टा (एधमान-द्विट्) तथा दोनों लोकों का राजा इन्द्र जन—जातियों तथा मनुष्यों को (दण्ड और धन) प्रदान करता है। वह इन्द्र अपने को बढ़ाने वाले अर्थात् सोम-सवन न करने वाले (अयाजक) लोगों को नष्ट कर देता है, उनसे प्रतिदिन द्वेष (घृणा) करता है। सोम—सवन करने वालो को समुन्नत करता है। वह दिव्य तथा पार्थिव दोनों धनों का राजा है। 'चोष्कूयमाण' तथा 'चोष्कूयते' ये दोनों द्वित्व-प्राप्त (चर्करीत) रूप हैं। [√स्कुञ् धातु यहाँ दान के अर्थ में और कहीं-कहीं उच्छेद के अर्थ में भी है। इससे यङ् प्रत्यय लगा है—चोष्कूयते, चोष्कूयमाणः (शानच्)।]

'सुमत्' का अर्थ है स्वयम्। [इसका निगम है—] जहाँ मेरा चित्त (मन्म) लगा हुआ था (अधायि), वह मेरे पास स्वयम् आया। वह मेरे पास स्वयम् आए, जिसका ध्यान मेरा मन यज्ञ के द्वारा करता रहा है (यज्ञ करके जिसे पाने का प्रयास करता रहा हूँ—वह मुझे मिले।) यह अश्वमेघ-यज्ञ में प्रयुक्त मन्त्र है।

दिविष्टिषु (९८) दिव एषणेषु।

'स्थूरं राधः शताश्वं कुरुङ्गस्य दिविष्टिषु' (ऋ० ८।४।१९)। स्थूरः। समाश्रितमात्रो महान्भवति। अणुरनु स्थवीयांसम्। उपसर्गो लुप्तनामकरणः। यथा सम्प्रति। कुरुङ्गो राजा बभूव। कुरुगमनाद्वा। कुलगमनाद्वा। कुरुः कृन्ततेः। क्रूरमित्यप्यस्य भवति। कुलं कुष्णातेः। विकुषितं भवति।

'दिविष्टिषु' का अर्थ है स्वर्ग की ओर ले जाने वाले कर्मों में (दिव् + √इष् गमने + क्तिन् = दिविष्टि)। कुरुंग नामक राजा के यज्ञों में शत-शत अश्वों से युक्त पुष्कल (स्थूल = स्थूर) सम्पत्ति (दी गयी)।

स्थूर (बहुल) इसलिए कहते हैं कि सब तरह से संगृहीत होकर यह महान् बन जाता है (श्रि>स्थि>स्थूर)। 'अणु' (सूक्ष्म) का अर्थ है वह वस्तु जो स्थूलतर का अनुवर्ती हो। यह उपसर्ग होने पर भी (अनु) नाम (संज्ञा) का वाचक है किन्तु नाम के प्रत्यय (विभक्ति) इसमें लुप्त हैं जैसे—'सम्प्रति' में। [अनु उपसर्ग ही णत्व होने से अणु बन गया है। इस स्थिति में विकार्य 'अनु' उपसर्ग नहीं रहा, यद्यपि इसमें विभक्ति लुप्त है तथापि उसे लगाया जा सकता है—अणुः। 'सम्प्रति' दो उपसर्गों से बना हुआ शब्द है, इसमें भी विभक्ति लुप्त है, किन्तु नाम के रूप में ही यह है विशेषतः 'साम्प्रतम्' में लुप्त विभक्ति का समागत रूप देखा जा सकता है।]

कुरुंग राजा हुए थे जिनका नाम इसलिए पड़ा कि उन्होंने कुरुओं पर आक्रमण किया। (कुरु + √गम्), अथवा शत्रुकुलों पर आक्रमण किया। 'कुरु' शब्द कृत् धातु (काटना, कृत्>कु>करु>कुरु) से निष्पन्न है, 'क्रूर' शब्द भी उसी धातु से सम्बद्ध है। 'कुल' शब्द √कुष् (मिलाना) से बना है क्योंकि यह मिलाया जाता है (अपने से बहुत दूर तक फैला हुआ रहता है)।

दूतः (९९) व्याखयातः (निरु० ५।१)। जिन्वतिः (१००) प्रीतिकर्मा। 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः (ऋ० १। १६४।५१) इत्यपि निगमो भवति ॥ २२ ॥

'दूत' शब्द की व्याख्या इसके पूर्व ही हो चुकी है (निरु० ५।१)। 'जिन्वति' का अर्थ है प्रीति करना। इसका वैदिक निगम भी है—मेघ भूमि को प्रसन्न करते हैं, अग्नि स्वर्ग को प्रसन्न करते हैं (द्रष्टव्य-निरुक्त ७।२३) ॥२२॥

विशेष—'जिन्वति' में स्थित जिवि-धातु प्रीणनार्थक है। निघण्टु में (२।१४) इसे गति-अर्थ वाले धातुओं के बीच रखा गया है। इस पूरे मन्त्र का उद्धरण निरुक्त के सातवें अध्याय में दिया गया है जहाँ वर्षा के अर्थ के साथ वैश्वानर अग्नि का सम्बन्ध बतलाया गया है।

पञ्चम पाद

अमत्रः (१०१) अमात्रो महान्भवति। अभ्यमितो वा। 'महाँ अमत्रो वृजने विरप्शि' (ऋ० ३।३६।४) इत्यपि निगमो भवति।

'स्तवे वज्र्यृचीषमः (१०२)' (ऋ० १०।२२।२)। स्तूयते वज्री ऋचा समः।

अनर्शरातिम् (१०३) अनश्लीलदानम्। अश्लीलं पापकम्। अश्रिमद् विषमम्। 'अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि' (ऋ० ८।९९।४) इत्यपि निगमो भवति।

'अमत्र' का अर्थ है मात्रा-हीन (जिसका परिमाण माना न जा सके) तथा जो महान् हो, अथवा जो अभिहिंसित न हो (अभ+नञ्+√मी+अत्रन्)। ['अमत्र' का एक अर्थ पात्र भी है। द्रष्टव्य--निरु० (५।१)] इसका वैदिक उदाहरण भी है—यह इन्द्र महान् अहिंसित (परिमाण-हीन) है, युद्ध में विविध प्रकार के स्पष्ट शब्दों (आह्वानों) से युक्त है।

['ऋचीषम' का निगम—] वज्रधारी इन्द्र की ऋचाओं के अनुरूप (ऋचीषम] स्तुति होती है (स्तवे = स्तूयते)। वज्र-धारी की ऋचा के समान स्तुति की जाती है।

'अनर्श-राति' का अर्थ है वह जिसका दान अश्लील (पापयुक्त) नहीं है (उत्कृष्ट-पदार्थ देने वाला)। अश्लील का अर्थ है पाप, जो अश्रि (अनाश्रयणीय या अग्राह्य कर्म) से युक्त हो अर्थात् विषम। [अर्श=अश्लील।' 'अर्श' एक गुप्त गुद-रोग को कहते हैं जो अश्लील है इसी से अर्श का यह अर्थ यास्क ने किया है। अश्लील का निर्वचन वे 'अश्रि-मत्' करते हैं। वास्तव में यह अ-श्री-ल (शोभा न देने वाला) से है—श्रियं न राति लाति वा इति। अश्रीर>अश्रील>अश्लील।] इसका वैदिक उदाहरण है—उस धनदाता की स्तुति कीजिए जिसका दान अश्लील नहीं है।

अनर्वा (१०४) अप्रत्यृतोऽन्यस्मिन्।

'अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।' (ऋ० १।१९०।१) अनर्वमप्रत्यृतमन्यस्मिन्। वृषभम्। मन्द्रजिह्वं मदनजिह्वम्। मोदनजिह्वमिति वा। बृहस्पतिं वर्धय नव्यमर्कैः। अर्चनीयैः स्तोमैः।

असामि (१०५) सामिप्रतिषिद्धम्। सामि स्यतेः। 'असाम्योजो बिभृथा सुदानवः' (ऋ० १।३९।१०)। असुसमाप्तं बलं बिभृत कल्याणदानाः॥ २३॥

'अनर्वा' का अर्थ है जो दूसरे पर आश्रित न हो (नञ्+√ऋ+वनिप्)। स्वतन्त्र, बलवान्, मधुर वाणी वाले तथा स्तुत्य (नव्यं) बृहस्पति को अपने अर्चन-

मन्त्रों से वढ़ाओ (उत्तेजित करो)। अनर्व अर्थात् दूसरे पर आश्रित न रहने वाले, बलवान् (या कामनाओं के पूरक), मन्द्रजिह्वा वाले अर्थात् आनन्ददायक या मनोरम जिह्वा (वाणी) से युक्त—स्तुति के योग्य वृहस्पति को अर्कों अर्थात् अर्चनीय स्तोमों से वढ़ाओ।

'असामि' का अर्थ है सामि (आधा) का विपरीत (=पूर्ण)। 'सामि' शब्द √सो (काटना, आधा करना) से वना है। उदाहरण—हे उदार दानियो ! सम्पूर्ण वल को धारण करो। हे कल्याण (उदार) दान करने वाली ! सरलता से समाप्त न हो सकने वाले बल को धारण करो ॥ २३ ॥

विशेष—वैदिक भाषा में 'अनर्वा' शब्द के अनेक अर्थ हैं। सर्वप्रथम 'अर्वा' (अश्व) का निषेध अर्थ है—अनश्वः (√अर्व हिंसायाम्।) दूसरा अर्थ है—अकुत्सित, अनिन्दनीय। तीसरा अर्थ है—अनाश्रित, स्वतन्त्र, आत्मनिष्ठ। ऋ-धातु से अर्वन् (गच्छन्) का सम्बन्ध दिखाने में यास्क सर्वथा समर्थनीय है। √ऋ (गतौ) की तुलना, भारोपीय—ela (चलना) तथा ग्रीक elao (मैं चलाता हूँ) से की जा सकती है। 'सामि' का अर्थ है आधा। तुल० भारोपीय—somi, लातिन—semi (आधा)। मू० भारो० दीर्घ ए का संस्कृत में आ हो जाता है।

मा त्वा सोमस्य गल्दया (१०६) सदा याचन्नहं गिरा।
भूर्णि मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥
(ऋ० ८।१।२०, साम० १।३०७)

हे इन्द्र ! (भूर्णि मृगं न) भ्रमणशील वन्यपशु के समान स्थित (त्वा) आपको (सोमस्य) सोमरस के (गल्दया = गालनेन, स्रावणेन) निचोड़ने से, तथा (सदा गिरा याचन्)[1] निरन्तर स्तुतियों के द्वारा प्रार्थना करते-करते (अहं) मैं (सवनेषु) सवनकालों में (मा चुक्रुधम्) क्रुद्ध नहीं करूँ। [यदि आप पूछें कि जब तुम्हें मेरे क्रोध का भय है तब याचना ही क्यों करते हो ? तब मैं कहूँगा—] (ईशानं) समर्थ व्यक्ति से (कः) कौन (न याचिषत्) याचना नहीं करता ?

मा चुक्रुधं त्वां सोमस्य गालनेन सदा याचन्नहम्। गिरा गीत्या स्तुत्या। भूर्णिमिव मृगम्। न सवनेसु चुक्रुधम्। क ईशानं न याचिष्यते इति। गल्दा धमनयो भवन्ति। गलनमासु धीयते।

'आ त्वा विशन्त्विन्दव आ गल्दा धमनीनाम्।' (आप० श्रौतसूत्र ८।७।१०, मानव श्रौत० १।७।२।१८) नानाविभक्ती त्वेते भवतः। आगलना धमनीनामित्यत्रार्थः ॥ २४ ॥

---

१. स्कन्दः—सततयाच्ञा हि लोके क्रोधहेतुत्वेन प्रसिद्धा।

में सोमरस के गालन (गारना, निचोड़ना, √गल स्रवणे) के द्वारा निरन्तर याचना करता हुआ आपको क्रुद्ध न कर दूं । गिरा = गीति या स्तुति से । भ्रमण-शील (या भरण करने वाले) वन्य पशु के समान आपको मैं सवनों के समय क्रुद्ध न कर दूं । वैसे समर्थ व्यक्ति से कौन याचना नहीं करेगा ?

'गल्दा' धमनियों को (रक्तवाही नालियों को) कहते हैं क्योंकि निचोड़ा हुआ रस (गलनम्) इनमें रखा रहता है । ['गल्दा' का अर्थ ग्रासमैन के अनुसार सोम का शोधन है, लक्ष्मणसरूप—सोमपात्र, √गल् + √धा > गल्दा रस को धारण करने वाला ।] हे इन्द्र ! आपमें ये सोमरस प्रवेश करें, धमनियों के निचोड़े गये रस भी (प्रवेश करें) । ये दोनों पद (गल्दया, गल्दा) नाना विभक्तियों में देखे जाते हैं । यहाँ पर अर्थ है—धमनियों के निचोड़े गये रस (गारे गये रस) ।। २४ ।।

विशेष—'गल्दा' का कहीं भावप्रधान अर्थ होता है—निचोड़ना । कहीं वस्तु-प्रधान अर्थ है—निचोड़े गये रस । वास्तव में—गलनं (निचोड़े गये रस को) दधाति इति गल्धा>गल्दा—यही निर्वचन समीचीन मालूम होता है, जिसके अनु-सार सोमरस का पात्र या धमनी अर्थ होना चाहिए ।

'न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः (१०७)' (ऋ० ८।६१।११) । न पापा मन्यामहे । नाधनाः । न ज्वलनेन हीनाः । अस्त्यस्मासु ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपो दानकर्मेत्यृषिरवोचत् । बकुरो (१०८) भास्करो भयंकरो भासमानो द्रवतीति वा ।। २५ ।।

हम अपने को पापी नहीं मानते, न निर्धन (अरायासः, √रा) और न तेजोहीन ही मानते हैं (जल्हवः = ज्वलनहीनाः, √ज्वल् + √हा) । न पापपूर्ण मानते हैं, न निर्धन, न ज्वलन (तेज) से हीन । प्रत्युत हममें ब्रह्मचर्य, अध्ययन, तप तथा दानकर्म है—ऐसा ऋषि ने कहा ।

'बकुर' (युद्ध में प्रयुक्त अस्त्र—ग्रासमैन) का अर्थ है प्रकाश देने वाला, या भयंकर (>भंकुर>बकुर) या प्रकाशित होते हुए जो दौड़ता है (√भास् + √द्रु>भाद्रुर>भाकुर>बकुर) । [इसका वास्तविक अर्थ ज्योति या जल है—ब्रह्ममुनि ।] ।। २५ ।।

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।।
(ऋ० १।११७।२१)

(अश्विना) हे अश्विन्-युगल ! (दस्रा) आप कार्यों को या शत्रुओं को समाप्त करने वाले हैं; (वृकेण) हल के द्वारा (यवं) जौ आदि धान्यों को

(वपन्ता) बोते हुए (मनुषाय) मनुष्य के लिए (इषं दुहन्ता) अन्न की पूर्ति करते हुए तथा (बकुरेण) उदक या ज्योति से (दस्युम्) दुष्टों को (अभिधमन्ता) नष्ट करते हुए (आर्याय) श्रेष्ठ जनों के लिए, या अन्धे ऋज्राश्व के लिए (उरु ज्योतिः) विशाल ज्योति का [आपने] (चक्रथुः) निर्माण किया है।

यवमिव वृकेणाश्विनौ निवपन्तौ । वृको लाङ्गलं भवति । विकर्तनात् । लाङ्गलं लगतेः । लाङ्गूलवद्वा । लाङ्गूलं लगतेः, लङ्गतेः, लम्बतेर्वा । अन्नं दुहन्तौ मनुष्याय दर्शनीयौ । अभिधमन्तौ । दस्युं बकुरेण ज्योतिषा वोदकेन वा । आर्य ईश्वरपुत्रः ।

हे अश्विन्-युगल ! मानो हल से जौ का वपन करते हुए····। 'वृक' लाङ्गल (हल) को कहते हैं, क्योंकि विभक्त करते हुए काटता है (वि + √कृत > वृक)। 'लांगल' √लग् (जाना) से निष्पन्न है अथवा जो लांगूल (पूँछ) से युक्त हो। 'लांगूल' शब्द भी √लग् (जाना, चिपटना) से या √लंग् (हिलना) से या √लम्ब् (लटकना) से निष्पन्न है। हे दर्शनीय (दस्र) युगल ! मनुष्य के लिए अन्न का दोहन (पूर्ति) करते हुए आप दोनों····। दस्यु को बकुर से अर्थात् ज्योति से या जल से नष्ट करते हुए····। आर्य = ईश्वर (स्वामी) का पुत्र (श्रेष्ठ)।

बेकनाटाः (१०९) खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुणकारिणो वा, द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्त इति वा ।

'इन्द्रो विश्वान्बेकनाटाँ अहर्दृशः उत क्रत्वा पणीँरभि ।' (ऋ० ८।६६।१०) । इन्द्रो यः सर्वान् बेकनाटान् । अहर्दृशः सूर्यदृशः । य इमान्यहानि पश्यन्ति न पराणीति वा । अभिभवति कर्मणा । पणींश्च वणिजः ।। २६ ।।

'बेकनाटाः' वस्तुतः सूद से जीविका चलाने वालों को कहते हैं। ये अपने धन (ऋण में दी गयी राशि) को द्विगुण करते हैं, द्विगुण (दुगना) धन लेते हैं या दुगने धन की कामना करते हैं (द्विगुण > वेगन > बेकन + डाटन्-प्रत्यय ?)। इन्द्र देवता उन समस्त सूदखोरों को जो केवल लौकिक दिनों के प्रकाश को देखते हैं (पारलौकिक नहीं) तथा पणियों को भी अपनी शक्ति से (नष्ट कर देते हैं)। इन्द्र जो सभी सूदखोरों को,····जो अहर्दृशः हैं अर्थात् सूर्य को देखते हैं (जीवन के विलास या सुख को ही देखते हैं), जो केवल इन वर्तमान दिनों को ही देखते हैं, दूसरे (भविष्यत्) काल के दिनों को नहीं—उन्हें अपने कर्म से अभिभूत (परास्त) कर देते हैं। पणियों को भी अर्थात् वणिजों को ।। २६ ।।

विशेष—'बेकनाट' का निर्वचन देवराज ने द्वि + एक + √नट् से किया है। दो और एक का नाट (नटन = नृत्य, परिवर्तन) अर्थात् एक को दो करना

वेकनाट है। उससे युक्त = वेकनाटः (मत्वर्थीय-लोप)। यास्क ने 'द्विगुणकारी' इत्यादि कहकर संभवतः इसका निर्वचन नहीं दिया है, निर्गलितार्थ ही देने का प्रयास किया है। द्वि का 'वे' रूप होना मध्य भारतीय भाषा में ही सम्भव था।

जीवान्नो अभि धेतनादित्यासः पुरा हथात्।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥ (ऋ० ८।६७।५)

जीवतो नोऽभिधावतादित्याः पुरा हननात्। क्व नु स्थ ह्वानश्रुत इति। मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। मत्स्याः मधौ-उदके स्यन्दन्ते। माद्यन्तेऽन्योन्यं भक्षणायेति वा। जालं जलचरं भवति। जलेभवं वा जलेशयं वा।

(आदित्यासः) हे अदितिपुत्रो, देवताओ! (हथात् पुरा) हमें मारने वाले वार्धक्य के आने से पहले ही (नः जीवान्) हम जीवों की ओर (अभि धेतन) दौड़ पड़ो। (हवनश्रुतः) हमारे आह्वानों को सुनने वालो! (कद्ध स्थ) तुम लोग कहाँ हो?

हे आदित्यगण! हनन (मृत्यु) के पूर्व ही हमारी ओर, जब कि हम जी ही रहे हों, दौड़ पड़ो। आह्वानों के श्रोता! अभी कहाँ हो? लोग ऐसा समझते हैं कि जाल में पड़े हुए मत्स्यों के द्वारा इस मन्त्र का साक्षात्कार हुआ है (वे इसके ऋषि हैं)। 'मत्स्य' इसलिए कहते हैं कि मधु अर्थात् जल में ये तैरते हैं (मधु + √स्यन्द् > मत्स्य)। अथवा एक दूसरे के भक्षणार्थ आनन्द लेते हैं (√मद्)। 'जाल' इसलिए कहते हैं क्योंकि जल में चलता है, या जल में स्थित है या जल में शयन करता है। जल + अण् = जाल)।[1]

अंहुरः (१११) अंहस्वान्। अंहूरणमित्यप्यस्य भवति। 'कृण्वन्नंहूरणादुरु' (ऋ० १।१०५।१७) इत्यपि निगमो भवति। 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्' (ऋ० १०।५।६; अथर्व० ५।१।६)। सप्त मर्यादाः कवयश्चक्रुः। तासामेकामप्यभिगच्छन्नंहस्वान् भवति। स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। बत (११२) इति निपातः। खेदानुकम्पयोः ॥ २७ ॥

'अंहुरः' का अर्थ है दुःखी (अंहस् = दुःख)। 'अंहूरण' भी इसी व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है। इसका वैदिक निगम है—अंहूरण (पाप या दुःख) से व्यापकतया त्राण करते हुए (हे बृहस्पति, इसे सुनो)।

---

१. तुलनीय—भारो० ger (मुड़ना), स्वेडिश-korm (आवरण)।

'कवियों (बुद्धिमानों) ने सात मर्यादाएँ निर्मित की हैं, उनमें एक का भी अतिक्रमण करने पर (अभि + गात) दुःखी या पापी होता है।' कवियों ने सात मर्यादाएँ बनायी हैं जिनमें एक का भी अभिगमनं (अतिक्रम) करने से मनुष्य पापयुक्त होता है। वे हैं—चोरी, व्यभिचार (गुरुस्त्रीगमन ब्रह्महत्या, गर्भपात (भ्रूणहत्या), सुरापान, दुष्ट कर्म की पुनः पुनः सेवा तथा पाप करके मिथ्या बोलना (उसे स्वीकार न करना)।

'बत' एक निपात है जो खेद (पश्चात्ताप) तथा अनुकम्पा (दया) के अर्थ में आता है।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्॥
(ऋ० १०।१०।१३; अथर्व० १८।१।१५)

[यमी यम से कहती है—] (यम) हे यम ! (बत) हाय ! (बतः असि) तुम दुर्बल हो, (ते मनः हृदयं च) तुममें मन या हृदय नाम की कोई चीज (नैव अविदाम) मैं बिल्कुल नहीं पाती। (युक्तं कक्ष्या इव) जुते हुए घोड़े का कक्ष-रज्जु के समान तथा (वृक्षं लिबुजा इव) वृक्ष का लता के समान (अन्या किल त्वां) सचमुच कोई दूसरी स्त्री तुम्हारा (परिष्वजाते) आलिंगन करेगी।

विशेष—यम से रति की याचना करने पर उससे तिरस्कृत होकर यमी निराश हो गयी तथा यम की भर्त्सना करने लगी। जिस प्रकार घोड़े का आलिंगन लगाम करती है या वृक्ष का आलिंगन लता करती है उसी प्रकार तुम्हारा अलिङ्गन कोई दूसरी स्त्री करेगी। 'युक्तं' शब्द को स्कन्द को छोड़कर सभी टीकाकारों ने 'त्वां' का विशेषण रखा है किन्तु यह ठीक नहीं—'युक्तमश्वं कक्ष्येव' ऐसा अर्थ करना ठीक है।

बतो बलादतीतो भवति। दुर्बलो बतासि यम। नैव ते मनो हृदयं च विजानामि। अन्या किल त्वां परिष्वङ्क्ष्यते, कक्ष्येव युक्तं, लिबुजेव वृक्षम्। लिबुजा व्रततिर्भवति। लीयते विभजन्तीति। व्रततिर्वरणाच्च, सयनाच्च, ततनाच्च।

वाताप्यम् (११३) उदकं भवति। वात एतदाप्याययति। 'पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् (ऋ० ९।९३।५) इत्यपि निगमो भवति।

'बतः' बल से रहित को कहते हैं। हे यम ! दुःख की बात है कि तुम दुर्बल निकले। मैं तुम्हारे मन या हृदय को ठीक-ठीक नहीं जान पाती। दूसरी स्त्री सचमुच तुम्हारा आलिंगन करेगी क्या ? जिस प्रकार जुते हुए पशु का (आलिं-

गन) कक्ष्या (लगाम) करती है या जैसे वृक्ष का लता करती है। 'लिबुजा' लता (व्रतति) को कहते हैं, क्योंकि वितरित होती हुई (वि + भज्) चिपकती जाती है (√ली + वि + √भज् > लिविजा > लिबुजा)। 'व्रतति' (लता) इसलिए कहते हैं कि यह आच्छादन करती है (√वृ), लिपटती है (√सि) या फैलती है (√तन्)।

'वाताप्यम्' का अर्थ है जल, क्योंकि वात इसे आप्यायित करता है (फुला देता है (√प्यै)। 'सबों को आनन्द देने वाले (विश्व-श्चन्द्रं) जल को पवित्र करते हुए'—यह वैदिक उदाहरण भी है।

'वने न वायो न्यधायि चाकन् (११४)' (ऋ० १०।२९।१; अथर्व० २०।७६।१)। वन इव। वायो वेः पुत्रः। चायन्निति वा कामयमान इति वा। वेति च य इति च चकारः शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्। असुसमाप्तश्चार्थः।

रथर्यति (११५) इति सिद्धस्तत्प्रेप्सुः। रथं कामयत इति वा। 'एष देवो रथर्यति' (ऋ० ९।३।५; साम० २।२०९) इत्यपि निगमो भवति ॥ २८ ॥

वृक्ष पर रखा (पड़ा) हुआ पक्षिशावक जिस प्रकार [अपने माता-पिता को] देखता है या उनकी कामना करता है। मानो वृक्ष पर वाय अर्थात् पक्षी का शावक (वि + अण् = वायः), देखता है (√चाय् = निशमन, दर्शन) या कामना करता है (चाकन्)। यहाँ (पद-पाठ करने वाले) शाकल्य [वायः में] वा तथा यः को पृथक् करते हैं [किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि] ऐसा होने पर आख्यात (= तिङन्त 'न्यधायि' पद) उदात्त-युक्त होता (उसका निघात नहीं होता, क्योंकि यत् सर्वनाम के बाद तिङन्त का निघात नहीं होता है। देखें—यद्वृत्तान्नित्यम्—पा० सू० ८।१।६६) इसके साथ ही अर्थ भी अपूर्ण होता है।

'रथर्यति' शब्द तो प्रसिद्ध ही है, उसे (रथ को) प्राप्त करने का इच्छुक। [स्पष्टतया कहें कि] रथ की कामना करता है (रथीयति > रथर्यति)। इसका वैदिक निगम है—ये देवता रथ की कामना करते हैं ॥ २८ ॥

विशेष—यास्क द्वारा दी गयी स्वर-सूचना ध्यातव्य है।

षष्ठ पाद

धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् (११६)' (ऋ० ६।३३।८)। असंक्रमणीम्। आधवः (११७) आधवनात्। 'मतीनां च साधनं विप्राणां चाधवम्' (ऋ० १०।२६।४) इत्यपि निगमो भवति।

अनवब्रवः (११८) अनवक्षिप्तवचनः। 'विजेषकृदिन्द्र इवान-

वव्रवः' (ऋ० १०।८४।५; अथर्व० ४।३१।५) इत्यपि निगमो भवति ॥ ११ ॥

['असक्राम्' (कभी दूर न होने वाली, न सूखने वाली) पद का निगम—] हमारे लिए अन्न-रूप कभी न सूखने वाली (सदा दुग्धदा) गाय को प्रक्षारित करें। ['असक्राम्' का निर्वचन है—] संक्रमित न होने वाली, दूर न जाने वाली (नञ् = अ + सम् + √क्रम् + ड)। 'आधवः' (उत्तेजक, कँपाने वाला, आ + √धू + अप्) इसलिए कहते हैं कि यह कम्पित करता है (आ + √धू या √धु)। इसका वैदिक निगम है—हे पूषन्, मेधावी व्यक्तियों को सिद्ध (पूर्ण) करने वाले तथा विप्रों को उत्तेजित करने वाले आप ही हैं।

'अनवव्रवः' का अर्थ है जिसकी वाणी निर्दोष है (नञ् = अन् + अव + √ व्रू + अप्)। इसका वैदिक उदाहरण है—इन्द्र के समान विजय लाने वाला (विजेषकृत्) तथा निर्दोष वाणी वाला·····॥ २९ ॥

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे (११९)।
शिरिम्बिठस्य (१२०) सत्त्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥
(ऋ० १०।१५५।१)

(अरायि = अदायिनि) दान से रहित (काणे), एक आँख वाली, (विकटे) विकृत लगने वाली तथा (सदान्वे) सदा चीखने वाली दुर्भिक्ष-देवी ! तुम (गिरिं गच्छ) पहाड़ पर चली जाओ। (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभिः सत्त्वभिः) उन वीर प्राणियों अर्थात् योद्धाओं से (त्वा चातयामसि) हम तुम्हें नाश कर रहे हैं, डरा रहे हैं।

अदायिनि काणे विकटे। काणो विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः। कणतेर्वा स्यादणूभावकर्मणः। कणातिः शब्दाणूभावे भाष्यते। अनुकणतीति। मात्राणूभावात्कणः। दर्शनाणूभावात्काणः।

विकटो विक्रान्तगतिरित्यौपमन्यवः। कुटतेर्वा स्यात्। विपरीतस्य। विकुटितो भवति। गिरिं गच्छ। सदानोनुवे शब्दकारिके।

हे दान-रहित एकाक्ष (अल्पदृष्टि वाली) तथा विकट दुर्भिक्ष-देवी। औपमन्यव के अनुसार 'काण' का अर्थ है विकृत (असामान्य या वक्र) दृष्टि वाला। अथवा यह अणूभाव (छोटा होना) के अर्थ वाले कण्-धातु से निष्पन्न है। 'कणति' क्रिया का व्यवहार शब्द के अणु होने (धीमी आवाज) के अर्थ में होता है जैसे—अनुकणति (धीमी आवाज करता है)। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु की मात्रा की अल्पता में 'कण' शब्द प्रयुक्त होता है। इसीलिए दृष्टि-शक्ति की अल्पता में 'काण' शब्द की वाचकता है।

'विकट' शब्द का अर्थ है कि विकृत गति वाला—ऐसा औपमन्यव कहते हैं। अथवा यह कुट्-धातु (कुटिल होना) से बना हो। यह विपरीत अर्थात् असरल आचरण को कहते हैं क्योंकि [दुर्भिक्ष के समय में] लोग विशेष कुटिल हो जाते हैं। [शेष शब्दों का अर्थ—] पहाड़ की ओर जाओ, (सदान्वे =) सदा चिल्लाने वाली, शब्द करने वाली। [सदान्वे—सह + √दान् (खण्डने) + वन् = खण्डनयुक्ते।]

शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिः। शिरिम्बिठो मेघः। शीर्यते बिठे। बिठमन्तरिक्षम्। बिठं बीरिटेन व्याख्यातम् (निरु० ५।२८)। तस्य सत्त्वैरुदकैरिति स्यात्। तैष्ट्वा चातयामः। अपि वा शिरिम्बिठो भारद्वाजः कालकर्णोपेतः अलक्ष्मीर्निर्णाशयाञ्चकार। तस्य सत्त्वैः कर्मभिरिति स्यात्। तैष्ट्वा चातयामः। चातयतिः नाशने।

मेघ के वीरों के साथ। 'शिरिम्बिठ' मेघ को कहते हैं क्योंकि बिठ अर्थात् अन्तरिक्ष में छितराया हुआ रहता है। 'बिठ' की व्याख्या (निर्वचन) बीरिट से हो गयी (निरु० ५।२८)। उस (मेघ) के सत्त्वों के द्वारा अर्थात् जलों के द्वारा उनके द्वारा हम तुम्हें नष्ट करते हैं। अथवा शिरिम्बिठ भारद्वाज ऋषि का नाम है जिन्होंने काले कानों वाले घोड़ों के रथ पर चढ़कर दरिद्रताओं का विनाश किया था। उनके सत्त्वों अर्थात् कर्मों से—ऐसा अर्थ होगा। उनके द्वारा हम तुम्हें नष्ट करते हैं। 'चातयति' क्रिया नाश के अर्थ में होती है। [शिरिम्बिठ = √शॄ + बिठ।)

पराशरः (१२१) पराशीर्णस्य वसिष्ठस्य स्थविरस्य जज्ञे। 'पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः' (ऋ० ७।१८।२१) इत्यपि निगमो भवति। इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। पराशातयिता शत्रूणाम्। 'इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरः' (ऋ० ४।१०४।२१) इत्यपि निगमो भवति।

क्रिविर्दती (१२२) विकर्तनन्दती। 'यत्रा वो दिद्युद्रदति क्रिविर्दती' (ऋ० १।१६६।६) इत्यपि निगमो भवति। करूळती (१२३) कृत्तदती। अपि वा देवं कञ्चित् कृत्तदन्तं दृष्ट्वैवमवक्ष्यत्॥ ३०॥

'पराशर' का अर्थ है पराशीर्ण (जर्जर) तथा वृद्ध वसिष्ठ ऋषि से उत्पन्न। इसका वैदिक उदाहरण भी है—सैकड़ों राक्षसों (यातु) से परिवृत वसिष्ठ ऋषि। इन्द्र को भी पराशर कहा जाता है क्योंकि वे शत्रुओं के पूर्ण नाशक हैं (√शद्)। इस अर्थ में वैदिक निगम भी है—इन्द्र राक्षसों के विनाशक हुए। [पराशर का यही अर्थ मौलिक है—नाशक, उन्मूलनकर्ता (ग्रासमेन)। परान् आशृणाति इति पराशरः—पर + आ + √शॄ + अच्।]

'क्रिविर्दती' का अर्थ है तीक्ष्ण दाँतों से युक्त (√कृत>क्रिवि)। इसका वैदिक उदाहरण है—हे मरुद्गण ! चीरने में समर्थ दाँतों से युक्त आपका वह आयुध (विद्युत्) जिस मेघ में विदारण का कार्य करता है (रदति = विलिखति)। 'करूळती' (नष्ट होने वाले, छितराये दाँतों वाला—ग्रासमैन) का अर्थ है कटे हुए दाँतों से युक्त। अथवा किसी देवता को कटे हुए दाँतों वाला देखकर ऋषि ने ऐसा कहा—॥ ३० ॥

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती ॥

(ऋ० ४।३०।२४)

वामं वननीयं भवति। आदुरिरादरणात्। तत्कः करूळती ? भगः पुरस्तात्तस्यान्वादेश इत्येकम्। पूषेत्यपरम्। सोऽदन्तकः। 'अदन्तकः पूषा' (शतपथ ब्रा० १।७।४।६) इति च ब्राह्मणम्।

हे शत्रुओं के विदारक इन्द्र (आदुरे) ! आपको अर्यमा देवता समस्त उत्तम वस्तुएँ प्रदान करें। पूषा, भग तथा कटे हुए दाँतों वाले देवता भी आपको उत्तम-ही-उत्तम वस्तुएँ प्रदान करें।

'वाम' का अर्थ है वननीय (सेव्य, जेतव्य) पदार्थ। 'आदुरि' इसलिए कहते हैं कि यह विदारण करता है। तब कटे दाँतों वाला देवता कौन है ? कुछ लोग कहते हैं कि भग पहले आया है उसी का यह विशेषण है। कुछ लोग पूषा का अर्थ मानते हैं, क्योंकि वे दन्त-रहित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ का उद्धरण भी है—पूषा दन्तरहित है।

विशेष—दुर्गाचार्य यहाँ पक्ष उठाते हैं कि समीपस्थ भग को ही करूळती क्यों नहीं कहा गया है ? उत्तर देते हैं कि सामीप्य होना अन्वित होने का कारण नहीं है। इसकी पुष्टि में उन्होंने यह प्राचीन कारिका दी है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थमपि तस्य तत्।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ॥

अर्थात् जिससे जिसका अर्थगत सम्बन्ध होता है, वह दूर भी क्यों न रहे, सम्बद्ध होकर ही रहेगा। दूसरी ओर, अर्थ की दृष्टि से असमर्थ पदों के बीच सामीप्य (अनन्तरता) उनके सम्बद्ध होने का कोई कारण नहीं। इसीलिए वैयाकरणों में कुछ लोग सन्निधि या आसत्ति को वाक्य-संघटना का आवश्यक रूप नहीं मानते।

दनो (१२४) विश इन्द्र मृध्रवाचः' (ऋ० १।१७४।२)। दानमनसो नो मनुष्यान् इन्द्र मृदुवाचः कुरु।

'अवीरामिव मामयं शरारु (१२५) रभि मन्यते' (ऋ० १०। ८६।९; अथर्व० २०।१२६।९) अबलामिव मामयं बालोऽभिमन्यते संशिशरिषुः। इदंयुः (१२६) इदं कामयमानः। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते। वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यर्थः। 'अश्वयुर्गव्यू रथयुर्वसूयुः' (ऋ० १।५१।१४) इत्यपि निगमो भवति ॥ ३१ ॥

['दनः' का निगम—] हे इन्द्र ! सभी जन-जातियों को दानशील तथा मधुरभाषी बना दें। हे इन्द्र ! हमारे मनुष्यों को दानमना तथा मृदुभाषी कर दें। ['शरारुः' का निगम]—यह हिंसनशील (मूर्ख) मुझे वीररहित या अवला की तरह समझता है (——यह इन्द्रपत्नी की उक्ति है)। यह हिंसक (चीर-फाड़ करने का इच्छुक) मूर्ख मुझे अबला के समान समझता है।

'इदंयुः' का अर्थ है इसकी कामना करने वाला। इसके अतिरिक्त, यह 'तद्वत्' (उससे युक्त) से अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे 'वसूयुः इन्द्रः' का अर्थ वसुमान् होता है [उसी प्रकार 'इदंयुः = इदंवान्।] इसका वैदिक निगम है—अश्वयुक्त (अश्वयुः), गोयुक्त (गव्युः), रथयुक्त (रथयुः), धनयुक्त (वसूयुः) इन्द्र हैं ॥ ३१ ॥

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन्रन्धया नः॥
(ऋ० ३।५३।१४)

[कीकटेषु (१२७) का निगम—] (मघवन्) हे धनयुक्त इन्द्र ! (कीकटेषु) अनार्यदेश-वासियों में स्थित (गावः) गायें (ते किं कुर्वन्ति) आपका कौन-सा उपकार कर रही हैं ? (न आशिरं दुह्रे) न तो सोम में मिलाये जाने के लिए दुग्ध ही देती हैं (न घर्मं तपन्ति) न अपना दुग्ध देकर अग्निहोत्रादि के सम्पादन में ही उपयोगी बनती हैं। (प्रमगन्दस्य) ब्याज लेने वाले की (वेदः) सम्पत्ति (नः आभार = आहर) हमारे पास ले आयें; (नैचाशाखं) निम्न जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों को (नः रन्धय) हमारे वश में कर दें।

किं ते कुर्वन्ति कीकटेषु गावः। कीकटा नाम देशोऽनार्यनिवासः। कीकटाः किंकृताः। किं क्रियाभिरिति प्रेप्सा वा। नैव चाशिरं दुह्रे। न तपन्ति घर्मं हर्म्यम्। आहर नः प्रमगन्दस्य धनानि। मगन्दः कुसीदी। माङ्गदो मामागमिष्यति इति च ददाति। तदपत्यं प्रमगन्दोऽत्यन्तकुसीदिकुलीनः। प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः।

कीकट-देश में तुम्हारी गायें क्या करती हैं ? कीकट अनार्यों के निवास के रूप में एक देश का नाम है। कीकट इसलिए कहा जाता है कि उस देश में लोग कहते हैं—धर्मादि कार्य] किस लिए हैं (किंकृताः>कीकटाः) ? अथवा उनकी यह मान्यता [प्रेप्सा] है कि धर्म क्रियाओं से क्या लाभ है ? वे न तो सोम में मिलाने के लिए दुग्ध पाते हैं; न अपने घर्म अर्थात् गृह को [अग्निहोत्रादि-द्वारा] प्रज्वलित रखते हैं। हमारे पास प्रमगन्द (व्याज लेने वालों) का धन ले आओ। मगन्द = सूदखोर । वह इसलिए देता है कि द्विगुणित धन (माङ्गदः) मेरे पास आये। उसका अपत्य प्रमगन्द कहलाता है अर्थात् व्याज के ग्रहण में अत्यधिक लगे हुओं के कुल में उत्पन्न। अथवा इसका अर्थ वह विषयासक्त [प्रमदकः—प्रमादी] है, जो यह समझता है कि वस, यही लोक तो है, अन्य कुछ नहीं।

पण्डको वा। पण्डकः पण्डगः प्रार्दको वा प्रार्दयत्याण्डौ। आण्डावाणी इव व्रीडयति [तस्तम्भे]। तत्स्थं नैचाशाखं नीचाशाखो नीचैः शाखः। शाखा शक्नोतेः। आणिररणात्। तन्नो मघवन्न्धयेति। रध्यतिर्वशगमने।

बुन्दः (११८) इषुर्भवति। बुन्दो वा, भिन्दो वा, भयदो वा। भासमानो द्रवतीति वा ॥ ३२ ॥

अथवा [प्रमगन्द का अर्थ है] पाप करने वाला या नपुंसक (पण्डक)। पण्डक का अर्थ है पण्ड (पुरुषेन्द्रिय) की ओर जाने वाला, अपने को क्षीण करने वाला (प्रार्दकः) अर्थात् जो अपने अण्डकोशों को पीड़ित करता है। अथवा अपने अण्डकोशों को (आण्डौ रथ की आणियों (चक्र की धुरी में लगे दण्ड) के समान व्रीडित [अर्थात् स्तम्भित] करता है। ऐसे (प्रदेश) में स्थित निम्न शाखा वाले को—[नैचाशाख =] निम्न शाखा (अङ्ग) वाले या जिनका कुल नीचा है। शाखा √शक् (समर्थ होना) से बना है, 'आणि' √अर् (स्थित रहना) से। हे धनयुक्त इन्द्र ! वह (धन) हमारे वश में कर दें (रन्धय)। √रध् का अर्थ है वश में जाना।

'बुन्द' का अर्थ है वाण। 'बुन्द' इसलिए कहते हैं कि यह भिन्न करता है (√भिद्) अथवा यह भय देता है। अथवा चमकते हुए दौड़ता है (√भास् + √द्रु) ॥ ३२ ॥

तुविक्षं ते सुकृतं सूमयं धनुः साधुर्बुन्दो हिरण्ययः।
उभा ते बाहू रण्या सुसंस्कृत ऋदूपे चिदृदूवृधा ॥

(ऋ० ८।७७।११)

हे इन्द्र ! (ते धनुः) आपका धनुष (तुविक्षं) अत्यन्त शक्तिशाली, (सुकृतं) दृढ़ता से निर्मित तथा (सुमयं) अत्यन्त सुखद है, (बुन्दः) आपका बाण भी (साधुः) कार्यसाधक तथा (हिरण्ययः) स्वर्णमय है । (उभा ते बाहू) आपकी दोनों भुजाएँ (रण्या = रण्यौ) रण के योग्य, रमणीय (सुसंस्कृतौ) सुसंस्कार से युक्त, (ऋदुपे = अर्दनशीलस्य जगतः पातारौ) गतिशील संसार की रक्षक तथा (ऋदुवृधा चित्) संसार में प्रगति लाने वाली भी हैं ।

तुविक्षं बहुविक्षेपं महाविक्षेपं वा । ते सुकृतं सूमयं सुसुखं धनुः । साधयति ते बुन्दो हिरण्ययः । उभौ ते बाहू रण्यौ रमणीयो सांग्राम्यौ वा । ऋदूपे अर्दनपातिनौ । गमनपातिनौ शब्दपातिनौ दूरपातिनौ वा । मर्मण्यर्दनवेधिनौ । गमनवेधिनौ । शब्दवेधिनौ दूरवेधिनौ वा ॥ ३३ ॥

सुविक्ष अर्थात् वाण चलाने की वहुत वड़ी शक्ति से युक्त (तुवि = बहु, महान्; क्षिप्>क्ष) । तुम्हारा धनुष सुनिर्मित, सुमय अर्थात् अत्यन्त सुखद है । तुम्हारा स्वर्णनिर्मित वाण कार्यसाधक है । तुम्हारी दोनों भुजाएँ रण्य अर्थात् रमणीय या युद्ध के उपयुक्त हैं । ऋदूपे = गति के साथ मार गिराने वाले, गमन-पूर्वक (धावा वोलकर) गिराने वाले, शब्दमात्र से गिराने वाले या दूर से ही मार गिराने वाले । अथवा मर्मस्थल का गतिपूर्वक वेध करने वाले, जाकर वेध करने वाले, शब्द से वेध करने वाले या दूर से वेध्र करने वाले ॥ ३३ ॥[1]

निरविध्यद्गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम् ।
इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ॥ (ऋ० ८।७७।६) ।

निरविध्यद् गिरिभ्यः आधारयत् पक्वम् । ओदनमुदकदानं मेघम् । इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् ।

वृन्दं (१२९) बुन्देन व्याख्यातम् । वृन्दारकश्च ॥ ३४ ॥

पर्वतों में, इन्द्र ने पक्व ओदन (धान) के समान [पके हुए उदकदान में
समर्थ मेघ को] निर्विद्ध किया (काटा) तथा पर्याप्त फैले हुए अपने बाण को
सम्यक् धारण किया । इन्द्र ने पर्वतों से [उठते हुए] पक्व या पूर्ण उदकदान
में समर्थ मेघ को (ओदन को) निर्विद्ध किया तथा अपने लक्ष्य साधे हुए बाण को
धारण किया । [यह 'बुन्द' का निगम दिखाने वाली दूसरी ऋचा है ।]

'वृन्द' (समूह) तथा 'वृन्दारक' (देवता, श्रेष्ठ, पापनाशक) की व्याख्या भी इसी बुन्द के द्वारा हो गयी । [भयदं, भासमानं द्रवति—वृन्दम् । वास्तव मे

१. दुर्गः—भाष्यमत्र न सम्यगिव लक्ष्यते । तस्य सम्यक्पाठोऽन्वेष्यः, ततो योज्यम् ।

√वृ+दन्। स्वामी ब्रह्ममुनि का कथन है कि ये शब्द वैदिक संहिताओं में नहीं है इसीलिए इनका निगम यास्क ने नहीं दिया है।] ॥ ३४ ॥

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत्समञ्जन्ति देवाः।
अहरहर्जायते मासि मास्यथा देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥
(ऋ० १०।५२।३)

(अयं यो होता) यह जो देवताओं को बुलाने वाले अग्निदेव हैं (स यमस्य किः उ) वही यम के निर्माता हैं तथा (कम् अपि ऊहे) उन्होंने हव्य रूप अन्न का भी वहन किया है (यत् देवाः समञ्जन्ति) जिससे देवगण प्रसन्न होते हैं। (अहरहः) प्रत्येक दिन तथा (मासि मासि) प्रत्येक मास में वे (जायते) उत्पन्न होते हैं (अथा) इसीलिए (देवाः) देवताओं ने, उन्हें (हव्यवाहम्) अपना हव्यवाहक (दधिरे) निश्चित किया। [किः (१३०) शब्द का निगम इसमें हैं।]

अयं यो होता कर्ता स यमस्य। कमप्यूहे = अन्नमभिवहति। यत्समश्नुवन्ति देवाः। अहरहर्जायते। मासे मासे। अर्धमासेऽर्धमासे वा। अथ देवा निदधिरे हव्यवाहम्।

उल्बम् (१३१) ऊर्णोतेर्वृणोतेर्वा। 'महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत्' (ऋ० १०।५१।१) इत्यपि निगमो भवति।

ऋबीसम् (१३२) अपगतभासम्। अपहृतभासम्। अन्तर्हितभासं, गतभासं वा ॥ ३५ ॥

यह जो 'होता' है वह यम का निर्माता है। कम् अपि ऊहे = अन्न का भी अभिवहन करता है। जिसे देवता लोग ग्रहण करते हैं। वह प्रतिदिन, मास-मास में या प्रत्येक अर्धमास में उत्पन्न होता है।। इसीलिए देवताओं ने हव्यवाहक के रूप में उन्हें निरूपित किया।

'उल्बम्' (गर्भ के चारों ओर की झिल्ली, जरायु, गर्भ) शब्द √ऊर्णु (ढँकना) या √वृ (ढँकना) से वना। यह वैदिक उदाहरण भी है—उस समय वह आवरण महान् तथा प्राचीन भी था।

'ऋबीसम्' (= पृथ्वी—दुर्गाचार्य) का अर्थ है वह जिसका प्रकाश (भाः) समाप्त हो चुका हो, या अपहृत हो गया हो या अन्तर्हित हो चुका हो या बीत गया हो ॥ ३५ ॥

हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथां पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्।
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति ॥
(ऋ० १।११६।८)

(अश्विनौ) हे अश्विन्-युगल ! आप दोनों ने (हिमेन) शीतल जल बरसा कर (अग्निं घ्रंसम्) अग्नि के समान उष्ण दिनों का (अवारयेथाम्) वारण किया, दूर कर दिया है। (अस्मै) इन अग्निदेव के लिए (पितुमतीम्) अन्न से युक्त(ऊर्जं) शक्ति आपने ही (अधत्तम्) प्रदान की है; (ऋबीसे) पृथ्वी पर (अत्रिम्) अग्नि को (अनीतम्) आप दोनों ही लाये हैं; (स्वस्ति) कल्याण के लिए (सर्वगणं) अपने सभी गणों को आपने (ऊन्निन्यथुः) समुन्नत किया है।

हिमेनोदकेन ग्रीष्मान्तेऽग्निं घ्रंसमहः अवारयेथाम्। अन्नवतीं चास्मै ऊर्जमधत्तम् अग्नये। योऽयमृबीसे पृथिव्यामग्निरन्तरौषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः। सर्वगणं सर्वनामानम्। गणो गणनात्। गुणश्च। यद् वृष्टे ओषधय उद्यन्ति प्राणिनश्च पृथिव्यां तदश्विनोः रूपं तेनैनौ स्तौति स्तौति ॥ ३६ ॥

आप दोनों ने हिम अर्थात् शीतल उदक (वर्षा) के द्वारा ग्रीष्म के अन्त में अग्निमय घ्रंस अर्थात् दिन का वारण किया, अग्नि के लिए अन्न से परिपूर्ण शक्ति भी आपने दी है। जो यह ऋबीस अर्थात् पृथ्वी में औषधि, वनस्पति तथा जल में अग्नि छिपा हुआ है, उसे आपने उन्नत किया। सर्वगणों को अर्थात् सभी आकार-प्रकार वाले समूह को। 'गण' तथा 'गुण' शब्द √गण् (गिना जाना) से बने हैं (गण्यन्ते गणाः गुणाश्च)। वर्षा होने पर जो पौधे तथा प्राणी पृथ्वी पर उगते हैं वे अश्विन्-युगल के ही रूप हैं। अतः इसी रूप का निर्देश करके ऋषि इनकी स्तुति करता है ॥ ३६ ॥

॥ इति निरुक्ते षष्ठोऽध्याय ॥

नैगमकाण्ड तथा पूर्वार्द्ध भी समाप्त हो गया।



सप्तम अध्याय

प्रथम पाद

अथातो दैवतम् । तत् यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां[1] देवतानां तत् दैवतमिति आचक्षते । सा एषा देवतोपपरीक्षा । यत्कामः ऋषिः यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । ताः त्रिविधाः ऋचः—परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यः च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिः नामविभक्तिभिः युज्यन्ते, प्रथमपुरुषैश्च आख्यातस्य ।। १ ।।

अब दैवत-काण्ड [आरम्भ होता है] । जिन नामों में मुख्यरूप से देवताओं का स्वरूप-वर्णन है [उनका संग्रह] 'दैवत' कहलाता है । आगे (इस काण्ड में) देवताओं की पूरी परीक्षा (वर्णन) है । [किसी मन्त्र में] कोई कामना लेकर, कोई ऋषि, जिस देवता का प्रधान अर्थ चाहता हुआ, स्तुति करता है—उसी देवता का वह मन्त्र होता है । तो, ये ऋचायें (मन्त्र) तीन तरह की हैं—परोक्षतः कही गई, प्रत्यक्षतः कही गई और स्वयं कही गई ।

(१) परोक्षतः कही गई ऋचायें नाम की सभी विभक्तियों में तथा क्रिया के प्रथम (= अन्य) पुरुष में रहती हैं जैसे—।। १ ।।

विशेष—निघण्टु के पञ्चम अध्याय की व्याख्या का अब आरम्भ होता है जो बारहवें अध्याय तक चलेगी । निघण्टु तथा निरुक्त के इस अंश को दैवतकाण्ड कहते हैं । इस खण्ड में उन नामों को पढ़ा गया है जो यद्यपि दूसरे अर्थों में भी होते हैं तथापि मुख्य रूप से वे देवताओं का स्वरूप बतलाते हैं अर्थात् उन नामों का उच्चारण करके देवताओं की स्तुति की जाती है । देवताओं की स्तुति चार प्रकार की होती है (दुर्गाचार्य)—(१) उनके नाम से, (२) सम्बन्धियों के द्वारा (३) कार्यों का उल्लेख करके तथा (४) उनके रूप का वर्णन करके (स्तुतिर्नामरूपकर्मबन्धुभिः) । इनमें किसी भी रूप में जिस देवता की चर्चा या स्तुति किसी मन्त्र में पायी जाय उसी का वह मन्त्र भी होता है । प्रत्येक मन्त्र का देवता तथा ऋषि तो होना ही चाहिए ।

---

१. प्राधान्येन स्तुतिर्गुणवर्णनं स्वरूपवर्णनं यासां देवतानां ताः प्राधान्यस्तुतयो देवतास्तासां देवतानाम् (निरुक्तसम्मर्शः) ।

'इन्द्रो दिवः इन्द्र ईशे पृथिव्याः'। 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहत्' 'इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणाः'। 'इन्द्राय साम गायत'। 'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किंचन'। 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्'। 'इन्द्रे कामा अयंसत' इति ।।

'इन्द्र स्वर्ग और पृथ्वी पर शासन करते हैं' (ऋ० १०।८९।१०)। 'गायक गण इन्द्र की उच्च स्वर से…' (ऋ० १।७।१)। 'इन्द्र के साथ ये कर्मठ तृत्सुगण…' (ऋ० ७।१८।१५)। 'इन्द्र के लिए साम गाओ' (ऋ० ८।९८।१)। 'इन्द्र के बिना कोई ज्योति-स्थान पवित्र नहीं (ऋ० ९।६९।६) 'मैं अब इन्द्र के वीरकर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१)। 'इन्द्र में कामनायें स्थिर हैं' ।।

विशेष—इन उद्धरणों में प्रथमा, द्वितीया आदि में उदाहरण दिखाकर परोक्ष में कही गई ऋचाओं का स्पष्टीकरण हुआ है ।।

अथ प्रत्यक्षकृताः मध्यमपुरुषयोगाः । त्वमिति च एतेन सर्वनाम्ना 'त्वमिन्द्र बलादधि'। 'वि न इन्द्र मृधो जहि' इति। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि। 'मा चिदन्यद्वि शंसत'। 'कण्वा अभि प्र गायत'। 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वम्' इति ।

(२) प्रत्यक्षतः कही गई ऋचाएँ मध्यमपुरुष में होती हैं = 'तुम' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे—'हे इन्द्र, तुम बल से उत्पन्न…' (ऋ० १०।१५३।२), 'हे इन्द्र, हमारे शत्रुओं को मारो' (ऋ० १०।१५२।४)।

कहीं-कहीं स्तुति करनेवाले प्रत्यक्षतः कहे जाते हैं और स्तोतव्य वस्तुएँ परोक्षतः कही जाती हैं जैसे—'दूसरों की स्तुति मत करो' (ऋ० ८।१।१); 'हे कण्ववंशवाले, गाओ' (ऋ० १।३७।१); 'हे कुशिको, पहुँचो, सावधान रहो' (ऋ० ३।५३।११) ।।

अथ आध्यात्मिक्यः उत्तमपुरुषयोगाः, अहमिति च एतेन सर्वनाम्ना । यथा एतत्—'इन्द्रो वैकुण्ठः'। लवसूक्तम्। वागाम्भृणीयम् इति ।। २ ।।

(३) स्वयं कही गई ऋचायें उत्तम-पुरुष में होती हैं='मैं' सर्वनाम से संयुक्त रहती हैं जैसे-'इन्द्रो वैकुण्ठः' से आरम्भ होनेवाला सूक्त (ऋ० १०।४८), लवसूक्त (१०।११९), वागाम्भृणीय-सूक्त (१०।१२५) ।। २ ।।

विशेष—इन सूक्तों में मन्त्र के देवता स्वयं बोलते हैं। उदाहरण के लिए वागाम्भृणीय सूक्त ('वाक्सूक्त' या 'देवीसूक्त') लें—अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि।

इस प्रकार यास्क ने ऋचाओं के तीन भेद किये हैं। ये भेद आख्यात के पुरुषों के आधार पर हुए हैं। देवताओं का सम्बोधन या उल्लेख यदि परोक्षतः किया जाय

तो स्वभावतः प्रथमपुरुष का प्रयोग होगा जैसे—अमुक देवता ऐसे हैं। चर्चित देवता के नाम ऐसी स्थिति में सभी विभक्तियों में पाये जाते हैं। ऐसी ऋचाओं की संख्या सर्वाधिक है। प्रत्यक्षकृत ऋचाएँ वे हैं जहाँ देवताओं का साक्षात् सम्बोधन या आमन्त्रण हो—आप इस प्रकार के हैं इत्यादि। यहाँ मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। यहाँ यास्क स्पष्ट करते हैं कि कभी-कभी यह मध्यम पुरुष देवताओं के लिए न होकर स्तुतिकर्ताओं के लिए होता है—हे ऋत्विग्गण ! आप इन्द्र की स्तुति करें। ऐसी स्थिति में स्तोतव्य देवता परोक्षकृत ही रहते हैं। चूँकि इस विभाजन में पुरुष के साथ-साथ देवताओं को भी आधार-भूत माना गया है, (जिसमें देवता की सम्बोध्यता का प्रमुख स्थान है), अतः ऐसी ऋचाएं परोक्षकृत ही हैं। यास्क इस विषय में मौन हैं। दुर्गाचार्य कहते हैं—एवंलक्षणं मन्त्रजातमुपेक्षणीयम्। इसी प्रकार आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तमपुरुष का प्रयोग तो होता ही है, देवता स्वयं अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। यदि केवल उत्तम पुरुष का आधार लेकर ऋचाओं को आध्यात्मिक कहें तो 'अग्निमीळे' को भी आध्यात्मिक ही कहना पड़ेगा।

अतः ऋचाओं के इस वर्गीकरण के मूल में पुरुष के माध्यम से प्रकट होने वाली देवताओं की स्थिति है—देवता निर्दिश्यमान हैं (परोक्षकृत), संबोध्यमान (प्रत्यक्षकृत) हैं या भाषणकर्ता हैं (आध्यात्मिक) इसी पर यह वर्गीकरण स्थित है।

परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्राः भूयिष्ठाः, अल्पशः आध्यात्मिकाः। अथापि स्तुतिरेव, नाशीर्वादः—'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचम्' इति यथा एतस्मिन् सूक्ते। अथापि आशीरेव, न स्तुतिः—'सुचक्षा अहम् अक्षीभ्यां भूयासम्, सुवर्चा मुखेन, सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्' इति। तदेतत् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।

परोक्षतः और प्रत्यक्षतः कही गई ऋचायें बहुत अधिक हैं, स्वयं कही गई ऋचायें बहुत कम हैं।

(१) [किसी ऋचा में देवता की] स्तुति ही होती है, कामना [का वर्णन] नहीं जैसे—'मैं अब इन्द्र के वीर कर्मों को कहूँगा' (ऋ० १।३२।१) इस (मन्त्रवाले) सूक्त में।

(२) कहीं-कहीं कामना ही रहती है, स्तुति नहीं जैसे—'मैं आँखों से अच्छी तरह देखूँ, मुख से सुन्दर कान्तिवाला बनूँ, कानों से अच्छी तरह सुनूँ' (मानव गृ० १।९।२५) ऐसा अधिकांशतः यजुर्वेद में और याज्ञिकमन्त्रों में होता है॥

अथापि शपथाभिशापौ—'अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि'। 'अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः' इति। अथापि कस्यचिद् भावस्य आचिख्यासा—'न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि'। 'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'। अथापि परिदेवना कस्माच्चिद् भावात्—'सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्'।

'न वि जानामि यदि वेदमस्मि' इति। अथापि निन्दाप्रशंसे—'केवलाघो भवति केवलादी'। 'भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म' इति। एवम् अक्ष-सूक्ते द्यूतनिन्दा च कृषिप्रशंसा च। एवम् उच्चावचैः अभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः भवन्ति ।। ३ ।।

(३) कहीं-कहीं शपथ लेना और अभिशाप देना भी रहता है—'यदि मैं मायावी राक्षस हूँ तो आज ही मरूँ' (ऋ० ७।१०४।१४); नहीं तो उसके दस वीर पुत्र अलग हो जायँ = मर जायँ (ऋ० ७।१०४।१५)।

(४) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष के वर्णन की इच्छा रहती है—'उस समय न मृत्यु थी और न अमरता' (ऋ० १०।१२९।२); 'पहले केवल अन्धकार से अन्धकार छिपा हुआ था' (ऋ० १०।१२९।३)।

(५) कहीं-कहीं किसी अवस्था-विशेष से ज्ञान उत्पन्न होता है—'वे सुन्दर देवता आज ऐसा उड़ें कि फिर न लौटें' (ऋ० १०।९५।१४); 'मैं नहीं जानता कि क्या मैं यही हूँ (ऋ० १।१३४।३७)।

(६) कहीं-कहीं निन्दा और प्रशंसा रहती है जैसे—'अकेला खानेवाला ही एकमात्र पापी है' (ऋ० १०।११७।६); 'खिलानेवाले (दानी) का घर मानों कमलों से भरा सरोवर है' (१०।१०७।१०)। इसी प्रकार अक्ष-सूक्त (१०।३४) में द्यूत की निन्दा और कृषि की प्रशंसा हुई है।

इस प्रकार मन्त्र के विषय में ऋषियों की दृष्टि भिन्न-भिन्न अभिप्रायों से रहती है ।। ३ ।।

तत् ये अनादिष्टदेवताः मन्त्राः, तेषु देवतोपपरीक्षा। यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा, तद्देवताः भवन्ति। अथान्यत्र यज्ञात्—प्राजापत्याः इति याज्ञिकाः, नाराशंसाः इति नैरुक्ताः। अपि वा, सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा। अस्ति हि आचारो बहुलं लोके—देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम्। याज्ञदवतो मन्त्र इति। अपि हि, अदेवताः देवतावत् स्तूयन्ते। यथा, अश्वप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि। अथापि अष्टौ द्वन्द्वानि ।।

जिन मन्त्रों में देवता का उल्लेख नहीं, उनके देवता का निर्णय करते हैं। जिन देवता का यज्ञ हो, या यज्ञ का खण्ड भी हो—उन्हीं देवता के वे (मन्त्र) होते हैं। यज्ञ से भिन्न-स्थानों में—याज्ञिकों के अनुसार प्रजापति [मन्त्र के] देवता होते हैं, निरुक्तकारों के अनुसार नराशंस, अथवा ये ऐच्छिक देवता या देवताओं के समूह के [लिए] हों। संसार में सचमुच यह व्यवहार देखने में आता है कि देवता के

लिए, अतिथि के लिए और पितरों के लिए पवित्र वस्तु [दी जाती है]। मन्त्र उस देवता का है जिसके लिए यज्ञ हुआ।

[कुछ लोग पूछते हैं कि] अ-देवता की स्तुति भी देवता के समान क्यों होती है जैसे—घोड़े से लेकर औषधि तक (निघ० ५।३।१-२२) और आठ जोड़े भी (निघ० ५।३।२९-३६)॥

स न मन्येत आगन्तून् इव अर्थान् देवतानाम्, प्रत्यक्षदृश्यम् एतद् भवति। माहाभाग्यात् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानां प्रकृति-भूमभिः ऋषयः स्तुवन्ति इत्याहुः। प्रकृतिसार्वनाम्याच्च इतरेतर-जन्मानः भवन्ति। इतरेतरप्रकृतयः, कर्मजन्मानः, आत्मजन्मानः। आत्मा एव एषां रथः भवति, आत्मा अश्वः, आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः, आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ ४॥

[इसका उत्तर है—] कोई देवता-विषयक अर्थ को आगन्तुक (अनित्य) न मान ले, यह तो प्रत्यक्ष रूप से देखने की चीज है–देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा की स्तुति (वर्णन) भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। अन्य देवता एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न अंग हैं। अथवा, जैसा लोग कहते हैं—वस्तुओं (नामों) की प्रकृति (धातु) की विभिन्नता के कारण और उसकी सर्वव्यापकता के कारण ऋषि-गण स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से जन्म पाते हैं (जैसे—दक्ष→अदिति→दक्ष), वे एक दूसरे की प्रकृति (उत्पत्तिस्थान) हैं। उनका जन्म कर्म से भी और आत्मा से भी होता है; आत्मा ही इनका रथ है, आत्मा शस्त्र है, आत्मा बाण है—आत्मा ही देवताओं का सब कुछ है॥ ४॥

विशेष—इन पंक्तियों में यास्क अद्वैतवाद का संकेत करते हैं। पूर्वपक्षी ने प्रश्न किया है कि अदेवताओं का वर्णन देवरूप में क्यों होता है? क्या औषधि, वृक्ष, घोड़े इत्यादि देवता हैं? यास्क उत्तर देते हैं कि ये तथाकथित अदेवता उस एक ही आत्मा (या ब्रह्म-तत्त्व) के विभिन्न रूप हैं। देवता और मनुष्य में ऐश्वर्य-अनैश्वर्य का महान् अन्तर है। मनुष्यों के साथ ये औषध्यादि पदार्थ आगन्तुक रूप से सम्बद्ध हैं, उन्हें इनको पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है अर्थात् मानव-सम्बद्ध पदार्थ अनित्य हैं। इसके विपरीत देवताओं से जो पदार्थ सम्बद्ध होते हैं वे नित्य हैं, आगन्तुक नहीं। देवताओं के कर्म, रथादि वाहन, मुखादि अंग—सब नित्यतया सम्बद्ध हैं। आत्मा ही के रूप में ये सभी हैं। देवताओं का यह ऐश्वर्य है जिसे मनुष्य समझ ही नहीं सकता, पाना तो दूर रहे।

द्वितीय पाद

तिस्रः एव देवताः—इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यात् एकैकस्याः अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा, कर्मपृथक्त्वात्। यथा होता, अध्वर्युः, ब्रह्मा, उद्गाता इति, अपि एकस्य सतः। अपि वा, पृथगेव स्युः, पृथक् हि स्तुतयः भवन्ति। तथा अभिधानानि॥

निरुक्तकारों के मत से तीन ही देवता हैं—(१) पृथ्वी में रहनेवाला अग्नि, (२) अन्तरिक्ष में रहनेवाला वायु या इन्द्र (३) स्वर्ग में रहनेवाला सूर्य। इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि कर्म अलग-अलग होने के कारण नामों में भेद है—जैसे एक व्यक्ति को ही होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता कहते हैं। अथवा, ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि स्तुतियाँ और उनके नाम भी अलग-अलग हैं॥

यथो एतत्—'कर्मपृथक्त्वात्' इति, बहवोऽपि विभज्य कर्माणि कुर्युः। तत्र संस्थानैकत्वं, सम्भोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्। यथा, पृथिव्यां मनुष्याः, पशवो, देवाः इति स्थानैकत्वं सम्भोगैकत्वं च दृश्यते। यथा, पृथिव्याः पर्जन्येन च, वाय्वादित्याभ्यां च सम्भोगः। अग्निना च इतरस्य लोकस्य। तत्र एतत् नरराष्ट्रमिव॥ ५॥

[उत्तर—] यह जो कहा कि 'कर्म अलग-अलग होने के कारण [एक के अनेक नाम हैं]', तो बहुत-से लोग भी तो आपस में बाँटकर वे ही काम कर सकते हैं? ऐसी दशा में उनके अधिकार-क्षेत्र और भोग-क्षेत्र की समानता देखनी चाहिए जैसे मनुष्यों, पशुओं और देवताओं का पृथ्वी-विषयक अधिकार-साम्य और भोग-साम्य देखते हैं। पुनः, मेघ-द्वारा पृथ्वी का भोग, वायु और आदित्य के साथ [देखते हैं], किन्तु दूसरे लोक का [भोग] अग्नि के साथ। वहाँ ये सभी मनुष्यों के राज्य के समान ही हैं॥ ५॥

विशेष—देवताओं के अनेकत्व-व्यवहार के कारणों की व्याख्या यास्क कर रहे हैं। स्थान एक होने पर भी स्थाता (रहने वाले) अनेक हो सकते हैं, भोग्य एक होने पर भी भोक्ता भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। पृथ्वी में ही (एक स्थान में) मनुष्य, पशु और देवता भी रहते हैं, एक ही पदार्थ का वे भोग करते हैं। जैसे पृथ्वी का भोग मेघ, वायु और आदित्य तीनों करते हैं—वनस्पतियों के विकास में तीनों का योग है, मेघ जल देता है, वायु जीवन तथा आदित्य प्रकाश और उष्णता। वही पर्जन्य अन्तरिक्ष-लोक का भोग करने में अग्नि (वैद्युताग्नि) का सहयोगी बन

जाता है। भोग की एकता रहने पर भी भोक्ताओं की प्रवृत्तियाँ (व्यापार) भिन्न-भिन्न हैं, जिससे देवताओं का भेद मानना सम्भव है। इसे नरराष्ट्र के उदाहरण से समझा जा सकता है। राष्ट्र में स्थान तथा भोग एक रूप हैं किन्तु भोगने वाले (वर्णों तथा व्यापारों की भिन्नता के कारण) पृथक्-पृथक् हैं। राष्ट्र या प्रजा के रूप में वे सब एक ही हैं। इसी प्रकार देवता भी आत्मा के रूप में एक हैं, अपनी विविध प्रवृत्तियों के कारण पृथक् भी लगते हैं।

अथ आकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युः इत्येकम्। चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति, तथा अभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते—'ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू'। 'यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते'। अथापि पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगैः–'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि' 'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते'। अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः—'अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'। 'आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्'॥

अब देवताओं के स्वरूप का वर्णन होगा। कुछ लोगों के विचार से ये मनुष्य के समान हैं क्योंकि (१) इनकी स्तुतियाँ और सम्बोधन भी चेतन जीवों के समान होते हैं। पुनः, (२) इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अङ्गों से (इन्हें) संयुक्त करके होती हैं जैसे—'हे इन्द्र, बलवान् के ये तुम्हारे हाथ अच्छे हैं, (ऋ० ६।४७।८), 'हे धनपति, जिस [द्यावा-पृथिवी] को तुमने पकड़ा है वे तेरी कलाइयाँ हैं (ऋ० ३।३०।५)। पुनः, (३) मनुष्यों की वस्तुओं से संयुक्त करके [इनकी स्तुतियाँ होती हैं] जैसे—'हे इन्द्र, दो घोड़ों पर आओ, (ऋ० २।१८।४) 'तुम्हारे घर में सुन्दरी स्त्री और रमणीय वस्तुएँ हैं, (ऋ० ३।५३।६)। पुनः (४) मनुष्यों के कामों से संयुक्त करके [स्तुति होती है] जैसे—'इस रखे (सोम), को, इन्द्र, पियो खाओ तुम' (ऋ० १०।११६।७), 'हे सुनने लायक कानवाले, मेरी आवाज सुनो' (ऋ० १।१०।९)॥

अपुरुषविधाः स्युः—इत्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यतेः॥ ६॥ अपुरुषविधं तत्। यथा, अग्निः, वायुः, आदित्यः, पृथिवी, चन्द्रमाः इति॥

कुछ लोगों के विचार से [देवता] मनुष्यों के समान नहीं हैं क्योंकि (इनके विषय में) जो देखते हैं, ॥ ६ ॥ वह मनुष्यों से भिन्न है जैसे—अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा इत्यादि॥

यथो एतत्—'चेतनावद्वत् हि स्तुतयो भवन्ति' इति, अचेतनानि अपि एवं स्तूयन्ते यथा—अक्षप्रभृतीनि ओषधिपर्यन्तानि॥ यथो

एतत्—'पौरुषविधिकैः अङ्गैः संस्तूयन्ते' इति, अचेतनेषु अपि एतत् भवति—'अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः' इति ग्रावस्तुतिः ।। यथो एतत्—'पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगैः' इति, एतदपि तादृशमेव—'सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्' इति नदीस्तुतिः ।। यथो एतत्—'पौरुषविधिकैः कर्मभिः' इति एतदपि तादृशमेव—'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' इति ग्रावस्तुतिः एव ।।

[उत्तर—] (१) यह जो कहा कि 'चेतन के समान स्तुतियाँ होती हैं', वैसी तो अचेतन की भी स्तुतियाँ होती हैं जैसे—पासे से लेकर ओषधि तक की (निघण्टु ५।३।४–२२) ।

(२) यह जो कहा कि 'इनकी स्तुतियाँ मनुष्यों के अङ्गों से संयुक्त करके होती हैं, वैसी तो अचेतन की भी होती हैं जैसे—'अपने हरे मुँह से चिल्लाते हैं' (१०।९४।२)–यह पाषाण की स्तुति है ।

(३) यह जो कहा कि 'मनुष्यों की वस्तुओं से संयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी तो यहाँ (अचेतन में) भी है जैसे—'सिन्धु ने घोड़े का सुखद रथ जोता' (ऋ० १०।७५।९)—यह नदी की स्तुति है ।

(४) यह जो कहा कि 'मनुष्यों के कामों से संयुक्त करके [स्तुतियाँ होती हैं]', वैसी ही तो यहाँ भी है जैसे—'होता के ही सामने भोज्य हवि खाया' (ऋ० १०।९४।२) यह भी पाषाण की स्तुति है ।।

अपि वा, उभयविधाः स्युः । अपि वा, पुरुषविधानाम् एव सतां कर्मात्मानः एते स्युः । यथा, यज्ञो यजमानस्य । एष च आख्यानसमयः ।। ७ ।।

अथवा ये (देवता) दोनों तरह के हैं—पुरुषविध तथा अपुरुषविध । अथवा ये मनुष्यों के रूप में होकर [पृथिवी आदि वस्तुओं] के कर्म के रूप में हैं जैसे—यज्ञ यजमान का [कर्म स्वरूप] है । यह मत कथा में प्रवीण लोगों का है ।। ७ ।।

विशेष—देवताओं के स्वरूप-चिन्तन में यास्क का निष्कर्ष है कि देवता पुरुषविध ही हैं । अपने अङ्गों, द्रव्यों तथा कर्मों से ये नित्य सम्बद्ध हैं । क्षिति, जल आदि यद्यपि अपुरुषविध है किन्तु इनके अधिष्ठाता तो पुरुषविध ही होंगे । देवताओं का यह दृश्यमान रूप क्षिति, जलादि उन पुरुषरूप देवताओं के कर्म के रूप में है । यजमान से जैसे उसके कर्मस्वरूप यज्ञ का सम्बन्ध है वैसे ही पुरुषविध देवताओं से इन कर्म रूप दृश्यमान (क्षिति आदि) पदार्थों का भी सम्बन्ध है ।

पौराणिक आख्यानों में इसकी अत्यधिक चर्चा है। पृथ्वी अपना भार दूर करने के लिए स्त्री रूप में ब्रह्मा के पास गयी। अग्नि ब्राह्मण के रूप में कृष्ण और अर्जुन से खाण्डव-दाह की प्रार्थना करने गये। समुद्र पुरुष रूप में राम के पास आया। अग्नि यज्ञ से पुरुषरूप में पायस लेकर प्रकट हुए। सूर्य कुन्ती के पास पुरुषरूप में गये। आख्यानों में वैदिक प्रतीकों का रूपकात्मक वर्णन है।

तृतीय पाद

तिस्रः एव देवताः इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः। अथ एतानि अग्निभक्तीनि--अयं लोकः, प्रातः सवनम्, वसन्तः, गायत्री, त्रिवृत् स्तोमः रथन्तरं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने, अग्नायी पृथिवी इळा इति स्त्रियः। अथास्य कर्म--वहनं च हविषाम्, आवाहनं च देवतानाम्। यच्च किंचिद् दार्ष्टिविषयकम्, अग्निकर्म एव तत्॥

पहले कहा जा चुका है कि तीन ही देवता हैं। हम उनके विभाग (Jurisdiction) और सहचरों की व्याख्या करेंगे।

(१) अग्नि के ये विभाग हैं---यह लोक (पृथ्वी), प्रातःकाल का सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, तीन बार का स्तोम (प्रार्थना), रथन्तर नाम का साम, प्रथम स्थान में गिनाये गये देवता-गण (निघ० ५।१-३); अग्नायी, पृथ्वी, इला--ये स्त्रियाँ। इनके काम हैं--हवि पहुँचाना और देवताओं को बुलाना। जो कुछ दृष्टि-विषयक है, वह अग्नि का ही काम है।

अथास्य संस्तविकाः देवाः-इन्द्रः, सोमः, वरुणः, पर्जन्यः, ऋतवः। आग्नावैष्णवं च हविः। न तु ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते। अथापि आग्नापौष्णं हविः, न तु संस्तवः। तत्र एतां विभक्तस्तुतिम् ऋचम् उदाहरन्ति॥ ८॥

इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं---इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतुएँ। अग्नि और विष्णु को संयुक्त हवि देते हैं, किन्तु [संयुक्त] स्तुति की ऋचा [ऋग्वेद के] दस भागों में कहीं नहीं। इसी प्रकार अग्नि और पूषा को संयुक्त हवि देते हैं, किन्तु वैसी स्तुति नहीं है। इनकी अलग-अलग स्तुति दिखानेवाली ऋचा का उदाहरण देते हैं॥ ८॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥

(अनष्टपशुः) जिसके पशु नष्ट नहीं होते, (भुवनस्य गोपाः) पृथ्वी का जो पालक है, (विद्वान्) वह ज्ञानी (पूषा) पूषा नामक देवता (त्वा) तुम्हें

(इतः) यहाँ से (प्रच्यावयतु) च्युत करे। (सः) वह (अग्निः) अग्नि देवता (त्वा) तुम्हें (एतेभ्यः) इन (पितृभ्यः) पितरों को, और सुविदत्रियेभ्यः) सुन्दर धन देने वाले (देवेभ्यः) देवताओं को (परिददत्) दे दे। (ऋ० १०।७।१३, अथर्व० १८।२।५४)।

पूषा त्वा इतः प्रच्यावयतु, विद्वान्, अनष्टपशुः, भुवनस्य गोपाः इति। एष हि सर्वेषां भूतानां गोपायिता आदित्यः। 'स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्यः'–इति सांशयिकः तृतीय पादः। पूषा पुरस्तात्, तस्य अन्वादेशः—इत्येकम्। अग्निः उपरिष्टात्, तस्य प्रकीर्तना—इत्यपरम्। अग्निः देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। सुविदत्रं धनं भवति। विन्दतेः वा एकोपसर्गात्, ददातेः वा स्यात् द्व्युपसर्गात्॥ ९॥

पूषा तुम्हें यहाँ से च्युत करे, वह ज्ञानी है, उसके पशु नष्ट नहीं हुए हैं, वह संसार का रक्षक है। वह आदित्य ही सभी जीवों का पालक है। 'वह तुम्हें इन पितरों को दे दें'—यह तीसरा पाद सन्दिग्ध है। पूषा का नाम पहले आ चुका है, इसमें उन्हीं का बाद में उल्लेख है—यह एक मत है। दूसरा मत है कि अग्नि का नाम बाद में आता है, उन्हीं का उल्लेख यहाँ है। अग्नि उदार देवताओं को [तुम्हें दे दें]। सुविदत्र=धन। एक उपसर्ग (सु) के बाद √विद् (पाना) से, या दो उपसर्गों (सु वि) के बाद √दा (देना) से बना है॥

अथ एतानि इन्द्रभक्तीनि—अन्तरिक्षलोकः, माध्यन्दिनं सवनम्, ग्रीष्मः, त्रिष्टुप्, पञ्चदश स्तोमः, बृहत् साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः मध्यमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म—रसानुप्रदानं, वृत्रवधः, या च का च बलकृतिः इन्द्रकर्म एव तत्। अथ अस्य संस्तविकाः देवाः—अग्निः, सोमः, वरुणः, पूषा, बृहस्पतिः, ब्रह्मणस्पतिः, पर्वतः, कुत्सः, विष्णुः, वायुः। अथापि मित्रः वरुणेन संस्तूयते। पूष्णा रुद्रेण च सोमः। अग्निना च पूषा। वातेन च पर्जन्यः॥

(२) ये इन्द्र के विभाग हैं—अन्तरिक्षलोक, दोपहर का (माध्यन्दिन) सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, पन्द्रह बार का स्तोम, बृहद् नाम का साम, मध्य स्थान में गिनाये गये देवगण (निघ० ५।४) और स्त्रियाँ। इनके काम हैं—रस दान करना और वृत्र को मारना। जो कुछ बल का काम है वह इन्द्र का ही काम है। इनके साथ स्तुति किये जाने वाले देवता ये हैं—अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु और वायु। पुनः, मित्र की स्तुति वरुण के साथ होती है, सोम की पूषा और रुद्र के साथ, पूषा की अग्नि के साथ और पर्जन्य की वात के साथ॥ १०॥

अथ एतानि आदित्यभक्तीनि—असौ लोकः, तृतीयसवनम्, वर्षाः, जगती, सप्तदश स्तोमः, वैरूपं साम, ये च देवगणाः समाम्नाताः उत्तमे स्थाने, याश्च स्त्रियः। अथास्य कर्म—रसादानं, रश्मिभिश्च रसधारणम्, यच्च किंचित् प्रवह्लितम् आदित्यकर्म एव तत्। चन्द्रमा वायुना संवत्सरेण इति संस्तवः ॥

(३) ये आदित्य के विभाग हैं—वह लोक (स्वर्ग), तीसरा (सायं) सवन, वर्षा ऋतु, जगती-छन्द, सतरह बार का स्तोम, वैरूप नाम का साम, उत्तम स्थान में गिनाये गये देवता और स्त्रियाँ (निघ० ५।५)। इनके काम हैं—रस ग्रहण करना और किरणों से उसे धारण करना। जो कुछ गुप्त अर्थ है, वह आदित्य का काम है। इनकी स्तुति चन्द्रमा, वायु और संवत्सर के साथ की जाती है ॥

एतेषु एव स्थानव्यूहेषु ऋतुच्छन्दःस्तोमपृष्ठस्य भक्तिशेषम् अनुकल्पयीत। शरत्, अनुष्टुप्, एकविंशः स्तोमः, वैराजं साम—इति पृथिव्यायतनानि। हेमन्तः, पङ्क्तिः, त्रिणवः स्तोमः, शाक्वरं साम—इति अन्तरिक्षायतनानि। शिशिरः, अतिच्छन्दाः, त्रयस्त्रिंशः स्तोमः, रैवतं साम—इति द्युभक्तीनि ॥ ११ ॥

स्थान के इन्हीं विभागों में ऋतु, छन्द, स्तोम-भाग [आदि] में अवशिष्ट अंशों का विभाजन कर लें जैसे—शरद् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, इक्कीस बार का स्तोम, वैराज नामक साम—ये पृथ्वी के विषय हैं। हेमन्त ऋतु, पंक्ति-छन्द, सत्ताईस (३ × ९) बार का स्तोम, शाक्वर नामक साम—ये अन्तरिक्ष के विषय हैं। शिशिर ऋतु, अतिच्छन्दा छन्द, तैंतीस बार का स्तोम, रैवत नामक साम—ये स्वर्ग से सम्बद्ध हैं ॥ ११ ॥

विशेष—स्थान तो तीन ही हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग किन्तु ऋतु, छन्द, स्तोम केवल तीन ही नहीं—उन्हें भी किसी प्रकार इन्हीं तीन स्थानों में अन्तर्भूत करना है इसलिए यास्क ने बाकी बचे हुए ऋतु, छन्द आदि का भी विभाजन समान रूप से कर दिया है ॥ ११ ॥

मन्त्राः मननात्। छन्दांसि छादनात्। यजुः यजतेः। साम सम्मितम् ऋचा। अस्यतेः वा। ऋचा समं मेने—इति नैदानाः। गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः (देवताध्याय ब्रा० ३।२)। त्रिगमना वा विपरीता। 'गायतो मुखात् उदपतत्' (देवता० ब्रा० ३।३) इति च ब्राह्मणम्। उष्णिक् उत्स्नाता भवति। स्निह्यतेः वा स्यात् कान्तिकर्मणः। उष्णीषिणी इव—इति औपमिकम्। उष्णीषं स्नायतेः ॥

मन्त्र √मन् (चिन्तन) से; छन्द √छद् (विचारों को ढँकना, सीमित करना) से; यजु √यज् (पूजा) से; साम, ऋचा द्वारा समान रूप से सीमित होने के कारण (सम् √मा); या √अस् (फेंकना) से। वैदिक छन्दों में निष्णात (नैदान) लोगों का कहना है—'इसे ऋचा के समान समझा'। गायत्री √गै = 'स्तुति करना' से, या त्रि √गम् (तीन बार जानेवाली) उलट कर बनी हो। ब्राह्मण में कहा है—'गाते-गाते [ब्रह्मा के] मुख से गिर पड़ी'। उष्णिक् 'ऊपर से स्नान किये हुए' (उद् √स्ना)' या √स्निह् = 'शोभा' से। उपमा के विचार से—मानों पगड़ी से संयुक्त (उष्णीषिणी) है। उष्णीष (पगड़ी) √स्नै (ढँकना) से॥

ककुप् ककुभिनी भवति। ककुप् कुब्जः च कुजते वा; कुब्जतेः वा। अनुष्टुप् अनुष्टोभनात्। 'गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेन अनुष्टोभति' (दैवत ब्रा० ३)—इति च ब्राह्मणम्। बृहती परिबहणात्। पंक्तिः पञ्चपदा। त्रिष्टुप् स्तोभति उत्तरपदा। का तु त्रिता स्यात्? तीर्णतमं छन्दः। त्रिवृत् वज्रः। तस्य स्तोभनी इति वा। 'यत् त्रिः अस्तोभत् तत् त्रिष्टुभः त्रिष्टुप्त्वम्'—इति विज्ञायते॥ १२॥

ककुप् आनन्द से युक्त (ककुभिनी), 'ककुप्' और 'कुब्ज' दोनों √कुज् (वक्र) या √उब्ज् (दबाना) से। 'अनुष्टुप्' अनु √स्तुभ् (पीछे स्तुति करना) से। ब्राह्मण में कहा है—'यह (अनुष्टुप्) तीन चरणों वाली गायत्री का अपने चौथे चरण से स्तवन करते हुए, अनुगमन करता है'। 'बृहती' अपनी परिवृद्धि के कारण (√बृह)। 'पंक्ति' पाँच पाद होने के कारण। त्रिष्टुप् का उत्तर-पद, स्तुति (√स्तुभ्) के कारण। परन्तु इस त्रित्व का क्या अर्थ है? यह सबसे तेज छन्द है (√तॄ)। अथवा, तीन आवरण वाले वज्र की स्तुति करता है (√स्तुभ्)। 'जो तीन बार स्तुति की, वही त्रिष्टुप् की विशेषता है'—यह मालूम होता है॥ १२॥

जगती गततमं छन्दः। जलचरगतिः वा। 'जल्गल्यमानः असृजत्' (दैवत ब्रा० ३) इति च ब्राह्मणम्। विराट् विराजनात् वा, विराधनात् वा, विप्रापणात् वा। विराजनात् सम्पूर्णाक्षरा, विराधनात् ऊनाक्षरा, विप्रापणात् अधिकाक्षरा। पिपीलिकमध्या इत्यौपमिकम्। पिपीलिका पेलतेः गतिकर्मणः॥

जगती सबसे अधिक दूर तक गया हुआ छन्द है (√गम्), या जलचर की गतिवाला है। ब्राह्मण में कहा है—'[ब्रह्मा ने] सृष्टि की इच्छा न रखते हुए इसे बनाया'। 'विराट्' वि √राज् (अधिकार) से, वि √राध् (विरोध) से, या वि

प्र√आप् (विस्तार) से। अक्षरों के पूरे होने पर वि√राज् से, उनके कम होने पर वि√राध् से और उनके अधिक होने पर वि प्र√आप् से। उपमा की दृष्टि से इसे पिपीलिकमध्या (जिसके बीच में अक्षर उसी प्रकार कम हों जैसे चींटी का बिचला भाग) कहते हैं। 'पिपीलिका' √पेल् = 'जाना' से ॥

इति इमाः देवताः अनुक्रान्ताः—सूक्तभाजः, हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः। काश्चित् निपातभाजः॥ अथ उत अभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने (मै० सं० २।२।११), इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे (मै० सं० २।२।१०) इति। तानि अपि एके समामनन्ति; भूयांसि तु समाम्नानात्। यत् तु संविज्ञानभूतं स्यात् प्राधान्यस्तुति, तत् समामने॥ अथ उत कर्मभिः ऋषिः देवताः स्तौति—वृत्रहा, पुरन्दरः इति तानि अपि एके सामननन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत् तस्याभिधानस्य भवति। यथा ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि, स्नाताय अनुलेपनं, पिपासते पानीयम् इति॥ १२ ॥

इस तरह इन देवताओं का वर्णन हुआ। सूक्त-द्वारा सम्बोधित, हवि को पानेवाले तथा ऋचाओं द्वारा सम्बोधित (देवता) सबसे अधिक हैं। कुछ आकस्मिक (निपात = कम) रूप से भी वर्णित हैं।

कहीं-कहीं उनके नाम से संयुक्त करके हवि देते हैं जैसे—वृत्र को मारने वाले इन्द्र के लिए, दुःख से बचानेवाले इन्द्र के लिए। कुछ लोग इनका भी संग्रह कर लेते हैं, किन्तु ये संग्रह किये जाने से अधिक हैं। मैं उसका ही संग्रह करता हूँ जो (नाम) रूढ़ हो गया है और जिसके द्वारा मुख्य रूप से स्तुति की जाती है (देवताओं के विशेषणों का संग्रह नहीं करूँगा)।

पुनः, ऋषिगण देवताओं की स्तुति उनके कर्म का उल्लेख करते हुए करते हैं जैसे—वृत्र को मारनेवाला, पुर का नाशक (= इन्द्र)। कुछ लोग इनका भी संग्रह कर लेते हैं, परन्तु ये संग्रह किये जाने से अधिक हैं। ये (विशेषण) उनके नाम का केवल प्रकाशन करते हैं जैसे—भूखे ब्राह्मण को भात दो, नहाये हुए को अनुलेपन (तेल आदि), प्यासे को पानी॥ १३ ॥

चतुर्थ पाद

अथातः अनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्? अग्रणीः भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः। अक्नोपनः भवति—इति स्थौलाष्ठीविः। न

क्नोपयति = न स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यः जायते—इति शाकपूणिः । इतात्, अक्तात् दग्धात् वा, नीतात् । स खलु एतेः अकारम् आदत्ते, गकारस् अनक्तेः वा दहतेः वा, नी परः । तस्य एषा भवति ।

अब हम क्रमशः वर्णन करेंगे । अग्नि का स्थान पृथ्वी में है, उसकी व्याख्या पहले करेंगे । (१) 'अग्नि' कैसे ? ये अग्रणी (नेता) हैं (√नी), यज्ञों में सबसे पहले लाये जाते हैं, कोई वस्तु दी जाने पर उसे अपना अंग बना लेते हैं । स्थौलाष्ठीवि कहते हैं कि ये शोषक हैं (अ—क्नुप्) । नहीं भिगाते, स्निग्ध नहीं करते । शाकपूणि कहते हैं कि [यह शब्द] तीन क्रियाओं से बना है—√इ (जाना), √अञ्ज् (चमकना) या √दह् (जलाना), और √नी (ले जाना) से । √इ से अकार, √अञ्ज् या √दह् (दग्ध) से गकार और सबसे अन्तिम वर्ण √नी से बना है । यह उनकी (ऋचा) है ॥ १४ ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥

(पुरोहितं) पुरोहित-स्वरूप, (यज्ञस्य) यज्ञ के (देवम्) देवता, (ऋत्विजम्) ऋत्विज = समय पर यज्ञ करानेवाले, (रत्नधातमम्) सबसे अधिक धन देनेवाले (होतारम्) देवताओं का आवाहन करनेवाले (अग्निम्) अग्नि को (ईळे) नमस्कार करता हूँ (ऋ० १।१।१) ॥

अग्निम् ईळे = अग्निं याचामि । ईळिः अध्येषणाकर्मा, पूजाकर्मा वा । पुरोहितः व्याख्यातः । यज्ञः च । देवः दानाद् वा, दीपनाद् वा द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति इति वा । यो देवः, सा देवता । होतारं = ह्वातारम् । जुहोतेः होता इति और्णवाभः । रत्नधातमम् = रमणीयानां धनानां दातृतमम् । तस्य एषा अपरा भवति ॥ १५ ॥

अग्निम् इळे = अग्नि से माँगता हूँ । √ईड् = आराधना या पूजा । पुरोहित (२।१२) और यज्ञ (३।१९) की व्याख्या हो चुकी है । 'देव' √दा (देना), √दीप् (चमकना), या √द्युत् (जलना) से । अथवा स्वर्ग में स्थान होने के कारण । जो देव है वही देवता भी है । होतारं = बुलानेवाले को । और्णवाभ के मत से 'होता' √हु (यज्ञ करना) से बना है । रत्नधातमं = रमणीय धनों के सबसे बड़े दाता को । उनकी यह दूसरी (ऋचा) है ॥ १५ ॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥

(अग्निः) अग्नि (पूर्वेभिः) प्राचीनकाल के (उत) और (नूतनैः) नये (ऋषिभिः) ऋषियों के द्वारा (ईड्यः) पूजनीय हैं, स (स.) वे (देवान्) देवताओं को (इह) यहाँ (आवक्षति) ले आयें (ऋ० १।१।२) ॥

अग्निः यः पूर्वैः ऋषिभिः ईडितव्यः = वन्दितव्यः, अस्माभि च नवतरैः, स देवान् इह आवहतु इति । स न मन्येत, अयमेव 'अग्निः' इति; अपि एते उत्तरे ज्योतिषी 'अग्नी' उच्येते । ततो नु मध्यमः ।। १६ ।।

अग्नि जो पूर्वकालिक ऋषियों के ईडितव्य = वन्दनीय हैं, और हम—जैसे नवीन [ऋषियों] के भी । वे देवताओं को यहाँ लायें । कोई यह न समझे कि केवल यही (पार्थिव) अग्नि ['अग्नि' कहलाता] है । बल्कि ये ऊपर के दोनों ज्योतिःपुञ्ज (बिजली और सूर्य) भी 'अग्नि' कहलाते हैं । तो [यह ऋचा] मध्यम (अग्नि = बिजली) की हैं ।। १७ ।।

अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ।।

(समनाः) एक समान बुद्धि या मनवाली, (कल्याण्यः) सुन्दरी तथा (स्मयमानासः) मुस्कुराती हुई (योषाः) स्त्री (इव) के समान [वे बिजलियाँ] (अग्निम्) अग्नि को (अभि प्रवन्त) उत्पन्न करें, या उनके प्रति झुकें । (घृतस्य) घी की (धाराः) धारायें (समिधः) समिधाओं से (नसन्त) मिल जायँ, (ताः) उन्हें (जुषाणः) पीता हुआ (जातवेदाः) जातवेद नामक अग्नि (हर्यति) प्रसन्न होता है । (ऋ० ४।६८।८) ।

अभिनमन्त समनसः इव योषाः । समनं समननात् वा, संमाननात् वा । 'कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्' इत्यौपमिकम् । घृतस्य धाराः = उदकस्य धाराः । समिधः नसन्त । नसतिः आप्नोतिकर्मा वा, नमतिकर्मा वा । 'ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः' हर्यतिः प्रेप्साकर्मा, अभिहर्यति इति ।।

समान मन वाली स्त्रियों के समान (वे) झुकें । समन = साथ साथ साँस लेनेवाली (सम् √अन्) या साथ-साथ सोचनेवाली (सम् √मन्) 'सुन्दरी' मुस्कुराती हुई [स्त्रियों के समान] अग्नि के प्रति····'—यह उपमा है । घृत की धारायें = जल की धारायें । समिधा (लकड़ी) से मिलें । √नस् = 'पाना' या 'झुकना' । 'उनका आनन्द लेता हुआ, जीवरूपी धन धारण करने वाला (जातवेद) देव प्रसन्न होता है ।' √हर् = पाने को इच्छा अर्थात् वह बार-बार पाने की इच्छा करता है ।।

'समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्' इति आदित्यम् उक्तं मन्यन्ते । 'समुद्राद्ध्येषोऽद्भ्यः उदेति'—इति च ब्राह्मणम् । अथापि ब्राह्मणं

भवति—'अग्निः सर्वाः देवताः' इति। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ १७ ॥

'सागर से है मधुमय तरंग उठ आई' (ऋ० ४।५८।१)—यहाँ आदित्य का वर्णन मानते हैं। ब्राह्मण वाक्य भी है—'यह समुद्र और जल से निकलता है' (कौषी० ब्रा० २५।१)। और भी ब्राह्मण-वाक्य हैं—'अग्नि सभी देवता हैं' (ऐ० ब्रा० ६।३ इत्यादि)। इसके बाद की [ऋचा] स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥ १७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

[लोग उसे] इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि कहते हैं, और वह दिव्य गरुत्मान् सुन्दर पंखों से युक्त है। एक ही सत्त्व को ऋषिगण बहुत प्रकार से कहते हैं—अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं। (ऋ० १।१६४।४६) ॥

इममेव अग्निं महान्तम् आत्मानम्, एकम् आत्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति = इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्। दिव्यः = दिविजः। गरुत्मान् = गरणवान्। गुर्वात्मा, महात्मा इति वा। यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविः निरुप्यते, अयमेव स अग्निः। निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥ १८ ॥

इसी महान् आत्मा को, एक आत्मावाले अग्नि को मेधावी लोग नाना प्रकार से पुकारते हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण तथा दिव्य गरुत्मान्। दिव्य = स्वर्ग में उत्पन्न। गरुत्मान् = प्रार्थना (√गृ) से युक्त, गुरु आत्मावाला या महात्मा जो सूक्त पाता है (= जिसके लिए सूक्त है) तथा जिसे हवि मिलता है वह यही (पार्थिव) अग्नि है। ये ऊपर के दोनों ज्योतिःपुञ्ज (सूर्य और विद्युत) इस नाम से कभी-कभी ही पाते हैं ॥ १८ ॥

पञ्चम पाद

जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद। जातानि वा एनं विदुः। जाते जाते विद्यते इति वा। जातवित्तो वा = जातधनः। जातविद्यो वा = जातप्रज्ञानः। 'यत् तत् जातः पशून अविन्दत तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्'—इति ब्राह्मणम्। 'तस्मात् सर्वान् ऋतून् पशवः अग्निम् अभिसर्पन्ति'—इति च। तस्य एषा भवति ॥ १९ ॥

(२) जातवेदाः कैसे? सभी उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, या उत्पन्न वस्तुएं उसे जानती हैं, या वह प्रत्येक उत्पन्न वस्तु में विद्यमान है, या उत्पन्न

वस्तुएँ ही उसके लिए वित्त = धन हैं, या उत्पन्न वस्तुएँ उसके लिए विद्या = ज्ञान हैं। ब्राह्मण में कहा है—'उसने जन्म लेते ही पशुओं को पाया, यही जातवेदस् की विशेषता है' (मैत्रा० सं० १।८।२) यह भी कहा है (मैत्रा० सं० १।८।२) कि 'इसीलिए सभी ऋतुओं में पशुगण अग्नि के पास जाते हैं'। उसकी यह (ऋचा) है॥ १९॥

[जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥
(ऋ० १।९९।१) जातवेदस इति जातवेदस्यां वैवं जातवेदसेऽर्चाय सुनवाम सोममिति। प्रसवायाभिषवाय सोमं राजानममृतम्। अरातीयतो यज्ञार्थमिति निदहाति निश्चयेन दहति भस्मीकरोति। सोमो ददिदित्यर्थः। स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वानि दुर्गमानि स्थानानि नावेव सिन्धुं नदीं जलदुर्गां महाकूलां तारयति। दुरितात्यग्निरिति दुरितानि तारयति। तस्यैषापरा भवति॥][1]

हम जातवेदस् के लिए सोम का सवन करें। वह (अरातीयतः) शत्रु का आचरण करने वाले पुरुष की (वेदः) सम्पत्ति को, आत्मसात् कर ले। वह अग्नि हमें समस्त दुर्गम कष्टों के पार उसी प्रकार पहुँचा देता है जैसे नौका से नदी को कोई पार करे (ऋ० १।९९।१)।

हम जातवेदस् के लिए अर्थात् जातवेदस् के प्रति या अर्चनीय जातवेदस् के लिए सोम-सवन करें = अभिषवन के लिए अमृतस्वरूप राजा सोम को। यज्ञ के लिए अराति-रूप व्यक्ति की [सम्पत्ति को] निदग्ध करे = जला कर भस्म करे। सोम हमें दे (?)। वह अग्नि हमें समस्त अत्यन्त दुर्गम स्थानों से, कष्टों से पार कर देता है जैसे नौका-द्वारा सिन्धु अर्थात् नदी को पार करें—उस नदी को जिसमें अथाह जल हो (जलदुर्गाम्) तथा तट भी दूर-दूर हों (महाकूलाम्)। अग्नि दुःखों से पार करता है। उसी देवता से सम्बद्ध यह दूसरी ऋचा है।

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोति वाजिनम्। इदं नो बर्हिरासदे॥

(नूनं) सचमुच (वाजिनं) बलशाली (अश्वं) घोड़ा के समान (जातवेदसम्) जातवेदस् को (नः) हमारे (इदं) इस (बर्हिः) कुश पर (आसदे) बैठने के लिए (प्र हिनोत) प्रेरित करो। (ऋ० १०।१८८।१)॥

प्र हिणुत जातवेदसं कर्मभिः, समश्नुवानम्। अपि वा, उपमार्थे स्यात्—अश्वमिव जातवेदसम् इति। इदं नो बर्हिः आसीदतु इति॥

---

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ अनेक प्रतियों नहीं हैं तथा दुर्ग ने भी इसकी व्याख्या नहीं की है। इस मन्त्र का सोद्धरण व्याख्यान्तर निरुक्त १४।३३ में है।

तदेतत् एकम् एव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चित् आग्नेयं तत् जातवेदसानां स्थाने युज्यते।।

जातवेदस् को अपने कर्मों से प्रेरित करो, जो सर्वव्यापक है (√अश्) अथवा उपमा के अर्थ में है—घोड़े के समान जातवेदस् को। हमारे इस कुशासन पर बैठे। [ऋग्वेद के] दस खण्डों में जातवेदस् को सम्बोधित, तीन चरणों वाली गायत्री (छन्द) का यह एक ही मंत्र है। जो कुछ अग्नि का है, वह जातवेद के स्थान में भी ठीक-ठीक बैठता है।।

स न मन्येत अयमेव अग्निः इति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसौ उच्येते। ततो नु मध्यमः—'अभि प्रवन्त समनेव योषाः' इति। तत्पुरस्तात् व्याख्यातम्। अथ असौ आदित्यः—'उदु त्यं जातवेदसम्' इति। तत् उपरिष्टात् व्याख्यास्यामः। यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविः निरूप्यते, अयमेव स अग्निः जातवेदाः। निपातमेव एतेन उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते।। २०।।

कोई यह न सोचे कि केवल यही अग्नि [जातवेदस् कहलाते हैं], बल्कि ऊपर के दोनों ज्योतिःपुञ्ज भी जातवेदस् कहलाते हैं। [यह ऋचा] मध्यम-अग्नि (बिजली) की है—'समान मन वाली स्त्रियों के समान वे झुकें (ऋ० ४।५८।८)। इसकी व्याख्या ऊपर हो गई है (७।१७)। अब वह आदित्य—'उस जातवेदस् को ऊपर'····(ऋ० १।५०।१)—इसकी व्याख्या नीचे होगी (निरु० १२।१५)। जो सूक्त पाता है, जिसे हवि मिलता है, वह यही (पार्थिव) अग्नि जातवेदा है। ऊपर के ये दोनों ज्योतिःपुञ्ज इस नाम से कभी-कभी ही पाते हैं।। २०।।

षष्ठ पाद

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति। विश्वे एनं नराः नयन्ति इति वा। अपि वा, विश्वानर एव स्यात्; प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि। तस्य वैश्वानरः। तस्य एषा भवति।। २१।।

(३) वैश्वानर कैसे? सभी मनुष्यों को ले जाता है, या इसे ही सभी मनुष्य ले जाते हैं। अथवा 'विश्वान्+अर' (सबको व्याप्त करने वाला) से बना हो क्योंकि सभी जीवों को व्याप्त करता है—उसी से वैश्वानर हुआ। उसकी यह (ऋचा) है।। २१।।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।।

(वैश्वानरस्य) वैश्वानर की (सुमतौ) भक्ति या श्रद्धा में (स्याम) हम सब रहें, जो (राजा) राजा है तथा (भुवनानां) सभी जीवों का (अभिश्रीः)

आश्रय-स्थान है (हि कं) × । (इतो) इस स्थान से (जातः) उत्पन्न होकर (इदं) इस (विश्वं) पूर्ण पृथ्वी को (वैश्वानरः) वैश्वानर नामक अग्नि (विचष्टे) देखता है। तथा (सूर्येण) सूर्य के साथ (यतते) चलता है। (ऋ० १।९८।१) ॥

इतो जातः सर्वमिदम् अभिविपश्यति। वैश्वानरः संयतते सूर्येण। राजा यः सर्वेषां भूतानाम् आश्रयणीयः, तस्य वयं वैश्वानरस्य कल्याण्यां मतौ स्याम। तत्कः वैश्वानरः ? मध्यमः इति आचार्याः। वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति ॥ २२ ॥

इस (संसार) से उत्पन्न होकर वह इस सारे विश्व का निरीक्षण करता है, वैश्वानर सूर्य के साथ चलता है। जो राजा और सभी जीवों का आश्रय है, उस वैश्वानर की कल्याण करनेवाली इच्छा में हम रहें। तो यह वैश्वानर कौन-सा है ? आचार्यों का कहना है कि यह मध्यम-स्थान का अग्नि है क्योंकि वर्षा के अर्थ से मिलाकर इसकी स्तुति होती है ॥ २२ ॥

प्र नू महित्वं वृषभस्य वोचं यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते।
वैश्वानरो दस्युमग्निर्जघन्वाँ अधूनोत्काष्ठा अव शम्बरं भेत् ॥

(नु) अब [मैं] (वृषभस्य) वृष के समान बलवान् की (महित्वं) महिमा (प्र वोचम्) कहता हूँ, (यं) जिस (वृत्रहणं) वृत्रनाशक की (पूरवः) पूर्ति चाहनेवाले लोग (सचन्ते) सेवा करते हैं; (वैश्वानरः) वैश्वानर नाम के (अग्निः) अग्नि ने (दस्युं) दस्यु को (जघन्वान्) मारकर (काष्ठाः) जल को (अधूनोद्) हिला दिया तथा (शम्बरं) मेघ को (अवभेत्) फाड़ दिया। (ऋ० १।५९।६) ॥

प्र ब्रवीमि तत् महित्वं = महाभाग्यम्, वृषभस्य = वर्षितुः अपाम्, यं पूरवः = पूरयितव्याः मनुष्याः, वृत्रहणं = मेघहनं, सचन्ते = सेवन्ते वर्षकामाः। दस्युः दस्यते क्षयार्थात्। उपदस्यन्ति अस्मिन् रसाः, उपदासयति कर्माणि। तम् अग्निः वैश्वानरो घ्नन् अवाधूनोत् अपः काष्ठाः। अभिनत् शम्बरं = मेघम् ॥

मैं वृषभ अर्थात् जल बरसानेवाले की, 'महित्वं'=प्रधानता का वर्णन करूँगा। 'पूरवः' = पूर्ति के योग्य, वर्षा की कामनावाले ऐसे मनुष्य, जिस 'वृत्रहण' = मेघ-नाशक की, 'सचन्ते' = सेवा करते हैं। 'दस्यु' √दस्='नाश' से, क्योंकि इसमें रस नष्ट हो जाते हैं तथा यह [मेघ अपने अभाव से] कामों को नष्ट कर देता है। उसे, अग्नि वैश्वानर ने मारकर, 'काष्ठाः' = जल को, हिलाया, 'शम्बर' = मेघ को, फाड़ डाला ॥

अथ असौ आदित्यः—इति पूर्वे याज्ञिकाः। एषां लोकानां रोहेण, सवनानां रोहः आम्नातः। रोहात् प्रत्यवरोहः चिकीर्षितः। ताम् अनुकृतिं होता आग्निमारुते शस्त्रे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते। सोऽपि न स्तोत्रियम् आद्रियेत। आग्नेयो हि भवति। ततः आगच्छति मध्यस्थानाः देवताः रुद्रं च मरुतश्च। ततः अग्निम् इहस्थानम्। अत्रैव स्तोत्रियं शंसति॥

प्राचीन याज्ञिकों के मत से वह आदित्य ही है। कहा गया है कि लोकों के वृद्धि-क्रम से सवन (सोम चुआना) का भी वृद्धिक्रम होता है। वृद्धि के क्रम के बाद ह्रास का क्रम (प्रत्यवरोह) भी कहा जाता है। यज्ञकर्ता (होता) इस क्रम (अनुकृति) को अग्नि और मरुत् के आवाहन [के समय] में वैश्वानर-सूक्त के द्वारा सम्पन्न करता है। वह भी स्तोत्र पर अधिक बल न दे क्योंकि यह अग्नि का है। तब वह मध्यम-स्थान के देवता—रुद्र और मरुद्गण पर आता है, तब इस संसार में स्थित अग्नि पर आता है। यहीं वह स्तोत्र-पाठ करता है॥

अथापि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति। एतस्य हि द्वादशविधं कर्म। अथापि ब्राह्मणं भवति–'असौ वा आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इति। अथापि निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति—'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' इति। एष हि द्यावापृथिव्यौ आभासयति। अथापि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति—'दिवि पृष्टो अरोचत' इति एष हि दिवि पृष्टो अरोचत इति। अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति।

पुनः, वैश्वानर को [हवि] बारह पात्र खण्डों में मिलता है क्योंकि उसके बारह तरह के काम हैं। इसके अलावे ब्राह्मण-वाक्य भी है—'वह आदित्य ही अग्नि वैश्वानर है, (मै० सं० २।१।२) पुनः, निवित् (एक तरह की स्तुति) भी सूर्य-रूपी वैश्वानर के लिए है—'जो स्वर्ग को और पृथ्वी को प्रकाशित करता है' (निवित् ८)। द्यावापृथिवी को यही चमकाता है। छान्दोमिक-सूक्त (वा० सं० ३३।९२) भी सूर्यरूपी वैश्वानर के लिए है। 'वह स्वर्ग में तभी शोभित हुआ' (आश्व० श्रौ० ८।१०)। वह सचमुच ही तब स्वर्ग में शोभित हुआ। पेय-हवि का सूक्त (हविष्पान्तीय-सूक्त, ऋ० १०।८८।४) भी सूर्यरूपी वैश्वानर का ही है॥

अयमेव अग्निः वैश्वानरः—इति शाकपूणिः। विश्वानरौ एते उत्तरे ज्योतिषी। वैश्वानरः अयम्, युत् ताभ्यां जायते। कथं नु अयम् एताभ्यां जायते इति ? यत्र वैद्युतः शरणम् अभिहन्ति; यावदनुपात्तो

भवति, मध्यमधर्मा एव तावत् भवति। उदकेन्धनः, शरीरोपशमनः। उपादीयमानः एव अयं सम्पद्यते-उदकोपशमनः, शरीरदीप्तिः ।।

शाकपूणि के मत से यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है, ये ऊपर के ज्योतिः-पुञ्ज भी वैश्वानर ही हैं। यह (अग्नि) वैश्वानर है क्योंकि उन दोनों से उत्पन्न होता है। यह उनसे कैसे उत्पन्न होता है ? जब विद्युत् रूपी अग्नि किसी निवास-स्थान पर (शरण) गिरता है तो जब तक किसी पर ठहरता नहीं, तब तक मध्यम-स्थान का (बिजली) गुण लिये रहता है—जल में जलता है, किसी ठोस वस्तु में बुझ जाता है। किसी वस्तु पर ठहरने के बाद ही यह (अग्नि) उत्पन्न होता है—तब यह जल में बुझने वाला और वस्तु में जलनेवाला बन जाता है ।।

अथ आदित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयम् असंस्पर्शयन् धारयति, तत् प्रदीप्यते। सः अयमेव सम्पद्यते। अथापि आह—'वैश्वानरो यतते सूर्येण' इति। न च पुनः आत्मना आत्मा संयतते। अन्येन एव अन्यः संयतते। इतः इमम् आदधाति। अमुतः अमुष्य रश्मयः प्रादुर्भवन्ति। इतः अस्य अर्चिषः। तयोः भासोः संसङ्गं दृष्ट्वा एवमवक्ष्यत् ।।

आदित्य से भी [अग्नि निकलता है]। आदित्य जब उत्तर दिशा में पहले-पहल आता है तब कोई आदमी काँसा या मणि (=कई धरातलवाली) को साफ करके उसकी किरणों को सामने सूखे गोबरवाले स्थान में, उससे बिना स्पर्श कराये धारण करता है, तब वह जलता है। तभी वह (अग्नि) उत्पन्न होता है। कहा भी है —'वैश्वानर सूर्य के साथ चलता है' (ऋ० १।९८।१)। कोई अपने आपके साथ नहीं जा सकता है, दूसरे के साथ ही कोई जा सकता है। इस लोक में अग्नि को प्रज्वलित करता है, इसकी किरणें उस लोक (स्वर्ग) से प्रकट होती हैं। यहाँ से इसकी ज्वालायें [प्रकट होती हैं]—दोनों प्रकाशों का संसर्ग देखकर ही [ऋषि ने] ऐसा कहा है।

अथ यानि एतानि औत्तमिकानि सूक्तानि, भागानि वा सावित्राणि वा, पौष्णानि वा, वैष्णवानि वा, तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादाः अभविष्यन्। आदित्यकर्मणा च एनम् अस्तोष्यन्—इति उदेषि, इति अस्तमेषि, इति विपर्येषि इति ।।

[यदि वैश्वानर स्वर्ग के देवता या सूर्य होते] तो उत्तम स्थान वाले देवताओं—सविता, पूषा या विष्णु—के जितने सूक्त या अंश होते उनमें वैश्वानर की बातें अवश्य रहतीं। सूर्य के अर्थ के साथ इनकी स्तुति भी होती है जैसे—उगते हो, अस्त हो तेहो, घूमते हो ।।

आग्नेयेषु एव हि सूक्तेषु वैश्वानरीयाः प्रवादाः भवन्ति। अग्नि-कर्मणा च एनं स्तौति। इति दहसि, इति वहसि, इति पचसि इति। यथो एतत्–'वर्षकर्मणा हि एनं स्तौति' इति, अस्मिन् अपि एतत् उपपद्यते।

'समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥

इति सा निगदव्याख्याता॥ २३॥

केवल अग्नि के सूक्तों में ही वैश्वानर की बातें हैं और अग्नि के अर्थ के साथ इनकी स्तुति होती है—जलाते हो, ले जाते हो, पकाते हो। यह जो कहा कि 'वर्षा के अर्थ से इनकी स्तुति होती है,' वह बात तो इस (अग्नि) में भी प्राप्त है—'यह जल (एतत् उदकम्) दिन के समान है (अहभिः समानम्), कभी उठता है (उच्चा एति) कभी गिरता (अव च) है, मेघ पृथ्वी में प्राण लाते हैं; अग्नि स्वर्ग में' (ऋ० १।१६४।५१) यह तो पाठ से ही स्पष्ट है॥ २३॥

विशेष—इस लम्बे व्याख्यान का निष्कर्ष यही है कि वैश्वानर केवल इसी पार्थिव अग्नि को कहते हैं, न बिजली को और न सूर्य को। अगले पाद में इसका निराकरण होगा॥

सप्तम पाद

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आ ववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद्धृतेन पृथिवी व्युद्यते॥

(कृष्णं) काले (नियानं) रास्ते से (सुपर्णाः) सुन्दर पंखोंवाले (हरयः) घोड़े (अपः) जल को (वसानाः) ढोते हुए (दिवम्) स्वर्ग की ओर (उत्पतन्ति) उड़ते हैं। (ते) वे (ऋतस्य) जल के (सदनात्) स्थान से (आववृत्रन्) मुड़ गये (आदित्) तभी (घृतेन) जल से (पृथिवी) पृथ्वी (व्युद्यते) भींग जाती है। (ऋ० १।१६४।४७)॥

कृष्णं निरयणं रात्रिः आदित्यस्य। हरयः सुपर्णाः = हरणाः आदित्यरश्मयः। ते यदा अमुतः अर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानात् आदित्यात्, अथ घृतेन = उदकेन पृथिवी व्युद्यते। घृतमिति उदकनाम। जिघर्त्तेः सिञ्चतिकर्मणः अथापि ब्राह्मणं भवति–'अग्निः वा इतो वृष्टिं समीरयति, धामच्छद् दिवि भूत्वा वर्षति, मरुतः सृष्टां वृष्टिं नयन्ति, यदा असौ आदित्यः अग्निं रश्मिभिः पर्यावर्तते, अथ वर्षति' इति॥

कृष्ण निरयण = आदित्य की रात। सुन्दर पंखों वाले घोड़े = सूर्य की किरणों का हरण करनेवाले। वे जब उदक के निवास-स्थान से = आदित्य के पास से

उलटा लौटते हैं, तब घृत=जल से पृथ्वी भींग जाती है। घृत=जल √घृ = 'सींचना' से। ब्राह्मण में भी कहा है—अग्नि यहाँ से वृष्टि भेजता है, वह (वृष्टि) आकाश में स्थान को ढँककर बरसती है (मेघ), मरुद्गण छोड़ी हुई वृष्टि को ले जाते हैं जब वह आदित्य अग्नि को अपनी किरणों से घेर लेता है तब वर्षा होती है' (काठक सं० ११।१०)॥

यथो एतत्–'रोहात् प्रत्यवरोहः चिकीर्षितः' इति, आम्नायवचनात् एतत् भवति। यथो एतत्–'वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति' इति, अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति, अस्ति हि सौर्यः एककपालः पञ्चकपालश्च। यथो एतत्–'ब्राह्मणं भवति' इति, बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति–पृथिवी वैश्वानरः, संवत्सरो वैश्वानरः, ब्राह्मणो वैश्वानरः इति।

(१) यहाँ जो कहा कि 'वृद्धिक्रम के बाद ह्रासक्रम कहा जाता है' वह तो वेद के वाक्यों से होता है। (२) यह जो कहा 'वैश्वानर का [हवि] बारह पात्र-खण्डों (कपालों) में होता है', तो पात्रों का सम्बन्ध व्याख्या से नहीं क्योंकि सूर्य के एक पात्र-खण्ड भी हैं, पाँच भी। (३) यह जो कहा कि 'ब्राह्मण-वाक्य हैं', तो ब्राह्मण बहुत-से विभागों का वर्णन करते हैं जैसे—पृथ्वी वैश्वानर है, संवत्सर वैश्वानर है, ब्राह्मण (जाति) वैश्वानर है॥

यथो एतत्—'निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति' इति, अस्यैव सा भवति–विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीदेत्' इति। एष हि विड्भ्यो मानुषीभ्यो दीप्यते। यथो एतत्—'छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति' इति, अस्यैव तत् भवति–'जमदग्निभिराहुतः, इति। जमदग्नयः प्रजमिताग्नयः वा, प्रज्वलिताग्नयः वा। तैः अभिहुतः भवति। यथो एतत्—'हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति' इति अस्य एव तत् भवति ॥ २४ ॥

(४) यह जो कहा कि 'प्रशंसा-वाक्य (निवित) सूर्यरूपी वैश्वानर के हैं', वे वाक्य तो इसी (अग्नि) के हैं जैसे—'जो मनुष्य-जाति के लिए चमका' (निवित ८)। यह (अग्नि) ही मनुष्य-जाति के लिए चमकता है। (५) यह जो कहा कि 'छान्दोमिक-सूक्त (वाज० सं० ३३।९२) सूर्यरूपी वैश्वानर का है,' वह तो इसी (अग्नि) का है जैसे—'चमकते हुए अग्नि से हवन किया गया' (आश्व० श्रौत० ८।९) जमदग्नि = प्रजमित (अधिक मात्रा में उत्पन्न) अग्नि या प्रज्वलित अग्नि। उन्हीं के द्वारा इसे आहुति दी जाती है। (६) यह जो

कहा कि 'हविष्पान्ती-सूक्त (ऋ० १०।८८।४) सूर्यरूपी वैश्वानर का है', वह तो इसी (अग्नि) का है—।। २४ ।।

हविष्पान्तमजरं स्वर्विदि दिविस्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रथन्त ।।

(अजरं) अविनाशी, (जुष्टं) सुन्दर या सेव्य (पान्तं) तथा पीने योग्य (हविः) हवि, (स्वर्विदि) सूर्य को जानने वाले तथा (दिविस्पृशि) स्वर्ग को छूने वाले (अग्नौ) अग्नि में (आहुतम्) पड़ गया है; (देवाः) देवताओं ने (तस्य) उसके (भर्मणे) पालन के लिये, (भुवनाय) अस्तित्व के लिए तथा (धर्मणे) धारण करने के लिए, उसे (स्वधया) अन्न से (पप्रथन्त) फैलाया । (ऋ० १०।८८।१) ॥

हविः यत् पानीयम्, अजरं सूर्यविदि दिविस्पृशि अभिहुतं जुष्टम् अग्नौ । तस्य भरणाय च, भवनाय च, धारणाय च, एतेभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः इमम् अग्निम् अन्नेन अपप्रथन्त इति । अथापि आह ॥ २५ ॥

जो हवि पेय है, अनश्वर है, मोदकारी (जुष्ट) है, सूर्य के ज्ञाता एवं स्वर्ग को छूने वाले अग्नि में दिया जाता है; उसके पालन, अस्तित्व (√भू), तथा धारण के लिए—इन सभी कर्मों के लिए इस अग्नि को [देवताओं के] अन्न से फैलाया । और भी कहा है ॥ २५ ॥

अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम् ।
आ दूतो अग्निमभरद्विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ।।

(अपाम्) जल की (उपस्थे) गोद में, (महिषाः) बड़े लोगों ने (अगृभ्णत) उसे पकड़ा, (विशः) जातियाँ (ऋग्मियम्) सम्मानयुक्त (राजानम्) राजा के सामने (उप तस्थुः) बैठी थीं । (मातरिश्वा) मातरिश्वा नाम का (दूतः) दूत (वैश्वानरं) वैश्वानर नाम के (अग्निम्) अग्नि को (परावतः) बहुत दूर से (विवस्वतः) सूर्य के पास से (आ अभरत) ले आया है । (ऋ० ६।८।४) ॥

अपाम् उपस्थे = उपस्थाने । महति अन्तरिक्षलोके आसीनाः महान्तः इति वा । अगृह्णत माध्यमिकाः देवगणाः । विशः इव राजानम् उपतस्थुः । ऋग्मियम् = ऋग्मन्तम् इति वा, अर्चनीयम् इति वा पूजनीयमिति वा । आहरत् यं दूतः देवानां विवस्वतः = आदित्यात् । विवस्वान् = विवासनवान् । प्रेरितवतः, परागताद्वा । अस्य अग्नेः वैश्वानरस्य मातरिश्वानम् आहर्त्तारम् आह । मातरिश्वा = वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनीति इति वा । अथ एनम् एताभ्यां सर्वाणि स्थानानि अभ्यापादं स्तौति ॥ २६ ॥

जल के उपस्थ = गोद में, महान् अन्तरिक्ष लोक में आसीन, अथवा बड़े। मध्यस्थान वाले देवताओं ने पकड़ा। वे राजा के आगे प्रजा के समान ठहर गये। ऋग्मिय = ऋचाओं से युक्त या पूजनीय। जिसे देवताओं का दूत, चमकने वाले आदित्य के पास से लाया है। विवस्वान् = (अन्धकार) भगाने वाला। प्रेरित करने वाले से या बहुत दूर से। मातरिश्वा को इस वैश्वानर अग्नि का आहर्ता (लाने वाला) कहा गया है। मातरिश्वा = वायु, क्योंकि 'मातरि' = अन्तरिक्ष में साँस लेता है या अन्तरिक्ष में शीघ्र (आशु) चलता है (√अन्)। अब इन दोनों ऋचाओं के द्वारा, सभी स्थानों को व्याप्त करने के लिए, इसकी स्तुति करता है ॥ २६ ॥

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ।
मायामू तु यज्ञियानामेतामपो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ॥

(नक्तम्) रात में (अग्निः) अग्नि (भुवः मूर्धा) पृथ्वी का सिर (भवति) बना रहता है, (प्रातः) प्रातःकाल में (उद्यन्) उगते हुए (सूर्यः) सूर्य के रूप में (जायते) निकलता है, (यज्ञियानाम्) पवित्र लोगों की (एतां) इस (मायाम्) माया को (उ तु) तो [देखो !] (यत्) जिसे (प्रजानन्) जान-कर (तूर्णिः) शीघ्र ही (अपः) काम को (चरति) कर डालता है। (ऋ० १०।८८।६) ॥

मूर्धा = मूर्तम् अस्मिन् धीयते। मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्तम् अग्निः, ततः सूर्यः जायते प्रातः उद्यन् स एव। प्रज्ञां तु एतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां, यज्ञसम्पादिनाम्। अपः यत् कर्म चरति प्रजानन्। सर्वाणि स्थानानि अनुसंचरते त्वरमाणः। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ २७ ॥

मूर्धा = जिसमें शरीर धारण किया जाय (√मूर्च्छ + √धा)। रात में जो अग्नि सभी जीवों का सिर बनता है, तब वही सुबह में उदीयमान सूर्य के रूप में निकलता है। इसे यज्ञिय अर्थात् यज्ञ सम्पन्न करने वाले देवताओं की प्रज्ञा (बुद्धि) मानते हैं। अपः=जिस कर्म को, वह जानकर करता है; शीघ्रता से वह सभी स्थानों में जाता है। उसके बाद की (ऋचा) स्पष्टतर उदाहरण के लिये है ॥ २७ ॥

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम् ।
तमू अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥

(स्तोमेन) स्तुति के द्वारा (दिवि) स्वर्ग में (देवासः) देवताओं ने (शक्तिभिः) अपनी शक्ति से (रोदसि प्राम्) द्यावापृथिवी को पूर्ण करने वाले

(अग्निम्) अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न किया। (तम् उ) उसे (भुवे) रहने के लिये (त्रेधा) तीन तरह का (अकृण्वन्) बनाया, (सः) वह (विश्वरूपाः) नाना प्रकार की (ओषधीः) वनस्पतियों को (पचति) पकाता है। (ऋ० १०।८८।१०) ॥

स्तोमेन हि यं दिवि देवाः अग्निम् अजनयन्। शक्तिभिः = कर्मभिः। द्यावापृथिव्योः आपूरणम्। तम् अकुर्वन् त्रेधाभावाय—पृथिव्याम्, अन्तरिक्षे, दिवि—इति शाकपूणिः। 'यदस्य दिवि तृतीयं तदसौ आदित्यः'—इति ब्राह्मणम्। तत् अग्नीकृत्य स्तौति। अथ एनम् एतया आदित्यीकृत्य स्तौति ॥ २८ ॥

जिस अग्नि को, स्तुति से, स्वर्ग में, देवताओं ने उत्पन्न किया। शक्ति = कर्मों के द्वारा—द्यावापृथिवी को पूर्ण करनेवाले उस (अग्नि) को तीन प्रकार से रहने के लिए बनाया। शाकपूणि का कहना है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग में। ब्राह्मण में कहा है—'स्वर्ग में जो इसका तीसरा रूप है वही आदित्य है'। उसी की स्तुति अग्नि के रूप में करता है। अब इस (ऋचा) के द्वारा उसकी स्तुति आदित्य के रूप में करता है ॥ २८ ॥

यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्।
यदा चरिष्णू मिथुनावभूतामादित्प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा ॥

(यदा इत्) जब ही (दिवि) स्वर्ग में (यज्ञियासः) पवित्र (देवाः) देवताओं ने (आदितेयम्) अदिति के पुत्र (एनम्) इस (सूर्यम्) सूर्य को (अदधुः) धारण किया, (यदा) और जब (चरिष्णू) गमनशील दोनों (मिथुनौ) जोड़े (अभूताम्) हुए हैं, तो (आदित्) तभी (विश्वा) समूचे (भुवनानि) संसार को [देवताओं ने] (प्रापश्यन्) देख लिया (ऋ० १०।८८।११) ॥

यदा एनम् अदधुः यज्ञियाः सर्वे दिवि देवाः सूर्यम्, आदितेयम् = अदितेः पुत्रम्। यदा चरिष्णू मिथुनौ प्रादुरभूताम्। सर्वदा सहचारिणौ। उषाश्च आदित्यः च। मिथुनौ कस्मात्? मिनोतिः श्रयतिकर्मा। 'थु' इति नामकरणः। थकारो वा। नयतिः परः। वनिः वा। समाश्रितौ अन्योन्यं नयतः। वनुतो वा। मनुष्यमिथुनौ अपि एतस्मादेव। मेथन्तौ अन्योन्यं वनुतः इति वा। अथ एनम् एतया अग्नीकृत्य स्तौति ॥ २९ ॥

जब स्वर्ग में इस सूर्य को सभी पवित्र देवताओं ने धारण किया, आदितेय = अदिति के पुत्र को। जब चलनेवाले जोड़े उत्पन्न हुए = सदा साथ-साथ चलनेवाले उषा और आदित्य। 'मिथुन' कैसे बना? √मि = आश्रय लेना + 'थु' या 'थ' संज्ञा

बनानेवाला प्रत्यय है। अन्त में √नी या √वन् (सम्प्रसारण से 'उन्') आश्रित होकर एक दूसरे को ले जाते हैं (√नी) या आनन्द लेते हैं (√वन्)। मनुष्य का मिथुन भी इसी से बना है। अथवा, संयुक्त होकर एक दूसरे का आनन्द लेते हैं। इस (ऋचा) से इसकी स्तुति अग्नि के रूप में करता है ॥ २९ ॥

यत्रा वदेते अवरः परश्च यज्ञन्योः कतरो नौ वि वेद।
आ शेकुरित्सधमादं सखायो नक्षन्त यज्ञं क इदं वि वोचत् ॥

(यत्र) जहाँ (अवरः) छोटे (परः च) और बड़े (वदेते) विवाद करते हैं कि (यज्ञन्योः) यज्ञ करनेवाले (नौ) हम दोनों के बीच (कतरः) कौन (वि वेद) अधिक जानता है। (सखायः) वे मित्रगण (इत्) ही (आशेकुः) इसमें समर्थ हैं, जो (सधमादं) साथ-साथ प्रसन्नता देनेवाले (यज्ञं) यज्ञ को (नक्षन्त) सम्पन्न करते हैं, और नहीं तो (कः) कौन (इदं) इसे (वि वोचत्) बतला सकता है ? (ऋ० १०।८८।१७) ॥

यत्र विवदेते दैव्यौ होतारौ—अयं च अग्निः, असौ च मध्यमः। कतरः नौ यज्ञे भूयः वेद इति। आशक्नुवन्ति तत् सहमदनं समान-ख्यानाः ऋत्विजः। तेषां यज्ञं समश्नुवानानां कः न इदं विवक्ष्यति इति। तस्य उत्तरा भूयसे निर्वचनाय ॥ ३० ॥

ये अग्नि और वे मध्यस्थान के [अग्नि]—दोनों दैवी होता जहाँ विवाद करते हैं कि हम दोनों के बीच यज्ञ के विषय में कौन अधिक जानता है। वे समान आख्यान (नाम) वाले ऋत्विक् ही निर्णय कर सकते हैं कि समान मोद देनेवाले, उसके यज्ञ के उपभोक्ता हम दोनों में यह निर्णय कौन करेगा। उसके बाद की [ऋचा] स्पष्टतर उदाहरण के लिए है ॥ ३० ॥

यावन्मात्रमुषसो न प्रतीकं सुपर्ण्यो वसते मातरिश्वः।
तावद्दधात्युप यज्ञमायन् ब्राह्मणो होतुरवरो निषीदन् ॥

(मातरिश्वः) हे मातरिश्वन् ! (यावन्मात्रम्) जब तक (सुपर्ण्यः) सुन्दर पंखोंवाला पक्षी (उषसो न) मानों उषा के (प्रतीकं) प्रकाश को (वसते) पहने हुए है, (तावत्) तबतक (होतुः) होता के (अवरः) नीचे (निषीदन्) बैठा हुआ (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (उपयज्ञम्) यज्ञ के समीप (आयन्) आकर, उसे (दधाति) धारण करता है। (ऋ० १०।८८।१९)।

यावन्मात्रम् उषसः प्रत्यक्तं भवति, प्रतिदर्शनम् इति वा। अस्ति उपमानस्य सम्प्रत्यर्थे प्रयोगः। 'इहेव निधेहि' इति यथा। सुपर्ण्यः = सुपतनाः, एता रात्रयः वसते, मातरिश्वन्। ज्योतिः वर्णस्य। तावत्

उपदधाति यज्ञम् आगच्छन् ब्राह्मणः होता, अस्य अग्नेः होतुः अवरः निषीदन् ।।

जबतक ऊषा का प्रकाश (√अञ्ज्) या प्रतिदर्शन होता है। उपमान वाचक ('न') का प्रयोग 'सम्प्रति' (इस समय) के अर्थ में हुआ है जैसे—इह इव निधेहि (ठीक यहाँ रखो)। सुपर्णी=सुन्दर रीति से गिरनेवाली ये रातें, हे मातरिश्वन् ! वर्ण की ज्योति पहनती है। तबतक यज्ञ में आया हुआ, इस अग्निरूपी होता के नीचे बैठा हुआ ब्राह्मणरूपी होता उसे धारण करता है ।।

होतृजपः तु अनग्निवैश्वानरीयः भवति। 'देव सवितः ! एतं त्वा वृणते अग्निं होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेण' इति। इममेव अग्निं सवितारम् आह—सर्वस्व प्रसवितारम्। मध्यमं वा उत्तमं वा पितरम्। यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविः निरूप्यते, अयमेव सः अग्निः वैश्वानरः। निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते भजेते ।। ३१ ।।

लेकिन होता का पाठ वैश्वानर के लिए है जो अग्नि नहीं—'हे देव सवितः ! वह तुम्हें अर्थात् अग्नि को, यज्ञ के लिए, पिता वैश्वानर के साथ चुनता है' (आश्व० श्रौ० १।३)। इसी अग्नि को सविता कहा गया है—सबों को प्रसन्न करने वाले, मध्यम या उत्तम स्थान वाले पिता को। जो सूक्त पाता है और जिसे हवि मिलता हैं, वह यही (पार्थिव) अग्नि वैश्वानर है। इस नाम से ऊपर के ज्योतिःपुञ्ज कभी-कभी ही [सूक्त और हवि] पाते हैं ।।

विशेष—विरोधियों के तर्कों का निराकरण करने के बाद यास्क इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'वैश्वानर' तीनों अग्नि को कहते हैं—पार्थिव अग्नि, बिजली तथा सूर्य। किन्तु सूक्त और हवि पाने वाला अग्नि ही वैश्वानर है ।। ३१ ।

इति निरुक्ते सप्तमोऽध्यायः ।।

———

परिशिष्ट-१

निरुक्त में उद्धृत पूर्वाचार्य

आग्रायण १।९; ६।१३; १०।८

औदुम्बरायण १।१

औपमन्यव १।१; २।२,६,११; ३।८,११,१८,१९; ५।७; ६।३०, ३०; १०।८

और्णवाभ २।२६; ६।१३; ७।१५; १२।१,१९

कात्थक्य ८।५,६,१०,१७; ९।४१,४२

कौत्स १।१५

क्रौष्टुकि ८।२

गार्ग्य १।३,१२; ३।१३

गालव ४।३

चर्मशिरा ३।१५

तैटीकि ४।३; ५।२७

परुच्छेप १०।४२

पारस्कर १४।३७

भारद्वाज ६।३०

मूतांश काश्यप १२।४०

वार्ष्यायणि १।२

शतबलाक्ष मौद्गल्य ११।६

शाकटायन १।३,१२,१३

शाकपूणि २।८; ३।११,१३,१९; ४।३,१५; ५।३,१३,२०; ७।१४,२३,२८; ८।२,५,६,१०,१४,१७,१८; १२।१९,४०

शाकपूणि के पुत्र १३।११

शाकल्य ६।२८

स्थौलाष्ठीवि ७।१४; १०।१



परिशिष्ट—२

निरुक्त में चर्चित पूर्वसम्प्रदाय

———

परिशिष्ट–३

प्रमाण-ग्रन्थावली

संस्कृत—

१. वैदिक संहिताः (पूना, बम्बई) ।
२. निरुक्तम् (दुर्गवृत्तिसमेतम्—बम्बई खेमराजप्रकाशितम्) ।
३. ,, ,, ,, भदकमकरसम्पादितम् ।
४. निरुक्तालोचनम्—सत्यव्रतसामश्रमीप्रणीतम् ।
५. पाणिनीया शिक्षा ।
६. निरुक्तस्य स्कन्दमहेश्वरप्रणीते टीके (डा० लक्ष्मणसरूपप्रकाशिते)
७. महाभाष्यम् (पूना), वाराणसी (चौखम्वा) ।
८. चतुर्वेदभाष्यभूमिकासंग्रहः (बलदेव उपाध्यायः) । चौखम्बा
९. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (निर्णयसागरीयम्) ।
१०. काशिका (चौखम्बाप्रकाशिता) ।
११. सिद्धान्तकौमुदी (,, ,,) ।
१२. मीमांसासूत्रम् (शाबरभाष्ययुतम्—आनन्दाश्रमीयम्)

हिन्दी—

१. वैदिक-साहित्य और संस्कृति—पं० बलदेव उपाध्याय ।
२. वैदिक-साहित्य—पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ।
३. हिन्दी-निरुक्त—पं० सीताराम शास्त्री ।
४. संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन—डा० भोलाशंकर व्यास ।
५. भाषाविज्ञान—भोलानाथ तिवारी ।
६. व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक ।

अंग्रेजी—

1. L. Sarup–Introduction to the Nirukta. (1920).
2. ,, —The Nirukta, Eng. Trans. (1921).
3. ,, —The Nighantu and the Nirukta.
4. Skold —The Nirukta, Lund. 1926.
5. Siddhesvar Varma—Etymologies of Ysaka.
6. ,, ,, Phonetic Observations of Ancient Hindus.

7. Rajwade—Yaska's Nirukt, Poona, (1940)
8. Ganganatha Jha Commemoration Volume.
9. Encyclopaedia Britannica, Vol. 8.
10. Collier's Encyclopaedia, Vol. 7.
11. Taraporewala—Elements of the Science of Language.
12. P. D. Gune—Introduction to Comparative Philology, Poona, 1950.
13. Bata Krishna Ghosh—Linguistic Introduction to Sanskrit.
14. Skeat—Principles of English Etymology.
15. Bloomfield—Vedic Concordance.
16. " —Language, 1933.
17. Louis Gray—Foundations of Language, 1937.
18. P. C. Chakravarty—Linguistic Speculations of the Hindus.
19. " " —Philosophy of Sanskrit Grammar.
20. Otto Jesperson—Origin and Development of Language.
21. " " —Philosophy of Grammar.
22. S. K. Belvalkar—Systems of Sanskrit Grammar.
23. R. G. Bhandarkar—Wilson Philological Lectures.
24. S. K. Chatterjee—Indo-Aryan aud Hindi.
25. K. C. Chatterjee—Technical Terms of Sanskrit Grammar.
26. Max-Muller—History of Ancient Sanskrit Literatute.
27. Macdonell—History of Sanskrit Literature.
28. " —Vedic Mythology.
29. M. Winternitz—History of Indian Literature, Vol. I (Eng. Trans.)
30. Bishnupada Bhattacharya—Yaska's Nirukta, 1958.
31. Monier Williams—A Sanskrit Dictionary.
32. Macdonell & Keith—Vedic Index.
33. R. N. Dandekar—Vedic Bibliography.

